बी.ए. द्वितीय वर्ष

अर्थशास्त्र, द्वितीय प्रश्नपत्र

सार्वजनिक वित्त
एवं
अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय – भोपाल

MADHYA PRADESH BHOJ (OPEN) UNIVERSITY – BHOPAL

Reviewer Committee

1. Dr (Prof) Manish Sharma
   Professor
   IEHE, Bhopal

2. Dr Kalpana Malik
   Associate Professor
   IEHE, Bhopal

3. Dr Bindu Mahawar
   Assistant Professor
   Navin College, Bhopal

Advisory Committee

1. Dr Jayant Sonwalkar
   Hon'ble Vice Chancellor
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

2. Dr H.S.Tripathi
   Registrar
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

3. Dr L.P. Jharia
   Director Student Support
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

4. Dr (Prof) Manish Sharma
   Professor
   IEHE, Bhopal

5. Dr Kalpana Malik
   Associate Professor
   IEHE, Bhopal

6. Dr Bindu Mahawar
   Assistant Professor
   Navin College, Bhopal

COURSE WRITERS

Dr S.L. Lodha, Former Associate Professor, Department of Economics, Rajasthan University, Jaipur and M.D.S. University Ajmer (Rajasthan)
Unit (1.2)
Vijay Sharma, Retired Senior Manager, PNB, Delhi
Units (1.3, 2.2)
Dr. H.L. Bhatia, Former Reader, Economics Department, Shri Ram College of Commerce, Delhi University
Units (1.4-1.6, 1.7, 1.8, 2.3, 5.5)
Dr. Meenu Agrawal, Principal, Ginni Devi Modi Girls (PG) College, Modinagar, Ghaziabad (UP)
Units (1.0-1.1, 1.9-1.13, 2.0-2.1, 2.4, 2.7-2.12, 3.0-3.1, 3.7-3.11, 4.0-4.1, 4.7-4.11, 5.0-5.2, 5.6-5.10)
Dr Suman Lata, Lecturer, Department of Economics, Ginni Devi Modi Girls (PG) College, Modinager, Ghaziabad
Units (2.5-2.6, 3.2-3.6, 4.2-4.5, 5.3-5.4)
Dr Rupesh Tyagi, Assistant Professor (Contractual), Deptt. of Economics, CCS University, Meerut
Unit (4.6)

Copyright © Reserved, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Registrar, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal.

Information contained in this book has been published by VIKAS® Publishing House Pvt. Ltd. and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal, Publisher and its Authors shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

Published by Registrar, MP Bhoj (Open) University, Bhopal in 2020

VIKAS®

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.

VIKAS® PUBLISHING HOUSE PVT. LTD.
E-28, Sector-8, Noida - 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 • Fax: 0120-4078999
Regd. Office: A-27, 2nd Floor, Mohan Co-operative Industrial Estate, New Delhi 1100 44
• Website: www.vikaspublishing.com • Email: helpline@vikaspublishing.com

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

सार्वजनिक वित्त एवं अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

Syllabi	Mapping in Book
इकाई–1 सार्वजनिक वित्त– अर्थ, प्रकृति और क्षेत्र, सार्वजनिक, निजी और उत्कृष्ट वस्तुएं, अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धांत, आगम के स्रोत– कर आगम एवं गैर कर आगम, करों के प्रकार– प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, वस्तु एवं सेवा कर (जी.एस.टी.), भारतवर्ष में करदान क्षमता।	**इकाई 1** : सार्वजनिक वित्त **(पृष्ठ 3–60)**
इकाई–2 बजट– परिभाषा और निर्माण, राजकोषीय घाटा, राजकोषीय नीति, हीनार्थ प्रबंधन, केन्द्र– राज्य वित्तीय संबंध, नवीनतम वित्त आयोग की अनुशंसाएं।	**इकाई 2** : बजट **(पृष्ठ 61–112)**
इकाई–3 अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का अर्थ और महत्व, अंर्त और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, आर्थिक विकास में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का महत्व, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धांत, निरपेक्ष और तुलनात्मक लाभ, साधन प्रचुरता : हेक्शचर ओहलिन।	**इकाई 3** : अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र एवं अंतर्राष्ट्रीय व्यापार **(पृष्ठ 113–162)**
इकाई–4 व्यापार की शर्तें, संकल्पना और प्रकार, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रशुल्क और गैर प्रशुल्क बाधाएं, विश्व व्यापार संगठन (WTO) उद्देश्य और कार्य, भुगतान शेष– संकल्पना और प्रकार, व्यापार शेष की संरचना और घटक तथा भुगतान संतुलन के साथ संबंध, भुगतान असंतुलन में सुधार के तरीके, अंतर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाह।	**इकाई 4** : व्यापार की शर्तें, विश्व व्यापार संगठन और अंतर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाह **(पृष्ठ 163–248)**
इकाई–5 भारतीय विदेशी व्यापार की प्रवृत्ति एवं दिशा, विनिमय दर : विनिमय दर के सिद्धांत – टकसाली दर समता सिद्धांत, क्रय शक्ति समता सिद्धांत, मुद्रा का अवमूल्यन एवं अधिमूल्यन एवं विदेशी व्यापार पर प्रभाव।	**इकाई 5** : भारतीय विदेशी व्यापार की प्रवृत्ति एवं दिशा और विनिमय दर **(पृष्ठ 249–304)**

विषय–सूची

परिचय **1–2**

इकाई 1 सार्वजनिक वित्त **3–60**

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 सार्वजनिक वित्त : अर्थ, प्रकृति और क्षेत्र
1.2.1 सार्वजनिक वित्त का अर्थ एवं परिभाषा
1.2.2 सार्वजनिक वित्त की प्रकृति
1.2.3 सार्वजनिक वित्त के क्षेत्र
1.2.4 सार्वजनिक वित्त का महत्व
1.3 सार्वजनिक, निजी और उत्कृष्ट वस्तुएं
1.4 अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धांत
1.5 आगम के स्रोत : कर आगम एवं गैर कर आगम
1.5.1 आगम/राजस्व का अर्थ
1.5.2 कर आगम और गैर कर आगम
1.6 करों के प्रकार : प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष
1.7 वस्तु एवं सेवा कर (जीएसटी)
1.7.1 जीएसटी की विशेषताएं
1.7.2 जीएसटी के लाभ
1.7.3 भारतीय अर्थव्यवस्था पर जीएसटी का प्रभाव
1.8 भारत में करदान क्षमता
1.9 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.10 सारांश
1.11 मुख्य शब्दावली
1.12 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.13 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 2 बजट **61–112**

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 बजट की परिभाषा और निर्माण
2.2.1 बजट का अर्थ एवं परिभाषाएं
2.2.2 बजट की विशेषताएं
2.2.3 बजट के कार्य
2.2.4 बजट निर्माण की प्रक्रिया
2.3 राजकोषीय घाटा
2.4 राजकोषीय नीति
2.5 हीनार्थ प्रबंधन
2.6 केंद्र–राज्य वित्तीय संबंध
2.7 नवीनतम वित्त आयोग की अनुशंसाएं
2.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

2.9 सारांश
2.10 मुख्य शब्दावली
2.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.12 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 3 अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र एवं अंतर्राष्ट्रीय व्यापार 113–162

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का अर्थ और महत्व
3.2.1 अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की विषय सामग्री
3.2.2 अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याएं
3.2.3 अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का महत्व
3.3 अंतर क्षेत्रीय और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार
3.4 आर्थिक विकास में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का महत्व
3.5 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धांत : निरपेक्ष और तुलनात्मक लाभ
3.6 साधन प्रचुरता : हैक्शर ओहलिन
3.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.8 सारांश
3.9 मुख्य शब्दावली
3.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.11 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 4 व्यापार की शर्तें, विश्व व्यापार संगठन और अंतर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाह 163–248

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 व्यापार की शर्तें : संकल्पना और प्रकार
4.3 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रशुल्क और गैर प्रशुल्क की बाधाएं
4.4 विश्व व्यापार संगठन (WTO) उद्देश्य और कार्य
4.5 भुगतान शेष : संकल्पना और प्रकार
4.5.1 भुगतान संतुलन की संकल्पना और प्रकार
4.5.2 व्यापार शेष/व्यापार संतुलन की संरचना और घटक
4.5.3 भुगतान शेष में असंतुलन के कारण
4.5.4 भुगतान शेष में असंतुलन को ठीक करने के उपाय
4.6 अंतर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाह
4.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.8 सारांश
4.9 मुख्य शब्दावली
4.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.11 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 5 भारतीय विदेशी व्यापार की प्रवृत्ति एवं दिशा और विनिमय दर 249–304

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य

5.2 भारतीय विदेशी व्यापार : प्रवृत्ति एवं दिशा
5.3 विनिमय दर
5.4 विनिमय दर के सिद्धांत
5.4.1 टकसाल दर समता सिद्धांत
5.4.2 क्रय शक्ति समता सिद्धांत
5.5 मुद्रा का अवमूल्यन एवं अधिमूल्यन एवं विदेशी व्यापार पर प्रभाव
5.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.7 सारांश
5.8 मुख्य शब्दावली
5.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.10 सहायक पाठ्य सामग्री

परिचय

टिप्पणी

प्रस्तुत पुस्तक 'सार्वजनिक वित्त एवं अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र' विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित बी.ए. द्वितीय वर्ष के पाठ्यक्रम के अनुरूप लिखी गई है। सार्वजनिक वित्त प्रत्येक अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसका मुख्य उद्देश्य अधिकतम सार्वजनिक लाभ प्राप्त करना है। सार्वजनिक वित्त दो शब्दों से मिलकर बना है : सार्वजनिक+वित्त सार्वजनिक शब्द का अर्थ है जनता का समूह जिसका प्रतिनिधित्व सरकार करती है और वित्त का अर्थ है मौद्रिक साधन। अतएव सार्वजनिक वित्त से अभिप्राय किसी देश की सरकार के वित्तीय साधनों अर्थात आय व व्यय से है।

सार्वजनिक वित्त में सरकार की आय तथा व्यय संबंधी समस्याओं का समाधान किया जाता है। इसी तरह अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के अंतर्गत विभिन्न देशों के बीच आर्थिक संबंधों और व्यापारिक क्रियाकलापों का अध्ययन किया जाता है। आज के वैश्वीकरण के दौर में स्वतंत्र व्यापार के दरवाजे प्रत्येक देश के लिए खुल गए हैं। बदलते समय में आयात–निर्यात नीतियों में सैद्धांतिक और व्यावहारिक स्तर पर बहुत बदलाव आया है।

प्रस्तुत पुस्तक में सार्वजनिक वित्त और अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के विभिन्न पक्षों का सांगोपांग विवेचन किया गया है। प्रत्येक इकाई के प्रारंभ में विषय का विश्लेषण करने से पहले उसके निहित उद्देश्यों को स्पष्ट कर दिया है। इकाई के बीच–बीच में 'अपनी प्रगति जांचिए' स्तंभ के माध्यम से विद्यार्थियों की योग्यता परखने के लिए प्रश्न दिए गए हैं। पाठ्य सामग्री तैयार करते समय, विषय में विद्यार्थियों की रुचि जगाने तथा रोचकता लाने का भरपूर प्रयास किया गया है। अध्ययन की सुविधा के लिए संपूर्ण पाठ्यक्रम को पांच इकाइयों में समायोजित किया गया है। इन इकाइयों का विवरण इस प्रकार है–

पहली इकाई सार्वजनिक वित्त है जिसमें सार्वजनिक वित्त का अर्थ, प्रकृति, क्षेत्र, सार्वजनिक, निजी एवं उत्कृष्ट वस्तुएं, सामाजिक लाभ का सिद्धांत, आगम के स्रोत, प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष कर तथा वस्तु एवं सेवा कर को समझाया गया है।

दूसरी इकाई बजट पर केंद्रित है। इसमें बजट का अर्थ, बजट निर्माण की प्रक्रियाएं, केंद्र–राज्य वित्तीय संबंध तथा नवीनतम वित्त आयोग की अनुशंसाओं का विश्लेषण किया गया है।

तीसरी इकाई अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र एवं अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर आधारित है जिसमें अंतर क्षेत्रीय और आंतरिक व्यापार का अर्थ, आर्थिक विकास में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का महत्व व सिद्धांतों का वर्णन किया गया है।

चौथी इकाई व्यापार की शर्तों को अंकित करती है। इसमें व्यापार की शर्तों की अवधारणा, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रशुल्क और गैर–प्रशुल्क बाधाएं, विश्व व्यापार संगठन के उद्देश्य व कार्य, भुगतान शेष व व्यापार शेष की संरचना तथा अंतर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाह का विश्लेषण किया गया है।

पांचवीं इकाई भारतीय विदेशी व्यापार एवं दिशा पर केन्द्रित है। विदेशी व्यापार की प्रवृत्ति, विनिमय दर के सिद्धांत तथा मुद्रा का अवमूल्यन एवं अधिमूल्यन की विवेचना इस इकाई में की गई है।

टिप्पणी

प्रस्तुत पुस्तक में सार्वजनिक वित्त और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को सरल भाषा में रुचिकर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। हमें पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक पाठकों की जिज्ञासा को शांत कर सार्वजनिक वित्त और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को समझने में सहायक होगा।

इकाई 1 सार्वजनिक वित्त

टिप्पणी

संरचना

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 सार्वजनिक वित्त : अर्थ, प्रकृति और क्षेत्र
  1.2.1 सार्वजनिक वित्त का अर्थ एवं परिभाषा
  1.2.2 सार्वजनिक वित्त की प्रकृति
  1.2.3 सार्वजनिक वित्त के क्षेत्र
  1.2.4 सार्वजनिक वित्त का महत्व
1.3 सार्वजनिक, निजी और उत्कृष्ट वस्तुएं
1.4 अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धांत
1.5 आगम के स्रोत : कर आगम एवं गैर कर आगम
  1.5.1 आगम/राजस्व का अर्थ
  1.5.2 कर आगम और गैर कर आगम
1.6 करों के प्रकार : प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष
1.7 वस्तु एवं सेवा कर (जीएसटी)
  1.7.1 जीएसटी की विशेषताएं
  1.7.2 जीएसटी के लाभ
  1.7.3 भारतीय अर्थव्यवस्था पर जीएसटी का प्रभाव
1.8 भारत में करदान क्षमता
1.9 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.10 सारांश
1.11 मुख्य शब्दावली
1.12 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.13 सहायक पाठ्य सामग्री

1.0 परिचय

प्रत्येक देश में सरकार को कुछ विशेष कार्य करने पड़ते है। इन कार्यों को दो वर्गों में विभाजित किया जाता हैः (क) आवश्यक कार्य तथा (ख) ऐच्छिक कार्य। विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा करना, देश के भीतर शांति और व्यवस्था स्थापित करना आदि आवश्यक कार्य है। परन्तु शिक्षा की व्यवस्था करना, अस्पतालों की स्थापना करना ऐच्छिक कार्य है। इन सभी कार्यों को करने के लिए सरकार जो धन व्यय करती है तथा इसके लिए सरकार विज्ञापन देकर बदले में संसाधनों के माध्यम से जो धन प्राप्त करती है उसे सार्वजनिक वित्त कहते हैं। सार्वजनिक वित्त को विज्ञान तथा कला दोनों ही कहा जा सकता है। जब हम सरकारी आय एवं व्यय के सिद्धांतों तथा नीतियों का अध्ययन करते हैं तब वह सार्वजनिक वित्त का वैज्ञानिक रूप होता है। किंतु जब हम इन सिद्धांतों का प्रयोग सरकार की वित्तीय समस्याओं का समाधान करने के लिए करते हैं तब यह कलात्मक रूप धारण कर लेता है।

टिप्पणी

सार्वजनिक वित्त प्रत्येक अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसका मुख्य उद्देश्य अधिकतम सार्वजनिक लाभ प्राप्त करना है। राजस्व के इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए डा. डाल्टन तथा प्रो. पीगू ने अधिकतम सार्वजनिक लाभ के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। यह सिद्धांत राजस्व के दोनों पक्षों, अर्थात सरकार की आय कर तथा सार्वजनिक व्यय को ध्यान में रखता है सामाजिक लाभ का सिद्धांत इस तथ्य पर आधारित है कि न तो प्रत्येक कर एक बुराई है और न ही प्रत्येक व्यय एक अच्छाई है। कर तथा सार्वजनिक व्यय के प्रभावों के बीच संतुलन की आवश्यकता है, ताकि अधिकतम सार्वजनिक लाभ प्राप्त किया जा सके। अधिकतम सार्वजनिक लाभ सिद्धांतों में इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास किया जाता है कि सार्वजनिक बजट का आकार क्या होना चाहिए। इस सिद्धांत की संरचना राजस्व की सीमांत सार्वजनिक लागत और सार्वजनिक के सीमांत सार्वजनिक लाभ की अवधारणाओं पर आधारित है। प्रत्येक देश की सरकार के कार्यों में बहुत अधिक वृद्धि हो गयी है। सरकार का काम केवल शांति या व्यवस्था कायम रखना नहीं है बल्कि सरकार आर्थिक विकासपूर्ण रोजगार, कीमत स्थिरता, निर्धनता उन्मूलन, आय तथा धन के समान वितरण संबंधी कार्य भी करती है। सरकार समाज के लिए एक सहायक, एक रखवाले तथा एक नियंत्रक की भूमिकाएं निभाती है तथा इस संदर्भ में समाज के लाभ के लिए अनेक कार्य करती है। इन गतिविधियों के वित्त पोषण का अवतरण सरकारी बजट में व्यय मदो के रूप में होता है। इसके लिए सरकार राजस्व जुटाने का प्रयत्न करती है। परन्तु जिस प्रकार सरकारी व्यय में वृद्धि समाज की सरकारी सेवाओं से मिलने वाले हित का द्योतक है ठीक उसी प्रकार सरकार की राजस्व प्राप्तियां समाज को होने वाली हानियों को दर्शाती है। सरकार अपनी गतिविधियों का क्षेत्र तथा बजट का आकार इस ढंग से निर्धारित करे जिससे समाज को अधिकतम लाभ की प्राप्ति हो। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु सार्वजनिक वित्त के सिद्धांतकारों ने कुछ ऐसी कसौटियों का चुनाव किया है जिन्हें अधिकतम सार्वजनिक लाभ के सिद्धांत के नाम से जाना जाता है।

इस इकाई में सार्वजनिक वित्त का अर्थ, प्रकृति, क्षेत्र, अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धांत, आगम के स्रोत, करों के प्रकार आदि का विस्तार से विवेचना की गयी है।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- सार्वजनिक वित्त का अर्थ, प्रकृति और क्षेत्र को जान पाएंगे;
- सार्वजनिक, निजी और उत्कृष्ट वस्तुओं को समझ पाएंगे;
- अधिकतम सामाजिक लाभ सिद्धांत की विवेचना कर पाएंगे;
- आगम के स्रोतों की समीक्षा कर पाएंगे;
- वस्तु एवं सेवा कर का विश्लेषण कर पाएंगे;
- भारतवर्ष में करदान क्षमता का मूल्यांकन कर पाएंगे।

1.2 सार्वजनिक वित्त : अर्थ, प्रकृति और क्षेत्र

सार्वजनिक वित्त सरकार की आय एवं व्यय से संबंधित है। सरकार में सभी स्तर के सरकारें सम्मिलित हैं जैसे केंद्रीय सरकार, राज्य सरकार एवं स्थानीय सरकार। अतः इन तीनों ही स्तर की सरकारों के आय व्यय का अध्ययन सार्वजनिक वित्त है।

1.2.1 सार्वजनिक वित्त का अर्थ एवं परिभाषा

डॉ जे.के. मेहत्ता के अनुसार सार्वजनिक वित्त दो शब्दों से मिलकर बना है। सार्वजनिक + वित्त। सार्वजनिक शब्द का अर्थ है जनता का समूह जिसका प्रतिनिधित्व सरकार द्वारा किया जाता है और वित्त का अर्थ है मौद्रिक साधन।

अतः सार्वजनिक वित्त से अभिप्राय किसी देश की सरकार के वित्तीय साधनों अर्थात आय और व्यय से है। अर्थशास्त्र के जिस भाग में सरकार की आय तथा व्यय संबंधी समस्याओं का अध्ययन किया जाता है उसे सार्वजनिक वित्त कहते है।

अन्य शब्दों में सार्वजनिक वित्त शब्द का संबंध राजकोषीय से है। इटली भाषा में राजकोषीय शब्द का अर्थ है सरकारी ट्रेजरी। अतएव सार्वजनिक वित्त शब्द का अर्थ है सरकारी ट्रेजरी द्वारा किया गया लेन देन।

बदलते सयमय के साथ–साथ प्रत्येक देश की सरकार द्वारा की जाने वाली आर्थिक क्रियाओं में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। साथ ही साथ सार्वजनिक वित्त का क्षेत्र भी बहुत अधिक विस्तृत हो गया है। इसके अंतर्गत केवल राज्य की आय और व्यय का अध्ययन ही नहीं किया जाता बल्कि विशेष आर्थिक उद्देश्यों जैसे पूर्ण रोजगार, आर्थिक विकास, आय तथा धन का समान वितरण, कीमत स्थिरता आदि से संबंधित सरकार की सभी आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। इसलिए प्रो. मसग्रेव ने अर्थशास्त्र के इस भाग को सार्वजनिक वित्त के स्थान पर राजकीय अर्थशास्त्र का नाम दिया है। संक्षेप में कह सकते हैं, सार्वजनिक वित्त वह अर्थशास्त्र है जिसमें सरकार की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।

1. बुचनेन के अनुसार, "सार्वजनिक वित्त राज्य की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन है।"
2. बैस्टेबल के अनुसार, "सार्वजनिक वित्त में राज्य के अधिकारियों की आय का अध्ययन किया जाता है और इसके पारस्परिक संबंध और वित्तीय नियंत्रण तथा प्रबंध का भी अध्ययन किया जाता है।"
3. डाल्टन के अनुसार, "सार्वजतिनक वित्त सार्वजनिक अधिकारियों की आय एवं व्यय का अध्ययन होता है और यह भी बताता है कि उनमें से एक का दूसरे के साथ किस प्रकार का समायोजन होता है।"
4. प्रो. लूटज के अनुसार, "सार्वजनिक वित्त का संबंध सरकारी या सार्वजनिक कार्यों को चलाने के लिए आवश्यक साधनों की व्यवस्था, संरक्षण तथा बंटवारे से है।"

5. आर. ए. मसग्रेव के अनुसार, "सार्वजनिक वित्त परंपरागत रूप से उन समस्याओं का अध्ययन है जिनका संबंध सरकार की आय और व्यय प्रक्रिया से है।"

टिप्पणी

6. फिंडले शिराज के अनुसार, "राजस्व सार्वजनिक संस्थाओं के आय और व्यय से संबंधित सिद्धांतों का अध्ययन है।"

1.2.2 सार्वजनिक वित्त की प्रकृति

सार्वजनिक वित्त सामान्य अर्थशास्त्र की एक शाखा है। सामान्य अर्थशास्त्र के अंतर्गत हम व्यक्ति की उन सभी क्रियाओं का अध्ययन करते हैं जिनका संबंध उपभोग, उत्पादन, विनिमय तथा वितरण की समस्याओं से होता है जबकि सार्वजनिक वित्त के अंतर्गत हम सरकार के आय–व्यय तथा उनके पारस्परिक संबंध, वित्तीय प्रशासन एवं नियंत्रण का अध्ययन करते हैं। सार्वजनिक वित्त मूल रूप से सरकारों के आय–व्यय से संबंधित है। सरकार का अर्थ केंद्रीय, प्रांतीय तथा स्थानीय सत्ता से है। वर्तमान समय में सार्वजनिक वित्त का क्षेत्र अधिक व्यापक हो गया है अब इसके अंतर्गत सरकारी आय–व्यय के अतिरिक्त वित्तीय प्रशासन, लेखा निरीक्षण एवं वित्तीय नियंत्रण आदि कार्यों को भी सम्मिलित किया जाता है।

सार्वजनिक वित्त की प्रकृति को जानने के लिए यह जानना अनिवार्य है कि सार्वजनिक वित्त विज्ञान है या कला अथवा दोनों।

सार्वजनिक वित्त विज्ञान है– विज्ञान ज्ञान की वह शाखा है जिसमें तथ्यों का क्रमबद्ध एवं सुव्यवस्थित ढंग से अध्ययन किया जाता है जो कारण तथा परिणाम के बीच पारस्परिक संबंधों को बताता है। दूसरे शब्दों में तथ्यों का वह समूह, जिसके मध्य कारण–कार्य का संबंध पाया जाता है, विज्ञान कहलाता है। हर शास्त्र को उसकी विषयवस्तु के आधार पर ही परिभाषित किया जाता है, अतः सार्वजनिक वित्त को भी इसकी विषयवस्तु के आधार पर परिभाषित किया गया है। विषयवस्तु के परिवर्तन के साथ इसकी परिभाषा में भी परिवर्तन आया है।

विज्ञान के अध्ययन के आधार पर जो भी नियम या निष्कर्ष निकाले जाते हैं उनका स्वभाव वैज्ञानिक होता है। इस आधार पर सार्वजनिक वित्त को विज्ञान कहना गलत नहीं होगा। पर यह ध्यान देने योग्य बात है कि सार्वजनिक वित्त एक स्वतंत्र विज्ञान नहीं है, बल्कि एक आश्रित विज्ञान है, क्योंकि इसका संबंध अर्थशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र से है और यह उन पर आश्रित है।

कला का अर्थ– कला का सामान्य अर्थ है किसी वस्तु को बनाना या किसी कार्य को करना। किसी कार्य को सर्वोत्तम ढंग से करना ही कला कहलाता है। कला पूर्व निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करने का एक तरीका है। वास्तव में कला ऐसे नियमों का प्रतिपादन करती है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने उद्देश्यों को प्राप्त करता है।

सार्वजनिक वित्त कला है– सार्वजनिक वित्त कला है, क्योंकि सार्वजनिक वित्त के दौरान आने वाली समस्याओं को खोजने का प्रयास करता है। यह सरकार के आय व व्यय से संबंधित है। सार्वजनिक वित्त आर्थिक विकास को बढ़ावा देने, बाह्य आक्रमण से सुरक्षा तथा आंतरिक शांति बनाए रखने, सामाजिक सुरक्षा तथा जन कल्याणकारी

कार्यों के कार्यान्वयन करने, सामाजिक बुराइयों को दूर करने, आर्थिक विषमता को समाप्त करने के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। ये महत्वपूर्ण कार्य सरकार राजकोषीय नीति सार्वजनिक वित्त विज्ञान एवं कला दोनों द्वारा करती है। जब किसी देश की सरकार विविध स्रोतों से आय प्राप्त करती है और अपनी आय को इस प्रकार व्यय करने का निश्चय करती है, जिससे अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त हो सके, तब यह कला का रूप धारण कर लेती है।

सामाजिक लाभ में वृद्धि के लिए सरकार का यह दायित्व हो जाता है कि राजकोषीय नीति का इस तरह से प्रयोग करे, ताकि समाज में धन एवं आय के वितरण की विषमता को समाप्त किया जा सके। इस तरह निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि सार्वजनिक वित्त को विज्ञान तथा कला दोनों ही कहा जा सकता है। जब हम सार्वजनिक आय एवं व्यय के नियमों तथा नीतियों का अध्ययन करते हैं, तो यह सार्वजनिक वित्त का वैज्ञानिक पहलू है और जब इन नीतियों का प्रयोग सरकार की वित्तीय समस्याओं का समाधान करने में किया जाता है, तो वह सार्वजनिक वित्त का कलात्मक पहलू बन जाता है। इस प्रकार सार्वजनिक वित्त का वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक महत्व दोनों है।

1.2.3 सार्वजनिक वित्त के क्षेत्र

सार्वजनिक वित्त के क्षेत्र का विस्तृत वर्णन निम्न प्रकार से है–

1. **सार्वजनिक आय** (Public Revenue)– सरकार की आय के स्रोत, इनकी प्राप्ति इनमें वृद्धि आदि का अध्ययन इसमें सम्मिलित हैं। सरकार की आय का मुख्य स्रोत करारोपण है। करों से जो आय प्राप्त होती है उसके बदले में सरकार को प्रत्यक्ष रूप से कुछ भी देना नहीं पड़ता है। कर दो प्रकार के होते हैं (i) प्रत्यक्ष कर एवं (ii) परोक्ष कर। प्रत्यक्ष कर वे कर हैं जिनका भार टाला नहीं जा सकता और परोक्ष कर वे कर हैं जिनका भार खिसकाया जा सकता है। इस तरह करों का वर्गीकरण करने के बाद कर किस प्रकार लगाए जाएं, इसका अध्ययन भी सम्मिलित हैं। करारोपण के कुछ सिद्धांत है। करारोपण के सिद्धांत सबसे पहले एडम स्मिथ ने दिए थे उसके बाद कुछ सिद्धांत दूसरे अर्थशास्त्रियों ने जोड़े। करारोपण के सिद्धांतों के बाद कर देय क्षमता पर विचार किया जाता है। कर देय क्षमता का आकलन आवश्यक होता है। इसी के आधार पर कर की दरें लिखित की जाती है। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक आय का देश में उत्पादन तथा वितरण पर क्या प्रभाव पड़ता है इसका अध्ययन भी किया जाता है। सार्वजनिक आय अर्थव्यवस्था को कई प्रकार से प्रभावित करती है। यदि करारोपण की दरें ज्यादा हो तो अर्थव्यवस्था में रोजगार, आय एवं उपभोग घट जाएगा और इसके विपरीत यदि करारोपण की दरें कम हो तो आय, रोजगार व उपभोग में वृद्धि होगी।
2. **सार्वजनिक व्यय** (Public Expenditure)– सार्वजनिक व्यय किन मदों पर किया जाएं, कितना किया जाए, कब किया जाए आदि मुद्दों का अध्ययन करना भी आवश्यक है। सार्वजनिक व्यय देश की अर्थव्यवस्था को मूल रूप से प्रभावित करते हैं। मंदी काल में किए गए सार्वजनिक व्यय आय, रोजगार

टिप्पणी

व उत्पादन बढ़ाते हैं। देश में खुशहाली को वातावरण तैयार करते हैं। सार्वजनिक व्यय से लोगों के कल्याण में वृद्धि होती है। अतः सार्वजनिक व्ययों के बारे में अध्ययन किया जाता है। सार्वजनिक व्यय करने की भी एक सीमा है जो कि जब अधिक सार्वजनिक व्यय किए जाएंगे तो अधिक करारोपण करना पड़ेगा अतः सार्वजनिक व्यय उस सीमा तक करने चाहिए जिस सीमा तक करों से किया जाने वाला त्याग सार्वजनिक व्यय से प्राप्त लाभों के बराबर हो जाए। पिछले दशकों में सार्वजनिक व्यय में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है अतः इस बात का भी अध्ययन किया जाना चाहिए कि सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के क्या कारण है। सार्वजनिक व्यय को अनेक मदों में बांटा जाता है ताकि यह अनुमान लगाया जा सके कि सरकार का जनता के प्रति क्या सरोकार है। यदि सरकार का इरादा जन कल्याण में जो वृद्धि करना है तो इन्फ्रास्ट्रक्चर पर ज्यादा व्यय किया जाएगा जिससे लोगों की उत्पादन क्षमता में वृद्धि होगी और इनकी आय में वृद्धि होगी।

सार्वजनिक व्ययों का अर्थव्यवस्था के स्थायित्व में बहुत महत्व है। यदि देखा जाए तो केन्स के कारण ही सरकार का आर्थिक क्रियाओं में पदार्पण हुआ है। तीसा की महान मंदी से उबरने का एक ही रास्ता था कि सरकार समग्र मांग में वृद्धि करे। निजी क्षेत्र से समग्र मांग में वृद्धि नहीं आ रही थी अतः केन्स ने सरकारी व्यय को बढ़ा कर समग्र मांग में वृद्धि की सिफारिश की थी। आज सभी सरकारें केन्स द्वारा सुझाया गया रोजगार बढ़ाने का सिद्धांत ही प्रयोग में ला रही है। अतः सरकारी व्यय देश में स्थायित्व स्थापित करने में मदद करते है। अतः इन व्ययों के बारे में अध्ययन करना आवश्यक है।

3. **सार्वजनिक ऋण** (Public Debt)– सरकार की आय के स्रोत जब व्यय से कम हो तो सरकार सार्वजनिक ऋणों की ओर प्रस्थान करती है। कई बार ऋण तब भी लिए जाते हैं जब ऋणों का प्रयोग उत्पादक कार्यों के लिए किया जाता है। ऐसी स्थिति में ऋणों द्वारा उत्पादक संपत्तियों का निर्माण किया जाता है और इनसे प्राप्त लाभों से ऋणों को चुकाया कर दिया जाता है। सार्वजनिक ऋणों की व्यवस्था सरकार के लिए देश का केंद्रीय बैंक करता है। अधिकतर ऋण दीर्घकालीन होते हैं जैसे 5 वर्ष 10 वर्ष या 15 वर्ष। इन ऋणों पर ब्याज देय होता है। सरकार के लिए अधिकतर ऋण अब बैंक जुटाने लगी है। सरकारी ऋणों पर ब्याज की दरें कम होने के कारण पहले बैंक ऋण नहीं जुटाती थी। अब सरकार ऋणों पर भी बाजार ब्याज दरें लागू होती है। सार्वजनिक ऋणों के कारण निजी क्षेत्र के उत्पादन, उपभोग व रोजगार पर प्रभाव पड़ता है। जब जनता से ऋण लिए जाते हैं तो निजी क्षेत्र में निवेश व उपभोग कम हो जाता है।

अतः कुछ अर्थशास्त्रियों का मानना है कि सरकार ऋण लेकर देश की अर्थव्यवस्था को प्रभावित नहीं कर सकती। ऋणों का भावी पीढ़ी पर भी प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों ही तरह का होता है। ऋणों को चुकाने के लिए सरकार जब कर लगाती है तो यह कर भावी पीढ़ी को देने होते हैं अतः भावी पीढ़ी पर करों का बोझ बढ़ जाता है। दूसरी तरफ

ऋणों का भुगतान भावी पीढ़ी को मिलता है। इसलिए भावी पीढ़ी के हाथ में वह धन भी आ जाता है जिसको वर्तमान में उसने कमाया नहीं है। अतः सार्वजनिक वित्त में सार्वजनिक ऋणों का भी अध्ययन किया जाता है।

टिप्पणी

4. **संघीय वित्त** (Fiscal federalism)– सार्वजनिक वित्त में सरकारों के बीच करों से प्राप्त आय के वितरण का अध्ययन भी आवश्यक है। संविधान में केंद्र सरकार एवं राज्य सरकार के बीच करों की शक्तियों का स्पष्ट उल्लेख है। कुछ करों पर केंद्रीय सरकार का अधिकार है तो कुछ करों पर राज्य सरकारों का स्पष्ट अधिकार है। कुछ कर ऐसे हैं जिन्हें दोनों ही सरकारें लगा सकती है। प्रायः केंद्रीय सरकार के वे कर है जो संपूर्ण राष्ट्र में लागू होते हैं अतः उनसे आय भी ज्यादा प्राप्त होती है। अतः केंद्रीय सरकार की करो से प्राप्त आय में राज्य सरकारें भी हिस्सा बंटाती है। करों के बंटवारें के लिए हमारे संविधान में वित्त आयोग की व्यवस्था है जिसकी नियुक्ति प्रत्येक पांच वर्ष में करनी होती है। यह करों के बंटवारे तथा अन्य व्यवस्थाओं पर केंद्रीय सरकार को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करता है। अतः संघीय व्यवस्था में आय के बंटवारे का अध्ययन भी सार्वजनिक वित्त का क्षेत्र है।

5. **राजकोषीय नीति एवं राजकोषीय कार्यों का समन्वय** (Fiscal Policy and coordination of fiscal functions)– सरकार का यह दायित्व है कि वह अर्थव्यवस्था में स्थायित्व बनाए रखे। किसी देश की आर्थिक नीति के उद्देश्यों में अधिकतम विकास, अधिकतम रोजगार, कीमत स्थायित्व एवं विदेशी विनिमय स्थायित्व आवश्यक है। प्रायः अर्थव्यवस्था में कई कारणों से आर्थिक क्रियाओं में उतार–चढ़ाव आते हैं। सरकार आय और व्यय में परिवर्तन कर स्थायित्व लाने का प्रयत्न करती है; यही राजकोषीय नीति है। इस दृष्टिकोण से सरकार की आर्थिक क्रियाओं में उतार–चढ़ाव को कम करने या रोकने के प्रयत्न में सरकारी आय, व्यय व सार्वजनिक ऋणों की व्यवस्थित रूपरेखा जो आर्थिक नीति में वर्णित उद्देश्यों को प्रापत करने में सहायक बने वह राजकोषीय नीति है। अतः सार्वजनिक वित्त के अध्ययन के क्षेत्र में राजकोषीय नीति भी सम्मिलित है।

इस तरह सार्वजनिक आय, सार्वजनिक व्यय, सार्वजनिक ऋण एवं राजकोषीय नीति एवं राजकोषीय कार्यों पर अध्ययन सार्वजनिक वित्त का क्षेत्र है।

राजकोषीय नीति देश की अर्थव्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन कर सकती है यदि राजकोषीय कार्यों का समन्वय हो तो। राजकोषीय नीति बजट द्वारा परिलक्षित होती है। बजट में उत्पादन, आवंटन, वितरण तथा स्थायित्व का समन्वय होता है। इसका तात्पर्य यह है कि बजट में किए गए प्रस्ताव उत्पादन को बढ़ा सकते हैं; साधनों का ऐसे कामों में आवंटन कर सकते हैं जिससे ज्यादा आय या उत्पादन प्राप्त हो सकता है; आय के वितरण को असमानता से समानता की ओर ले जा सकते हैं और अर्थव्यवस्था में स्थायित्व उत्पन्न कर सकते हैं। गसग्रेव की पुस्तक The Theory of Public Finance (1959) में निम्नांकित राजकोषीय कार्यों की व्याख्या की गई है– (i) उत्पादन कार्य (ii) आवंटन कार्य (iii) वितरण कार्य (iv) स्थायित्व कार्य

टिप्पणी

(क) उत्पादन

बाजार अर्थव्यवस्था में वस्तुओं का उत्पादन उपभोक्ताओं की मांग के अनुसार होता है। इसलिए आर्थिक क्रियाओं के संपादन में उपभोक्ता ही सर्वोपरि है। इस दृष्टिकोण से उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन किया जाएगा जिनकी उपभोक्ताओं ने मांग की है। किंतु कुछ उत्पादन ऐसे हैं जिनकी राष्ट्र को जरूरत होती है, यद्यपि उपभोक्ता इनकी मांग नहीं करते हैं। जैसे पुलिस और राष्ट्रीय सुरक्षा। अर्थात सार्वजनिक वस्तुओं का उत्पादन। सार्वजनिक वस्तुएं वे होती हैं जिन पर प्रतिद्वंद्विता (rivalary) एवं वर्जन (exclusion) का सिद्धांत लागू नहीं होता। इसका उत्पादन निजी क्षेत्र में नहीं किया जा सकता अतः इन वस्तुओं के उत्पादन के लिए सरकार बजट में प्रावधान कर इनके उत्पादन को बढ़ाती है। कुछ ऐसी वस्तुएं भी हैं जिनके उत्पादन में बाह्यताएं होती है। बाह्यताओं की स्थिति में निजी एवं सार्वजनिक गणन भिन्न–भिन्न होती हैं। अतः इन वस्तुओं के उत्पादन में बाजार व्यवस्था असफल होती हैं। इन वस्तुओं के उत्पादन में बजट में करारोपण या सहायिकी का प्रावधान किया जाता है।

(ख) आवंटन

साधारणतया वो बाजार अर्थव्यवस्था में साधनों का आवंटन उपयुक्त माना जाता है। किंतु ऐसी वस्तुएं जिनका उपभोग सामूहिक होता है और एक बार जब इन सेवाओं का उत्पादन कर लिया जाता है तो इसके प्रयोग से किसी को वंचित नहीं किया जा सकता। इस स्थिति में इनके उपभोग के लिए व्यक्तियों से बाजार कीमत मांगना संभव नहीं होगा। अतः लाभ प्रेरित उत्पादक इस प्रकार की सेवाओं का न तो उत्पादन ही करेंगे और न इनके उत्पादन में साधनों का आवंटन ही करेंगे। यहां भी साधनों का आवंटन बजट प्रावधानों के द्वारा किया जाएगा। उत्पादन के कुछ साधन ऐसे हैं (पूंजी) जो एक साथ बड़ी मात्रा में ही उपलब्ध होते हैं। ऐसी स्थिति में उत्पादन के क्षेत्र में एकाधिकार की स्थिति बन जाती है। अतः इस स्थिति में भी साधनों का आदर्श आवंटन नहीं होता और इन व्यवस्थाओं का सुचारू रूप से प्रावधान आवश्यक है।

सरकार करारोपण के द्वारा तथा सरकारी व्यय के द्वारा वस्तुओं के उत्पादन को क्रमशः हतोत्साहित एवं प्रोत्साहित कर सकती है जिनसे साधनों का आवंटन प्रभावित हो सकता है। यदि सरकार बीड़ी बनाने पर अधिक कर लगाती है और जूस बनाने वालों को प्रोत्साहन देती है तो साधनों का आवंटन अलग प्रकार से हो जाएगा।

(ग) वितरण

वितरण से तात्पर्य राष्ट्रीय आय को मजदूरी, ब्याज, लगान एवं लाभ में वितरित करना है। बाजार व्यवस्था में आय की असमानता का प्रमुख कारण साधनों को इनकी सीमांत उत्पादकता के बराबर भुगतान करना है। इससे अधिक योग्यता वालों को अधिक भुगतान प्राप्त होता है और कम योग्यता वालों को कम भुगतान। किंतु जिनमें आवश्यक उत्पादन क्षमता नहीं है, उन्हें बाजार अर्थव्यवस्था में कुछ भी प्राप्त नहीं होगा। एकाधिकार की स्थिति में भी आय की असमानता उत्पन्न होती है। आय के पुनर्वितरण का कई कार्य सरकार द्वारा कई प्रकार से किया जा सकता है। यदि सरकार कृषि उत्पादों की अधिक प्रोत्साहन देती है तो कृषकों की आय में वृद्धि होगी एवं दूसरे लोगों की आय घट जाएगी। सरकार कुछ प्रकार के उत्पादों को कुछ वर्ग के लिए आरक्षित कर सकती है जैसे भारत में तोलिए केवल

टिप्पणी

हथकरघा उद्योग के लिए ही कर दिए गए हैं। यह व्यवसायें साधनों के आवंटन को प्रभावित करती है। नीचे आय स्तर में कानून द्वारा प्रावधान करके उसे बढ़ाया जा सकता है। ऐसा करारोपण के प्रावधानों को लागू करके भी किया जा सकता है। मसग्रेव एवं मसग्रेव ने आय के पुनर्वितरण के लिए निम्न तीन राजकोषीय विधियों की बात कही–(i) कर हस्तांतरण योजना (ii) निम्न आय वालों को मकान, स्वास्थ्य व अन्य सेवाओं पर सहायता उपलब्ध करवाना (iii) अच्छी आय वालों के उपभेग पर कर तथा निम्न आय वालों के उपभोग की वस्तुएं पर सहायिकी।

(घ) स्थायित्व कार्य

अर्थव्यवस्था में अस्थायित्व की स्थिति में सरकार राजकोषीय नीति का प्रयोग कर स्थायित्व ला सकती है। तीसा की महान मंदी के समय केन्स द्वारा सुझाया गया यह उपाय आज विश्व के सभी देशों में स्वीकार कर लिया है। समग्र मांग में कमी का कारण मंदी का कारण बना था। अतः केन्स ने सरकारी मांग (G) में वृद्धि का सुझाव दिया था। केन्स ने सरकार को यह सुझाव दिया कि निजी क्षेत्र के लोग तो स्वहित से कार्य करते हैं अतः वे लोग अलाभ की स्थिति में रोजगार नहीं बढ़ाएंगे अतः सरकार को सरकारी व्यय बढ़ाकर समग्र मांग में वृद्धि करनी चाहिए। इस प्रकार यदि मंदी का समय हो तो सरकार व्यय को बढ़ाने और तेजी के समय सरकारी व्यय में कमी करे और इस प्रकार अर्थव्यवस्था में स्थायित्व उत्पन्न करे। इस तरह केन्स ने स्थायित्व के लिए मांग प्रबंधन पर जोर दिया है।

सार्वजनिक वित्त की निजी वित्त में भिन्नता पर विचार करने से सार्वजनिक वित्त संबंधी सिद्धांतों के अध्ययन में सहायता मिलती है। यहां पर निजी वित्त से अभिप्राय एक प्रतीकात्मक गैर–सरकारी वैयक्तिक आर्थिक इकाई से संबद्ध वित्तीय सिद्धांतों से है।

समानताएं

1. **मुद्राकृति गतिविधियां** (Monetised Activities)– आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं का अधिकतर भाग मुद्राकृत (monetised) होता है, अर्थात इनकी अधिकतम गतिविधियों से मौद्रिक लेन–देन की क्रियाएं भी उत्पन्न होती है। मौद्रिक लेन–देन के साथ ही वित्तीय दावों (claims) तथा देयताओं (liabilities) की उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक तथा निजी, दोनों क्षेत्रों की गतिविधियों में क्रय–विक्रय तथा अन्य प्रकार के लेन–देनों का स्थान होने के कारण दोनों ही मौद्रिक दावों तथा देयताओं के सृजन और संहार में भी कार्यरत रहते हैं। अर्थात् दोनों क्षेत्रों द्वारा उधार देने, उधार लेना, अदायगी करना, वसूली पाना, वित्तीय प्रतिभूतियों का क्रय–विक्रय आदि सभी कार्य किए जाते है।
2. **एक ही गतिविधियां** (Common Activities) – इसी प्रकार भौतिक स्तर पर दोनों क्षेत्र समान रूप से उपभोग, उत्पादन, विनिमय, बचत, पूंजी–निर्माण, निवेश आदि गतिविधियों में कार्यरत रहते हैं।
3. **सीमित संसाधन** (Limited Means)– दोनों क्षेत्र अपने–अपने ढंग से समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। आर्थिक कार्यकलापों में दोनों क्षेत्रों की भागीदारी होने के कारण उनकी बहुत–सी समस्याओं में भी समानता देखने

को मिलती है। उदाहरणार्थ दोनों क्षेत्र संसाधनों की कमी से पीड़ित रहते हं तथा इस कारण दोनों का यह प्रयन्त रहता है कि संसाधनों के अपव्यय से बचा जाए और सबसे अधिक महत्वपूर्ण आवश्यकताओं की तुष्टि को प्राथमिकता दी जाए।

टिप्पणी

असमानताएं

निजी वित्त निजी क्षेत्र से संबंधित है जबकि सार्वजनिक वित्त सरकार की आय और व्यय से संबंधित हैं। निजी क्षेत्र के वित्त एवं सार्वजनिक क्षेत्र के वित्त में निम्नलिखित अंतर है–

1. **समय की अवधि** (Time Period)– निजी वित्त प्रायः महीने, तीन महीने, छः महीने या अधिकतम एक वर्ष का हो सकता है, जबकि सार्वजनिक वित्त का समय अधिक लंबा होता है। यह कम से कम एक वर्ष और अधिक 5 वर्ष, 10 वर्ष, 15 वर्ष और 20 वर्ष भी हो सकता है।
2. **बजट की प्रकृति** (Nature of Budget)– सार्वजनिक वित्त में प्रायः घाटे का बजट बनाया जाता है जबकि निजी बजट हमेशा आधिक्य का होता है। इसका कारण यह है कि सरकार के पास आय के स्रोतों की कमी नहीं है जबकि निजी क्षेत्र के पास आय के स्रोत सीमित है।
3. **बकाया वित्तीय प्रबंधन** (Across Financing)– सरकार बजट घाटे को ऋण लेकर, केंद्रीय बैंक से उधार लेकर और विदेशों से ऋण लेकर भी पूरा कर सकती है। किंतु इस प्रकार की सुविधा निजी क्षेत्र के पास उपलब्ध नहीं है।
4. **अनिवार्य ऋण** (Compulsory Loans)– सरकार संस्थाओं से अनिवार्य रूप से ऋण प्राप्त करने में समर्थ हो सकती है और वह भी कम ब्याज दरों पर किंतु निजी वित्त में इस प्रकार अनिवार्य उधार नहीं लिया जा सकता।
5. **गोपनीयता** (Secrecy)– निजी वित्त में गोपनीयता अनिवार्य है जबकि सार्वजनिक वित्त को संसद में रखना पड़ता है। यह टी.वी व अखबार के माध्यम से प्रसारित भी किए जाते हैं। सार्वजनिक वित्त की जानकारी जनता को देना जरूरी है जबकि वित्त में गोपनीयता बनी रहती है।
6. **परियोजनाओं की प्रकृति** (Nature of projects)– दीर्घ अवधि की योजनाएं सार्वजनिक वित्त में सम्मिलित होती हैं जबकि निजी वित्त में केवल अल्पकालीन योजनाएं सम्मिलित होती हैं। निजी व्यक्ति का जीवन अल्पकालीन होता है जबकि सरकारें दीर्घायु होती है अतः इसे आधार पर योजनाओं की प्रकृति निर्भर करती है।
7. **परिवर्तन की प्रकृति** (Nature of changes)– सार्वजनिक वित्त में बड़े परिवर्तन संभव है जबकि निजी वित्त में छोटे परिवर्तन ही संभव है। इसका कारण यह है कि सार्वजनिक वित्त का आकार बड़ा होता है और निजी वित्त का आकार छोटा होता है।

8. **लेखांकन** (Accounting)– सार्वजनिक वित्त का लेखांकन आवश्यक है जबकि निजी वित्त में लेखांकन आवश्यक नहीं है। सरकार का दायित्व जनता के प्रति है अतः सरकार को हिसाब रखना जरूरी है। व्यक्ति का दायित्व केवल स्वयं के प्रति है अतः लेखांकन जरूरी नहीं है।
9. **अंकेक्षण** (Auditing)– सार्वजनिक वित्त का न केवल लेखांकन अपितु अंकेक्षण भी आवश्यक है। जांच इसलिए जरूरी है कि आय और व्यय में घोटालों का पता लगाया जा सके। निजी वित्त में घोटालों का कोई स्थान नहीं है।
10. **सहायता स्वीकारना** (Adopted Assistance)– सार्वजनिक वित्त में विदेशी सहायता का प्रावधान है और सरकार विदेशी सहायता प्राप्त कर सकती है जबकि निजी वित्त में विदेशी सहायता का कोई प्रावधान नहीं है।
11. **सरकारी स्वीकृति** (Government Sanction)– सार्वजनिक वित्त में आय एवं व्यय के लिए ऊपर के अधिकारियों से स्वीकृति लेना आवश्यक है। स्वीकृतियां संसद से, अधिकारियों से और विशेष प्रावधानों के अंतर्गत अन्य अधिकारियों से लेना आवश्यक है। निजी वित्त में किसी भी प्रकार की स्वीकृति आवश्यक नहीं है।
12. **आय–व्यय समायोजन** (Adjustment between income and expenditure)– सार्वजनिक वित्त में सरकार पहले व्ययों का प्रावधान करती है और इसके बाद आय की व्यवस्था करती है।

    उपरोक्त बिंदुओं के आधार पर यह निश्चित होता है कि सार्वजनिक वित्त एवं निजी वित्त में बहुत बड़ा अंतर है।

निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों की असमानताओं की व्याख्या के आधार पर हम कह सकते है कि इनसे सार्वजनिक वित्त के विषय अध्ययन का औचित्य भली–भांति स्थापित हो जाता है। इस संदर्भ में एक मुख्य बात यह है कि निजी इकाइयों के कई सिद्धांत सार्वजनिक वित्त पर लागू नहीं होते। निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों की असमानताएं केवल सतही नहीं है। इनकी बुनियादें काफी गहरी है जिनमें सरकार के कार्य–उद्देश्य, इसका मुद्रा सृजन का अधिकार, इसका करारोपण का अधिकार तथा उधार लेने की बेहतर स्थिति आदि शामिल है। सार्वजनिक वित्त के अध्ययन को यथार्थता के स्तर पर लाने के लिए यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि सरकारी क्षेत्र अर्थव्यवस्था का एक अभिन्न अंग होता है, तथा निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों की गतिविधियों में पारस्परिक गहरी निर्भरता रहती है उनमें लगातार संसाधनों का अंतरण होता रहता है। इन सब तथ्यों को ध्यान में रखने पर ही सरकारी नीतियों का विश्लेषण उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक वित्त के सही अध्ययन के लिए अर्थव्यवस्था की संस्थानिक संरचना और कार्य–प्रणाली की पूरी जानकारी भी अति आवश्यक है। अर्थव्यवस्था के कार्य–कलापों से संबद्ध वित्तीय प्रवाहों को सरकार अपनी नीतियों आदि से प्रभावित करती है। अतः संभावित प्रभावों का अध्ययन सार्वजनिक वित्त की विषय सामग्री के आवश्यक अंग माने जाते हैं।

टिप्पणी

1.2.4 सार्वजनिक वित्त का महत्व

19वीं शताब्दी में सार्वजनिक वित्त का कोई महत्व नहीं हुआ करता था। इसका कारण यह था कि उस समय सरकार आर्थिक विषयों में हस्तक्षेप नहीं किया करती थी। सरकार का कार्य केवल देश को विदेशी आक्रमण से बचाना एवं आंतरिक सुरक्षा की व्यवस्था करना हुआ करता था। अतः इस कार्य को संपन्न करने के लिए सरकार थोड़ी मात्रा में करों द्वारा लोगों से धन एकत्रित किया करती थी। इस प्रकार 19वीं शताब्दी में अबंध नीति के कारण सार्वजनिक वित्त को कोई विशेष महत्व प्राप्त नहीं था।

किंतु 20वीं शताब्दी में कल्याणकारी राज्य की धारणा के उदय के परिणामस्वरूप सरकार का राजवित्त के प्रति दृष्टिकोण पूर्णतः बदल गया है। अब सरकार आर्थिक विषयों में अधिक हस्तक्षेप करने लगी है। परिणामतः सार्वजनिक वित्त का महत्व बढ़ गया है इस समय सार्वजनिक वित्त के महत्व को निम्नलिखित बातों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

1. देश में हानिकारक वस्तुओं के उत्पादन को निरुत्साहित करने के लिए सरकार द्वारा वस्तु कर लगाये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, शराब, अफीम, गांजा आदि हानिकारक वस्तुओं के उत्पादन पर भारी कर लगाये जाते हैं। इसका उद्देश्य उन वस्तुओं के उपयोग को कम करना होता है।
2. देश में आवश्यक वस्तुओं की मात्रा को बढ़ाने के लिए विभिन्न उद्योगा–धंधों को सरकार द्वारा उपदान (Subsidies) दिये जाते हैं। पिछड़े हुए अल्पविकसित देशों में तो उपादनों का सरकारी व्यय में विशेष महत्व होता है।
3. अल्पविकसित एवं पिछड़े हुए देशों में शिशु–उद्योगों को प्रशुल्क नीति द्वारा विदेशी प्रतियोगिता से संरक्षण दिया जाता है, अर्थात विदेशी माल के आयात पर सरकार भारी कर लगा कर देशी उद्योग–धंधों को प्रोत्साहन देती है।
4. सार्वजनिक वित्त देश के योजनाबद्ध आर्थिक विकास में भी बहुमूल्य सहायता प्रदान करता है। उदाहरण के लिए भारत में पंचवर्षीय योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए आवश्यक धन करो द्वारा लोगों से प्राप्त किया जाता है। फिर यही धन देश की परियोजनाओं को क्रियान्वित करने में लगाया जाता था।
5. रोजगार के आधुनिक सिद्धांत में भी सार्वजनिक वित्त का महत्वपूर्ण स्थान है। उदाहरण के लिए मंदी काल में किसी देश में रोजगार की मात्रा बढ़ाने के लिए असंतुलित बजट अनिवार्य होता है, अर्थात, ऐसे समय लोगों को रोजगार के अधिक अवसर प्रदान करने के लिए सरकार को यथा संभव सार्वजनिक निर्माण कार्यों पर अधिकाधिक मात्रा में धन व्यय करना चाहिए। इस प्रकार मंदी काल में बेरोजगार व्यक्तियों को भत्ते भी दिए जाने चाहिए ताकि वे अपने उपभोग स्तर को बनाए रख सके।
6. पूंजीवादी देश में धन–वितरण संबंधी विषमताओं को दूर करने में भी सार्वजनिक वित्त का महत्वपूर्ण स्थान होता है। वास्तव में ऐसे देशों में सार्वजनिक वित्त सरकार के हाथ में एक यंत्र होता है जिसकी सहायता से

टिप्पणी

वह आय संबंधी विषमताओं को दूर अथवा कम कर सकती है। उदाहरण के लिए, सरकार धनी व्यक्तियों पर भारी कर लगाकर प्राप्त होने वाली आय को निर्धनों पर व्यय कर सकती है। सरकार निर्धनो को कई प्रकार की सुविधाएं प्रदान कर सकती है। जैसे सस्ता अनाज, सस्ते मकान, निःशुल्क डाक्टरी सहायता तथा बच्चों के लिए निःशुल्क शिक्षा। इस प्रकार सार्वजनिक वित्त की सहायता से सरकार धन को अमीरों से लेकर गरीबों को हस्तांतरित कर सकती है। परिणामतः सरकार आय संबंधी असमानताओं को कम कर सकती है।

7. समाजवादी तथा साम्यवादी देशों में तो सार्वजनिक वित्त का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है। इस प्रकार के देशों में सार्वजनिक वित्त की सहायता से ही समूचे आर्थिक सार्वजनिक जीवन का निर्माण किया जाता है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. सार्वजनिक ऋणों का प्रबंध सरकार के लिए कौन करता है?

   (क) व्यापारिक बैंक (ख) केंद्रीय बैंक

   (ग) संघीय वित्त (घ) राजकोषीय नीति

2. सरकार किस प्रकार की नीति का प्रयोग कर अर्थव्यवस्था में स्थायित्व ला सकती है?

   (क) राजकोषीय नीति (ख) कर नीति

   (ग) कीमत नीति (घ) उत्पादन नीति

1.3 सार्वजनिक, निजी और उत्कृष्ट वस्तुएं

आर्थिक क्रियाओं का मूल कारण मानव जीवन की जरूरतें हैं। आवश्यकताओं को निजी तथा सार्वजनिक रूप में विभाजित करने का आधार संसाधनों की उपयोगिता है। सार्वजनिक वस्तुओं की पूर्ति के लिए बजट प्रक्रिया अपनायी जाती है तथा सार्वजनिक रूप से ही ये प्रयुक्त होती है। इनके प्रयोग के लिए प्रत्यक्ष भुगतान नहीं करना पड़ता। निजी आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के लिए जो वस्तुएं कीमत चुकाकर प्राप्त की जाती हैं उन्हें निजी वस्तुएं कहा जाता है। बाजार प्रक्रिया द्वारा निजी वस्तुओं की मांग व पूरवत की प्रक्रिया पूरी होती है।

सार्वजनिक वस्तुएं

सार्वजनिक वस्तुओं के उत्पादन से बाह्य लाभ (External Benifit) का सृजन होता है जिससे लाभ का उपयोग अनेक व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। सार्वजनिक वस्तुओं के प्रयोग से 'बिखराव प्रभाव' (Spill-over Effects) उत्पन्न होता है अर्थात एक व्यक्ति के प्रयोग से अनायास ही अन्य व्यक्तियों को भी उतना ही लाभ प्राप्त हो जाता है। उदाहरण के लिए मच्छर मारने की दवाई का छिड़काव 'बिखराव प्रभाव' पैदा करता है। परंतु यहां यह तथ्य भी ध्यान में रखना जरूरी है कि इन बाह्य लाभों (External

Benefits) पर 'संपति का अधिकार' स्थापित नहीं किया जा सकता अर्थात कीमत न चुकाने वाले व्यक्तियों को उस वस्तु के उपभोग से वंचित नहीं किया जा सकता।

टिप्पणी

सार्वजनिक वस्तुओं की भी कुछ विशेषताएं होती हैं, जो निम्नलिखित हैं–

(i) **बाह्य लाभ** – सार्वजनिक वस्तुओं की यह प्रमुख विशेषता है जिससे उपभोग व उत्पादन से बाह्य लाभ दूसरों को भी प्राप्त होते हैं।

(ii) **गैर–प्रतिद्वंद्विता उपभोग** – सार्वजनिक वस्तुओं का उपभोग एक ही समय पर अनेक उपभोक्ताओं द्वारा किया जा सकता है, परंतु इस स्थिति में अन्य व्यक्तियों का उपभोग प्रभावित नहीं होता जैसे – टी.वी. प्रोग्राम साथ–साथ देखना।

(iii) **संपत्ति का अधिकार नहीं** – सार्वजनिक वस्तुओं पर कोई एक व्यक्ति संपत्ति का अधिकार का नियम नहीं लगा सकता क्योंकि अन्य व्यक्तियों के उपभोग से कीमत चुकाने वाले उपभोक्ता के उपभोग पर कोई असर नही पड़ता।

(iv) **बिखराव प्रभाव** – सार्वजनिक वस्तुओं के प्रयोग से अनायास ही बिखराव प्रभाव उत्पन्न हो जाता है और दूसरे लोग भी लाभान्वित होते हैं।

(v) **संयुक्त उपभोग** – एक ही वस्तु या सेवा का कई उपभोक्ता एक ही स्थान और एक ही समय पर साथ–साथ उपभोग कर सकते हैं।

(vi) **बाजार प्रक्रिया लागू न होना** – इन वस्तुओं की कीमत बाजार प्रक्रिया द्वारा नहीं होती अर्थात मांग व पूर्ति द्वारा उत्पादन की मात्रा व कीमत निर्धारित नहीं हो सकती।

निजी वस्तुएं

निजी वस्तुओं का क्रय–विक्रय खरीदार/उपभोक्ता के अलावा अन्य व्यक्तियों को किसी भी प्रकार से प्रभावित नहीं करता। वर्तमान में अधिकतर समाजों में अधिकांश वस्तुओं की पूखत निजी क्षेत्र द्वारा की जाती है। निजी क्षेत्र अधिकतम लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से इन वस्तुओं का उत्पादन करता है जबकि शिक्षा, स्वास्थ्य, पार्क इत्यादि कल्याणकारी वस्तुओं व सेवाओं की पूर्ति निजी व सार्वजनिक क्षेत्र दोनों द्वारा उपलब्ध करवाई जाती है। हालांकि निजी क्षेत्र वस्तुओं के उत्पादन में 'उपभोक्ता की सार्वभौमिकता' का ध्यान रखने के साथ–साथ अपने लाभ का भी ध्यान रखता है। इसके विपरीत सार्वजनिक क्षेत्र इन वस्तुओं का उत्पादन 'आर्थिक कल्याण' के उद्देश्य से करता है। इन सेवाओं को उपलब्ध करवाते समय सार्वजनिक क्षेत्र इस धारणा को लेकर चलता है कि इनकी पूखत व उपयोग आय के वितरण द्वारा प्रभावित नहीं होना चाहिए।

निजी वस्तुओं की विशेषताओं को निम्नलिखित रूपों में समझा जा सकता है–

(i) **उपभोग का वर्जन** – इससे तात्पर्य है कि केवल चुकाने वाला उपभोक्ता ही इन वस्तुओं का उपभोग कर सकता है। अन्य व्यक्तियों को वस्तु विशेष के उपभोग से वर्जित रहना पड़ता है।

टिप्पणी

(ii) प्रकटित अधिमान – यह बताता है कि उपभोक्ता का उपभोग व संतुष्टि स्तर क्या है। अतः वस्तुओं का उत्पादन उपभोक्ता की सार्वभौमिकता के अनुरूप किया जाता है और उपभोक्ता के प्रकटित अधिमान को उत्पादन के केंद्र में रखा जाता है:

(iii) आंतरिक लाभ – निजी वस्तुओं से केवल उपभोक्ता की जरूरत पूरी होती है, परंतु बाह्य लाभ उत्पन्न नहीं होते हैं यानी दूसरों को लाभ नहीं होता।

(iv) संसाधनों का इष्टतम उपयोग – अर्थव्यवस्था में संतुलन का बिंदु पैरिटो इष्टतम सिद्धांत के अनुसार प्राप्त किया जाता है। अनुकूलतम स्थिति होने पर ही उत्पादन, उपभोग व वितरण की प्रक्रिया शुरू होती है।

(v) उपभोग में प्रतिद्वंद्विता – वस्तु का एक उपभोक्ता द्वारा उपभोग करने के बाद वह अन्य उपभोक्ताओं के लिए उपलब्ध नहीं हो पाती जिससे प्रतिद्वंद्विता की स्थिति पैदा होती है।

उत्कृष्ट/प्राथमिक वस्तुएं

प्राथमिक वस्तुएं ऐसी वस्तुएं है जिनके उपभोग से न केवल उपभोक्ता, बल्कि गैर–उपभोक्ता भी लाभान्वित होते हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाएं, पीने का स्वच्छ पानी आदि इन वस्तुओं के कुछ उदाहरण है। सार्वजनिक वित्त के दृष्टिकोण से, ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि इन प्राथमिक वस्तुओं की उपलब्धि समाज के सभी सदस्यों के लिए प्रचुर मात्रा में होनी चाहिए। उनकी पूर्ति का कार्य केवल बाजार व्यवस्था पर छोड़ दिया जाए, तो ऐसा होने की संभावना अत्यल्प रहती है। इसका बुनियादी कारण यह है कि समाज के सभी सदस्य इन वस्तुओं का बाजार भाव चुकाने में या तो समर्थ नहीं होते या तैयार नहीं होते। इन परिस्थितियों में यह आवश्यक हो जाता है कि सरकार इन प्राथमिक वस्तुओं की उपलब्धि में बढ़ोतरी हेतु–

(i) उनकी उत्पादन लागत का एक भाग वहन करने को तत्पर हो, अथवा

(i) निजी स्रोतों से होने वाली पूर्ति के अतिरिक्त स्वयं भी उनके उत्पादन तथा उपलब्धि में सक्रिय भाग ले अथवा उनकी आवश्यक मात्राओं को मुहैया करने की संपूर्ण जिम्मेदारी स्वयं उठा ले।

प्राथमिक वस्तुएं भी एक प्रकार की सार्वजनिक वस्तुएं हैं पर इनकी व्यवस्था सार्वजनिक वस्तुओं की व्यवस्था से अलग होती है। सार्वजनिक वस्तुओं की व्यवस्था उपभोक्ताओं की प्रभावोत्पादक मांग की अनुक्रिया के आधार पर होता है जो उपभोक्ताओं के व्यक्तिगत अधिमानों तथा वितरण की वर्तमान स्थिति द्वारा निर्धारित होती है। इसके विपरीत प्राथमिक वस्तुओं की पूर्ति उपभोक्ताओं के अधिमान के हस्तक्षेप पर आधारित होती है। प्राथमिक वस्तुओं के संबंध में उपभोक्ता अधिमान के स्थान पर प्रत्यारोपित अधिमान होता है। इन वस्तुओं की व्यवस्था समुदाय के किसी समूह के लिए की जाती है। प्राथमिक वस्तुएं सार्वजनिक अथवा निजी दोनों ही हो सकती हैं। प्राथमिक वस्तुओं की मांग एवं पूर्ति का निर्धारण व्यक्तिगत अधिमानों से हो सकता है फिर भी इसकी मांग तथा पूर्ति को समाज, सरकार, संस्थाएं आदि के अधिमान भी प्रभावित कर सकते हैं।

प्राथमिक वस्तुएं ऐसी वस्तुए हैं जो इसके प्राप्तकर्त्ता को प्रत्यक्ष रूप से लाभान्वित करती है और साथ ही सामूहिक लाभ भी सृजित करती है।

टिप्पणी

निजी व सार्वजनिक वस्तुओं में अंतर

निजी व सार्वजनिक वस्तुओं में अंतर प्रो. मैसग्रेव ने निम्नलिखित दो आधारों पर किया है–

सार्वजनिक वस्तुएं वे वस्तुएं हैं जो जनता को सामूहिक लाभ (Collective Benefit) पहुंचाती है। ऐसी वस्तुओं (एवं सेवाएं) के उपभोग में प्रतिस्पर्द्धा (Nonrival) नहीं होती और इनसे प्राप्त लाभों से किसी को वंचित (Non-excludable) नहीं किया जा सकता। निजी वस्तुएं व्यक्तिगत होती हैं, जिनमें प्रतिस्पर्धा भी होती है और जिनके लाभ से अन्यों को वंचित भी रहना पड़ सकता है। इस तथ्य को निम्नांकित बिंदुओं द्वारा समझा जा सकता है–

1. यदि सार्वजनिक वस्तुओं का किसी एक व्यक्ति के द्वारा उपभोग किया जा रहा है तो दूसरे व्यक्ति को उन लाभों से अलग नहीं किया जा सकता। इसे यों भी समझा जा सकता है कि किसी एक व्यक्ति के उपभोग के कारण, इस वस्तु की उपलब्धता दूसरे व्यक्ति के लिए कम नहीं होगी। उदाहरण के लिए, टी.वी., रेडियो स्टेशन मिलीट्री की सेवाएं, पुलिस की सेवाएं आदि।
2. सार्वजनिक वस्तुओं की कीमतें नहीं होती हैं वे मुफ्त में उपलब्ध होती हैं जैसे मिलीट्री की सेवाएं। इन सेवाओं की कीमतें निर्धारित ही नहीं की जा सकती है, अतः यह सबको मुफ्त में उपलब्ध होती हैं।
3. सार्वजनिक वस्तुओं के उपभोग में किसी को वंचित नहीं किया जा सकता है। यह सभी को उपलब्ध होती है। सार्वजनिक पार्क की सुविधाएं सभी व्यक्तियों को प्राप्त होती है। इसमें प्रवेश करने से किसी को मना नहीं किया जा सकता है।
4. सार्वजनिक वस्तुओं की पूर्ति सरकारी कोष से की जाती है। सार्वजनिक कोष सरकार को करों से प्राप्त होता है।
5. सार्वजनिक वस्तुओं की सीमांत लागत शून्य होती है अतः इसकी कीमत भी शून्य होती है अर्थात सार्वजनिक वस्तुएं मुफ्त में प्राप्त होती हैं।
6. सार्वजनिक वस्तुओं के उत्पादन में औसत लागतें उत्पादन के बढ़ने के साथ घटती जाती हैं। यह एक प्रकार से स्वाभाविक एकाधिकार (Natural Monopoly) की स्थिति को अभिव्यक्त करता है। निजी वस्तुओं में सार्वजनिक वस्तुओं का कोई भी गुण नहीं पाया जाता है। इसमें व्यक्तिगत लाभ होता है। उपभोग में प्रतिस्पर्द्धा होती है अर्थात एक व्यक्ति उपभोग करता है तो शेष सब उपभोग नहीं कर सकते है। निजी वस्तुओं की कीमते होती है। इसमें व्यक्ति स्वयं उपभोग करता है और दूसरों को इसके उपभोग से वंचित कर सकता है। निजी वस्तुओं की लागतें होती है अतः कीमतें भी होती है।

   सामजिक वस्तुओं का विनियम एक व्यक्ति के स्थान पर अनेक व्यक्तियों को प्रभावित करता है। जैसे मच्छर मारने की दवा का छिड़काव। हालांकि सार्वजनिक

टिप्पणी

वस्तुओं का लाभ सभी उपभोक्ताओं को समान मात्रा में मिलता है, परंतु इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति समान कीमत अदा नहीं करता। इसका अर्थ यह है कि जब एक उत्पाद एक व्यक्ति के उपभोग के बाद भी अन्य व्यक्तियों के लिए उसी मात्रा में उपलब्ध होता है, तब वह सार्वजनिक उत्पाद होता है। जैसे– टी.वी. प्रोग्राम, मुनिसिपल पार्क, स्ट्रीट लाइटें, रेडियो प्रोग्राम इत्यादि।

सार्वजनिक वस्तु है जिसका संतुलन बिंदु यह है कि इसमें जितना उत्पादन होता है उतनी ही मात्रा में सभी उपभोक्ताओं को मिलता है तथा सभी अलग–अलग मात्रा में उपभोग करते हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

3. वे वस्तुएं जो जनता को सामूहिक लाभ पहुंचाती हैं कौन–सी वस्तुएं कहलाती हैं?

   (क) प्राथमिक (ख) निजी

   (ग) सामाजिक (घ) सैन्य

4. सार्वजनिक वस्तुओं की पूर्ति कहां से की जाती है?

   (क) सरकारी कोष से (ख) जनता से

   (ग) व्यापारिक कोष से (घ) वित्तीय कोष से

1.4 अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धांत

सार्वजनिक वित्त प्रत्येक अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसका मुख्य उद्देश्य अधिकतम सार्वजनिक लाभ प्राप्त करना है। राजस्व के इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए डा. डाल्टन तथा प्रो. पीगू ने अधिकतम सार्वजनिक लाभ के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। यह सिद्धांत राजस्व के दोनों पक्षों, अर्थात सरकार की आय कर तथा सार्वजनिक व्यय को ध्यान में रखता है सामाजिक लाभ का सिद्धांत इस तथ्य पर आधारित है कि न तो प्रत्येक कर एक बुराई है और न ही प्रत्येक व्यय एक अच्छाई है। कर तथा सार्वजनिक व्यय के प्रभावों के बीच संतुलन की आवश्यकता है, ताकि अधिकतम सार्वजनिक लाभ प्राप्त किया जा सके। अधिकतम सार्वजनिक लाभ सिद्धांतों में इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास किया जाता है कि सार्वजनिक बजट का आकार क्या होना चाहिए। इस सिद्धांत की संरचना राजस्व की सीमांत सार्वजनिक लागत और सार्वजनिक के सीमांत सार्वजनिक लाभ की अवधारणाओं पर आधारित है। प्रत्येक देश की सरकार के कार्यों में बहुत अधिक वृद्धि हो गयी है। सरकार का काम केवल शांति या व्यवस्था कायम रखना नहीं है बल्कि सरकार आर्थिक विकासपूर्ण रोजगार, कीमत स्थिरता, निर्धनता उन्मूलन, आय तथा धन के समान वितरण संबंधी कार्य भी करती है। सरकार समाज के लिए एक सहायक, एक रखवाले तथा एक नियंत्रक की भूमिकाएं निभाती है तथा संदर्भ में समाज के लाभ के लिए अनेक कार्य करती है। इन गतिविधियों के वित्त पोषण का अवतरण सरकारी बजट में व्यय मदो के रूप में होता है। इसके लिए

टिप्पणी

सरकार राजस्व जुटाने का प्रयत्न करती है। परन्तु जिस प्रकार सरकारी व्यय में वृद्धि समाज की सरकारी सेवाओं से मिलने वाले हित का द्योतक है ठीक उसी प्रकार सरकार की राजस्व प्राप्तियां समाज को होने वाली हानियों को दर्शाती है। सरकार अपनी गतिविधियों का क्षेत्र तथा बजट का आकार इस ढंग से निर्धारित करे जिससे समाज को अधिकतम लाभ की प्राप्ति हो। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु सार्वजनिक वित्त के सिद्धांतकारों ने कुछ ऐसी कसौटियों का चुनाव किया है जिन्हें अधिकतम सार्वजनिक लाभ के सिद्धांत के नाम से जाना जाता है।

इस सिद्धांत के संदर्भ में अधिकतक सार्वजनिक लाभ का अर्थ सकल लाभ न लेकर निवल लिया जाता है। सार्वजनिक वित्त की विषय–सामगी में इस सिद्धांत का प्रयोग बजट के आकार को निर्धारित करने तथा सरकार की गतिविधियों की सीमाएं तय करने के लिए किया जाता है। बुनियादी तौर पर इस सिद्धांत का यह कहना है कि सरकार की हर गतिविधि से समाज को

- लाभ प्राप्ति होती है; अथवा
- हानि पहुंचती है; अथवा
- लाभ प्राप्ति के साथ–साथ हानि भी होती है।

अतः सरकार को केवल उन्हीं गतिविधियों का चुनाव करना चाहिए तथा उन्हें उसी हद तक अपनाना चाहिए जिनसे समाज को निवल लाभ की प्राप्ति (अर्थात् हानि की तुलना में लाभ की अधिकता) की अपेक्षा हो। क्योंकि सरकार की हर गतिविधि इसके बजट के व्यय अथवा राजस्व पक्ष में वित्तीय आंकड़ों के रूप में अवतरित होती हैं

अतः सरकार के सभी निर्णयों का प्रभाव इसके बजट के आकार पर भी पड़ता है। इस प्रकार इस सिद्धांत द्वारा सुझाए गए विश्लेषण–पथ पर चलते हुए हम सरकारी बजट का इष्टतम आकार निर्धारित कर सकने की आशा कर सकते हैं।

इसी कथन को अन्य शब्दों में भी कहा जा सकता है कि समाज के लाभ और अहित में सरकार एक बहु–आयामी और जटिल भूमिका निभाती है। वह समाज की बहु–विध सहायक होने के साथ–साथ उसकी रक्षा भी करती है तथा उसके नियंत्रण का दायित्व भी निभाती है। यह अपेक्षा की जाती है कि यह सब करने के पीछे उसका उद्देश्य यह रहता है कि समाज के निवल लाभ को अधिकतम संभव समा तक बढ़ाया जाए।

सरकारी गतिविधियों का वित्त पोषण सरकारी बजट में व्यय मदों के रूप में प्रकट होता है। इसके लिए सरकार राजस्व जुटाने का प्रयत्न करती है। परंतु जब बजटीय व्यय और राजस्व का सार्वजनिक लाभ एवं अहित के साथ जोड़ने का प्रश्न आता है तो "अधिकतम सार्वजनिक लाभ के सिद्धांत" में कुछ यथार्थ अवधारणाओं का सहारा लिया जाता है अर्थात् यह मान लिया जाता है कि–

- राज्य क्षेत्र अर्थव्यवस्था का एक अभिन्न अंग नहीं हो;
- हर सरकारी व्यय से समाज को लाभ–प्राप्ति होती है; तथा
- सरकार की हर राजस्व–प्राप्ति से समाज को हानि पहुंचती है।

टिप्पणी

सिद्धांत का विकास

प्रारंभ में कई अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धांत को उचित विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से न देखने की भूल की। उन्होंने कई ऐसी अयथार्थ मान्यताओं का सहारा लिया जिनसे सरकार की बजटीय गतिविधियों के आकार के प्रति दोषपूर्ण निष्कर्ष निकलते थे। उनकी एक बड़ी भूल यह थी कि उन्होंने सरकार को अर्थव्यवस्था का एक अभिन्न अंग न मानते हुए इसे अर्थव्यवस्था पर थोपी गई एक ऐसी आवश्यक प्रभुता माना जिसके बिना स्वयं समाज और अर्थव्यवस्था के अस्तित्व के ही लुप्त हो जाने का भय होता है। अतः उनके अनुसार राज्य अर्थव्यवस्था पर एक ऐसा बोझ है जिससे बचना तो संभव नहीं है, परंतु जिसके आकार को न्यूनतम रखने का प्रयत्न किया जा सकता है। इस मतानुसार समाज के लिए सर्वोत्तम स्थिति वही है जिसमें राज्य की गतिविधियों को यथासंभव न्यूनतम स्तर पर सीमित कर दिया गया हो। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इन विचारकों के मतानुसार हर कर की अदायगी से समाज को हानि पहुंचती है क्यांकि कर के माध्यम से समाज के संसाधन राज्य को हस्तांतरिक होते हैं। इसका कर राजस्व दोनों न्यूनतम संभव स्तर पर हों और सरकार का कार्यक्षेत्र अति संकुचित हो।

मान्यताएं– यदि हम इन अयथार्थ मान्यताओं को स्वीकार लें कि हर कर की अदायगी से अर्थव्यवस्था संसाधन खोती है और प्रत्येक सार्वजनिक व्यय द्वारा से संसाधनों की प्रापित होती है तो हम सार्वजनिक बजट के एक ऐसे आकार का अनुमान लगा सकते हैं जिससे समाज को अधिकतम संभव निवल लाभ की प्राप्ति हो। इस अनुमान की प्रक्रिया को सरल बनाए रखने के लिए निम्नलिखित अतिरिक्त अवधारणाओं की भी आवश्यकता पड़ती है–

1. सरकार का बजट सदैव संतुलित रहता है, अर्थात् उसकी आय (राजस्व) और व्यय बराकर रहते हैं। व्यय के पश्चात उसके पास आय का कोई भाग नहीं बचता और न ही निर्धारित व्यय के लिए आय कम पड़ती है।
2. राज्य की समस्त आय कर–राजस्व के रूप में होता है। इसकी प्राप्तियों में कर–भिन्न घटक जैसे के ब्याज, सार्वजनिक उद्यमों से लाभ, जुर्माने, शुल्क परिलब्धियां आदि बिल्कुल नहीं होते।
3 कराधान से समाज को होने वाली हानि की सीमांत मात्रा कर के साथ–साथ बढ़ती है अर्थात् कराधान पर वर्द्धमान सीमांत सार्वजनिक लागत का नियम लागू होता है।
4 सार्वजनिक व्यय पर ह्रासमान सीमांत सार्वजनिक लाभ का नियम लागू होता है, अर्थात् सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के साथ–साथ समाज को इससे होने वाले लाभ में वृद्धि की दर घटती जाती है। इसका कारण यह है कि बढ़ते सार्वजनिक व्यय से क्रमशः कम हितकर मुद्दों का वित्त–पोषण होने लगता है।

इस प्रकार यदि हम बजटीय आय–व्यय की प्रथम इकाई से प्रारंभ करें (अथवा जब बजट का कर–राजस्व तथा व्यय दोनों एक–एक रुपया हों), तो सीमांत सार्वजनिक लाभ की मात्रा सीमांत सार्वजनिक हानि की मात्रा से कही अधिक होती है। परन्तु बजट का आकार बढ़ने के साथ–साथ कर–राजस्व और व्यय दोनों बढ़ते हैं। इसके

टिप्पणी

फलस्वरूप जहां एक ओर कर–राजस्व से उत्पादित सीमांत सार्वजनिक हानि में वृद्धि होती जाती है, वहीं दूसरी ओर सार्वजनिक व्यय से उत्पादित सीमांत सार्वजनिक लाभ घटता जाता है। अतः एक स्थिति वह आती है जब घटता सीमांत सार्वजनिक लाभ और बढ़ती सीमांत सार्वजनिक हानि एक–दूसरे के बराबर हो जाते हैं। इस सीमा पर पहुंचने तक बजट के आकार में वृद्धि से समाज के निवल लाभ में भी बढ़ोतरी होती है। परंतु यदि सरकार अपने बजट के आकार को इस सीमा से भी अधिक बढ़ाने का प्रयास करे तो सीमांत सार्वजनिक हानि की मात्रा सीमांत सार्वजनिक लाभ की मात्रा से अधिक हो जाने के कारण समाज का निवल लाभ घटने लगता है। अतः सरकार को अपने बजट के आकार में और वृद्धि नहीं करनी चाहिए। इसी प्रकार यदि बजट का आकार उपरोक्त सीमा से छोट रहा जाए तो समाज बजट से प्राप्य अधिकतम संभव निवल लाभ के एक अंश से वंचित रह जाता है। निष्कर्ष यह कि अधिकतम सार्वजनिक लाभ के सिद्धांतानुसार बजट का आकार वह होना चाहिए जहां सार्वजनिक व्यय का सीमांत सार्वजनिक लाभ और सार्वजनिक राजस्व की सीमांत सार्वजनिक हानि में समानता हो।

रेखाचित्र द्वारा व्याख्या

इस सिद्धांत की उपर्युक्त व्याख्या निम्न रेखाचित्र के द्वारा भी की जा रही है। इसमें X–अक्ष पर सार्वजनिक राजस्व तथा व्यय की मात्राओं को अंकित किया गया है। तथा Y–अक्ष पर सीमांत सार्वजनिक लाभ तथा सीमांत सार्वजनिक हानि की मात्राओं को अंकित किया गया है। सर्वप्रथम BB′वक्र पर विचार करें। यह सार्वजनिक व्यय से होने वाले सीमांत सार्वजनिक लाभ को दर्शाता है। इसकी प्रारंभिक मात्रा OB धनात्मक (positive है तथा सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के साथ–साथ घटती जाती है। इस कारण BB′ का ढाल (slope) भी मांग वक्र के ढाल की भांति नकारात्मक (negative) है। DD′ वक्र पर राजस्व से होने वाली सीमांत सार्वजनिक हानि को दर्शाता है। इसका प्रारंभ X–अक्ष के नीचे से होता है, क्योंकि कराधान से समाज को केवल हानि ही मिलती है। कर राजस्व की मात्रा बढ़ने के साथ–साथ इस हानि की सीमांत मात्रा में वृद्धि होती जाती है। जिसके फलस्वरूप DD′वक्र की X–अक्ष से दूरी बढ़ती जाती है तथा इसका ढाल भी नकारात्मक होता है।

सीमांत सार्वजनिक लाभ की मात्राओं में से सीमांत हानि की मात्राएं घटाने पर सीमांत सार्वजनिक निवल लाभ की मात्राएं मिलती हैं। इन निवल मात्राओं का प्रमापन वक्रNN′द्वारा दर्शाया गया है। वक्र NN′के हर विन्दु की X–अक्ष से दूरी, BB′वक्र तथा DD′के तदनुरूप बिन्दुओं की X–अक्ष से दूरियों के अंतर के बराबर होती है। उदाहरणार्थ निवल लाभ की प्रारंभिक मात्रा ON = BO– OD है। इसी प्रकार बजट के आकार में बढ़ोतरी के साथ–साथ सीमांत सार्वजनिक लाभ की घटती मात्रा तथा सीमांत सार्वजनिक हानि की बढ़ती जाती है तथा NN′वक्र का ढाल भी नकारात्मक होता है। रेखाचित्र के अनुसार जब बजट का आकार OM हो तो निवल लाभ की सीमांत मात्रा शून्य हो जाती है तथा यदि बजट का आकार OM से भी बड़ा हो तो निवल लाभ की सीमांत मात्रा नकारात्मक हो जाती है। निष्कर्ष यह निकलता है कि बजट का इष्टतम आकार OM के बराबर बैठता है तथा इस पर समाज को कुल ONM के बराबर निवल लाभ की प्रापित होती है। बजट का आकार OM से कम होने पर समाज को ONM के बराकर विल लाभ नहीं मिल पाता तथा यदि बजट का आकार OM

से बढ़ा दिया जाए तो भी निवल लाभ की कुल मात्रा में कमी होने लगती है। निवल सीमांत लाभ OM से छोटे बजट पर धनात्मक, OM के बराबर पर शून्य तथा OM से बड़े बजट पर नकारात्मक होता है।

टिप्पणी

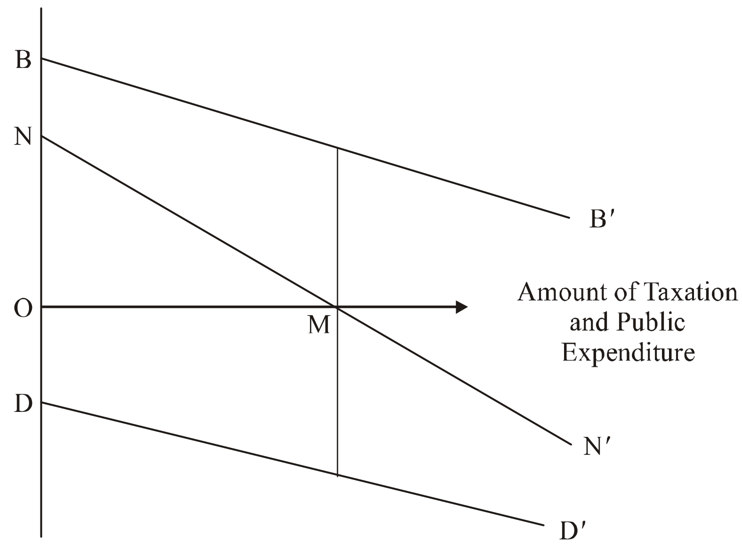

रेखाचित्र

सिद्धांत की त्रुटियां

सैद्धांतिक तथा यथार्थता के दृष्टिकोण से इस सिद्धान्त के उपर्युक्त सरल ढांचे में कई त्रुटियां हैं जिनका संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया गया है–

1. **राज्य का अपना अस्तित्व**– इस सिद्धांत की सभी संकल्पनाओं से सहमत होते हुए भी इसको दोषपूर्ण सिद्ध किया जा सकता है। यदि हम इस तथ्य को स्वीकार लें कि राज्य का अपना अस्तित्व समाज तथा अर्थव्यवस्था के लिए अनिवार्य है, तो स्पष्ट है कि राज्य के अस्तित्व मात्र से भी समाज को लाभ प्राप्ति होती है। परंतु राज्य से समाज को मिलने वाले इस लाभ की गिनती इस सिद्धांत में नहीं की जाती है। इसका अर्थ यह बनता है कि इस सिद्धांत द्वारा प्रमाणित सार्वजनिक निवल लाभ की मात्रा वास्तविक मात्रा से सदैव कम होती है।
2. **कराधान तथा व्यय के मुद्दे** – प्रो. डाल्टन के कथनासुार यह धारणा गलत है कि हर कर समाज पर एक बोझ होता है। किसी कर का हितकर अथवा हानिकारक होना इस बात पर निर्भर करता है कि यह कर किस कराधार पर तथा कैसे लगाया गया है। इस तथ्य के कई उदाहरण दिए जा सकते हैं। नशीले पदार्थों तथा अन्य हानिकारक वस्तुओं के सेवन को करारोपण द्वारा हतोत्साहित करने से समाज पर हितकर प्रभाव पड़ने की आशा की जाती है। परन्तु इसके विपरीत स्वास्थ्य और शिक्षा सेवाओं आदि पर करारोपण समाज को हानि पहुंचाते हैं। इसी प्रकार जहां सरकार द्वारा अपने उपभोग व्यय में वृद्धि करना समाज के लिए हानिकारक हो सकता है, वहीं सार्वजनिक व्यय के माध्यम से सार्वजनिक विषमताएं कम करना तथा आर्थिक विकास को बढ़ावा देना हितकर माना जाता है।

टिप्पणी

3. **बजट की कालावधि**— इस सिद्धांत का यह कहना गलत है कि हर बजट से उत्पन्न होने वाले लाभ तथा हानियां उसकी अपनी कालावधि तक ही सीमत रहते हैं। हर विचाराधीन बजट की कालावधि में इससे पहले के बजटों के प्रभाव भी देखने को मिलते हैं और इसी प्रकार इसके प्रभाव भविष्य में भी झलकते हैं। अतः सार्वजनिक बजट के निवल प्रभावों को अधिकतम संभव सीमा तक बढ़ाने के लिए इसके प्रभावों के कालांतर में फैलाव की ठीक—ठीक जानकारी होना आवश्यक है।

4. **अर्थहीन परिणाम**— यदि हम इस सिद्धांत की इन मान्यताओं को स्वीकार कर लें कि हर कर समाज पर एक बोझ है और हर सार्वजनिक व्यय समाज के लिए हितकर है, तो इसका एक अर्थहीन परिणाम यह निकलता है कि सरकार को अपना सारा राजस्व कर—भिन्न स्रोतों से ही प्राप्त करना चाहिए तथा अपने बजट का आकार यथासंभव बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि बाजार उधार तथा करेंसी सृजन भी कर—भिन्न प्राप्तियों के ही रूप हैं, अतः हम यह भी कह सकते हैं कि यदि सरकार के पूरे बजटीय व्यय का वित्त—पोषण उधार और करेंसी सृजन द्वारा किया जाए तो समाज के निवल लाभ को इच्छानुसार बढ़ाया जा सकता है।

   यह सिद्धांत इस तथ्य को भी नकारता है कि सरकार द्वारा करों की वसूली से समाज के संसाधनों का विनाश नहीं होता यद्यपि वास्तविकता यह है कि वे केवल करदाताओं से सरकार को हस्तांतरित हो जाते हैं। इसी प्रकार सरकारी व्यय द्वारा अर्थव्यवस्था के संसाधनों में कोई वृद्धि नहीं होती। वास्तव में संसाधनों में वृद्धि एवं कमल करों तथा व्यय संबंधित गतिविधियों की प्रतिक्रिया के रूप में ही होती है। उदाहरण के लिए सरकार गतिविधियों से बचत तथा निवेश प्रोत्साहित होकर आर्थिक विकास की दर को सुदृढ़ कर सकते हैं।

5. **अनिवार्य व्यय—घटक**— हर सरकार के बजट में कुछ ऐसी अनिवार्य व्यय मदें होती है जिनके वित्त—पोषक की व्यवस्था करना आवश्यक रहता है। इन मदों में सरकार का अपना अस्तित्व, देश की सुरक्षा व्यवस्था, पहले से लिए गए ऋणों से संबद्ध अदायगियां आदि तो रहती ही हैं, इनके अतिरिक्त सरकार अन्य कई मदों पर भी व्यय करने के लिए कानूनीतौर पर बाध्य होती है। उदाहरणार्थ इसे कोर्ट के हर निर्णय और आज्ञा का पालन करना पड़ता है। इन खर्चों के बारे में सार्वजनिक लाभ तथा हानि जैसे अवधारणाओं पर विचार करने का सरकार को कोई अधिकार नहीं होता। इन मदों के वित्त—पोषण में कटौती संभव नहीं होती, केवल कुछ मामलों में वृद्धि की ही संभावना होती है।

6. **प्रभावों की अमापनीयता**— राज्य की वित्तीय गतिविधियों के प्रभाव अति जटिल होने के साथ—साथ प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में होते हैं। इस कारण उनमें से अधिकतर का मात्रीकरण कर पाना लगभग असंभव होता है। यह भी ध्यानयोग्य तथ्य है कि बजटीय प्रभाव केवल आर्थिक न होकर

गैर–आर्थिक भी होते हैं जिसके कारण मात्रीकरण की समस्या और भी कठिन हो जाती है। इस कठिनाई के कारण बजट के इष्टतम आकार का अनुमान लगाना भी असंभव हो जाता है।

टिप्पणी

7. **बजट संतुलन**– वस्तुपरक विश्लेषण के आधार पर इस दावे की पुष्टि की जा सकती है कि सरकार द्वारा अपने बजट को सदैव संतुलित बनाए रखने की नीति सैद्धांतिक और वास्तविकता के स्तर पर हानिकारक हो सकती है। आजकल अर्थशास्त्रियों की सर्वमान्य धारणाओं में से एक यह भी है कि कुछ परिस्थितियों में सरकार द्वारा बजटीय घाटे की नीति को अपनानाही हितकर रहता है, यद्यपि कुछ अन्य परिस्थितियों में बजट–अधिशेष की आवश्यकता भी पड़ सकती है।

   इस संदर्भ में आधुनिक अर्थव्यवस्था की परस्पर जटिल निर्भरता के तथ्य को भी अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए। बाजार शक्तियों की प्रधानता के कारण आधुनिक अर्थव्यवस्थाएं चक्रीय उतार–चढ़ावों से पीड़ितरहती है। ऐसी स्थिति में हर सरकार का यह दायित्व बनता है कि वह अपनी राजकोषीय नीति के यथोचित प्रयोग द्वारा अर्थव्यवस्था और समाज की विभिन्न व्याधियों से रक्षा का प्रयत्न करे और आवश्यकतानुसार असंतुलित बजटीय नीति अपनाने के लिए भी तत्पर रहे।

8. **बहु–आयामी अध्ययन**– विचाराधीन सिद्धांत में कर–राजस्व और सार्वजनिक व्यय की केवल सकल मात्राओं पर ही विचार किया जाता है, जबकि उनके घटकों के तुलनात्मक आकारों तथा उनसे संबद्ध अन्य आयामों की भूमिका पर विचार करना उससे भी अधिक महत्वपूर्ण होता है। सरकार की प्राप्तियों तथा व्यय के इन आयामों पर विचार करने के पश्चात् ही उनसे होने वाले सार्वजनिक हितों और अहितों का अनुमान लगाया जा सकता है। इन पर विचार करने पर कई अन्य तथ्यों, जैसे कि देश के संस्थानक और आर्थिक संघटनों की सार्थकता तथा उनसे उत्पादित समस्याएं भी सामने आती है। मूलभूत तथ्य यह है कि किसी भी बजटीय नीति का स्वयं में कोई अर्थ नहीं बनता। उसकी सार्थकता केवल इन समस्याओं के समाधान में योगदान कर आधारित है।

9. **लाभान्वित तथा हानि सहने वालों की पहचान**–एक आधुनिक समाज में सरकारी गतिविधियों से प्रभावित लोगों की पहचान करना, उनके हितों–अहितों की उपयुक्त जानकारी प्राप्त करना, तथा उनका मानकीकृत प्रमापन लगभग असंभव कार्य है।

एक प्रश्न यह उठता है कि यदि यह सिद्धांत इतना त्रुटिपूर्ण है तो क्या इसे पूरी तरह त्याग देना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर हैंः "कदापि नहीं, प्रत्युत इसका एक ऐसा संशोधित रूप अपनाया जाना चाहिए जिससे यह विभिन्न उपयोगी निष्कर्ष प्रदान करने में सक्षम हो जाए।" इस नीति के पक्ष में तर्काधार को दो भागों में बांटा जा सकता है। पहले भाग में यह दर्शाने के पश्चात् कि सरकारी गतिविधियों को न्यूनतम संभव स्तर पर रखने की नीति मूलतः दोषपूर्ण है, दूसरे भाग में यह दर्शाया जा सकता है कि सरकार अपनी बजटीय नीतियों को कुछ ऐसी कसौटियों के आधार पर निर्मित कर

सकती है जिससे इस सिद्धांत के संशोधित रूप को कम से कम आंशिक रूप में अपनाना अवश्य संभव है।

सरकारी गतिविधियों का स्तर

टिप्पणी

राज्य की गतिविधियों को न्यूनतम पर सीमित रखने का औचित्य दो मूल मान्यताओं पर आधारित है, अर्थात्

- बाजार व्यवस्था द्वारा संचालित निजी क्षेत्र में पूर्ण रोजगार बनाए रखने की क्षमता है; तथा
- इसकी कार्यकुशलता सदैव सार्वजनिक क्षेत्र से अधिक होती है।

परन्तु यदि इन मान्यताओं में से किसी एक को भी त्याग दिया जाए तो यह औचित्य आधारहीन रह जाता है। उदाहरण के लिए यदि राज्य–क्षेत्र की तुलना में बाजार व्यवस्था की कार्यकुशलता कम हो तो सरकारी गतिविधियों की सीमाएं निर्धारित करने का कोई मापदंड नहीं बचता। इसी प्रकार यदि निजी क्षेत्र पूर्ण रोजगार लाने में अक्षम हो तो राज्य के लिए अहस्तक्षेप की नीति को त्यागना आवश्यक हो जाता है। इसके अतिरिक्त यदि हम यह भी मान लें कि निजी क्षेत्र सार्वजनिक क्षेत्र से सदैव अधिक कार्यकुशल होता है, तो भी कई ऐसी स्थितियां होती है जिनमें यह अर्थव्यवस्था के उद्देश्यों की इष्टतम प्राप्ति में असफल रहता है। इन उद्देश्यों में पूर्ण रोजगार, पूंजी निर्माण, विकास की दर में बढ़ोतरी, कीमतों में स्थिरता, आय एवं धन का न्यायोचित वितरण आदि को सुनिश्चित करना गिनवाए जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में राज्य के लिए इन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु एक सक्रिय भूमिका का अपनाना अनिवार्य हो जाता है।

एक भ्रामक धारणा यह भी है कि बाजार–व्यवस्था द्वारा संचालित अर्थव्यवस्था की गतिविधियां समाज की वास्तविक आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुकूलतम होती है। परन्तु यह धारणा गलत है और ऐसा होने के कई कारण हैं।

(क) **मांग का ढांचा और वितरणीय असमानताएं**– बाजार प्रक्रिया द्वारा संचालित अर्थव्यवस्था में मांग का ढांचा उपभोक्ताओं की वास्तविक आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के आधार पर नहीं प्रत्युत उनकी क्रय–शक्ति और उनके द्वारा प्रदर्शित मां–प्राथमिकताओं द्वारा निर्मित होता है। स्मरणीय है कि ऐसी अर्थव्यवस्था में आय और धन (तथा इसे परिणामस्वरूप क्रय–शक्ति) का वितरण समाज के सदस्यों की वास्तविक आवश्यकताओं के आधार पर न होकर संसाधनों के स्वामित्व आदि के आधार पर होता है। तथा इसके परिणामस्वरूप मांग का ढांचा भी समाज की वास्तविक आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुकूल नहीं बन पाता। इसी कारण अनेक अति–आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं के अभाव के साथ–साथ विलासिता की अनेक वस्तुओं का बाहुल्य देखने को मिलता है।

(ख) **अन्य सीमाएं**– अनियन्त्रित बाजार–व्यवस्था में बिक्री–व्यय, अप्रयुक्त उत्पादन क्षमता, जमाखोरी और सट्टाबाजी आदि के माध्यम से एकाधिकारिक तत्व पनपते हैं और संसाधनों के अपव्यय को बढ़ावा मिलता है।

टिप्पणी

सिद्धांत की कसौटियां

ध्यानयोग्य है कि सार्वजनिक बजट द्वारा सार्वजनिक निवल लाभ में बढ़ोतरी तभी संभव है जब बजटीय नीतियों का चुनाव उन कसौटियों के आधार पर किया जाए जो वास्तविकता के निकट हों। अतः हमें सर्वप्रथम इस तथ्य को स्वीकारना चाहिए कि राज्य अर्थव्यवस्था का एक अभिन्न अंग होता है। ऐसा मानने पर उपरोक्त सिद्धांत की कई अवधारणाएं निरर्थक हो जाती हैं, जैसा कि यह कहना कि हर कर अर्थव्यवस्था के साधनों में कमी करता है तथा हर सार्वजनिक व्यय से उनमें बढ़ोतरी होती है। इसी प्रकार कुल कर–राजस्व और कुल व्यय के अतिरिक्त विभिन्न करों और व्यय मदों के घटकों, दरों, राशियों और प्रभावो पर ध्यान देना अधिक अर्थपूर्ण हो जाता है। ध्यानयोग्य है कि सरकार करारोपण केवल अपने व्यय के वित्त–पोषण हेतु साधन जुटाने के लिए ही नहीं करती। उसके सामने आय और धन वितरण, एकाधिकारिकता और मुद्रा स्फीति का नियंत्रण तथा कई मुद्दे भी रहते हैं। कर–प्रभावों के पूरे अध्ययन में उनके भार के आयाम पर ध्यान देने का भी औचित्य रहता है। इसी प्रकार सार्वजनिक व्यय के विविध आयामों पर दृष्टि डाले बिना उसके प्रभावों की पूरी जानकारी नहीं मिल पाती।

सार्वजनिक बजट का इस प्रकार समूचा अध्ययन किए जाने पर ही इस बात का पता चलता है कि कर–ढांचे में किस प्रकार के परिवर्तन युक्तिसंगत रहेंगे। परन्तु इस प्रकार का अध्ययन कोई सरल कार्य नहीं है। कारण यह कि राज्य की बहुत–सी गतिविधियों (जैसे कि शिक्षा का विस्तार, स्वास्थ्य और स्वच्छता में उन्नति, सार्वजनिक कुरीतियों का उन्मूलन आदि) के प्रभावों को मात्राबद्ध नहीं किया जा सकता है।

कसौटियों का चुनाव

यद्यपि राज्य की अधिकतर गतिविधियों के प्रभावों को मात्राबद्ध कर पाना लगभग असंभव है फिर भी अर्थशास्त्रियों ने कुछ ऐसी वस्तुपरक कसौटियों की खोज की है जिनके आधार पर इस समस्या से किसी हद तक बचा जा सकता है। इन कसौटियों का चुनाव इस आधार पर किया जाता है कि हर समाज के सामने कुछ ऐसे उद्देश्य होते हैं जिन पर लगभग पूरा समाज एकमत होता है। इस पर प्रो. डाल्टन ने ऐसे दो उद्देश्यों अथवा वस्तुपरक कसौटियों को प्रतिपादित किया है–

(i) प्रथम कसौटी समाज का परिरक्षण है। अधिकतर लोग इस बात पर सहमति प्रकट करते हैं कि समाज के मूलभूत मूल्यों और ढांचे को सुरक्षित रखने का पूर्ण प्रयत्न करना राज्य के मुख्य दायित्वों में से एक है। अतः इस कारण ऐसी बजटीय नीतियां जिनसे समाज को समुचित परिरक्षण मिलता हो, समाज के लिए हितकर है।

(ii) दूसरी कसौटी समाज के आर्थिक कल्याण में बढ़ोतरी की है। इसके दो भाग हैं, अर्थात्

(1) उत्पादन में सुधार; तथा (2) राष्ट्रीय आय के वितरण में सुधार।

उत्पादन में सुधार का अर्थ उत्पादन में बढ़ोतरी न होकर अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता में वृद्धि है। इसका कारण यह है कि उत्पादन में पूंजी–भक्षण जैसी विधियों द्वारा भी अल्पकालीन वृद्धि की जा सकती है, परंतु इस प्रकार की वृद्धि दीर्घकाल में वहनीय

वृद्धि तभी संभव है जब यह पूंजी निर्माण, बेरोजगारी में कमी, साधनों के बेहतर उपयोग (अर्थात् बेहतर तकनीक कार्यक्षमता) तथा श्रमिकों की उत्पादन क्षमता में वृद्धि जैसे तत्वों पर आधारित हो। इस कारण यानि सार्वजनिक बजटीय नीतियां अर्थव्यवस्था द्वारा वहनीय उत्पादन बढ़ोतरी की प्राप्ति में सहायक हों तो यह मानना चाहिए कि इनसे सार्वजनिक लाभ में भी वृद्धि हो रही है।

आर्थिक कल्याण का दूसरा भाग, अर्थात् राष्ट्रीय आय के वितरण में सुधार एक जटिल अवधारणा है। इसमें वितरण के दो पहलू अर्थात् कार्यकुशलता और नैतिकता शामिल हैं; और ये दोनों पहलू एक–दूसरे से इस प्रकार गुंथे रहते हैं कि इन्हें एक–दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। एक कुशलता वितरणीय व्यवस्था वह है जिसमें राष्ट्रीय आय की एक पूर्व निश्चित मात्रा से समाज के सदस्यों को अधिकतम संभव तुष्टि की प्राप्ति होती हो, अर्थात् जब समाज के सभी सदस्यों की सीमांत आय उपयोगिता समान हो। यदि वितरणीय व्यवस्था में परिवर्तन के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय से प्राप्य कुल तुष्टि में वृद्धि होती हो तो यह माना जाता है कि नैतिकता के दृष्टिकोण से भी आर्थिक कल्याण में वृद्धि हुई है।

इसके विपरीत वितरणीय नैतिकता में इस प्रश्न पर विचार किया जाता है कि आय और धन को समाज के सदस्यों में क्यों और किस आधार पर वितरित किया जाना चाहिए। इस प्रश्न के उत्तर में इस तथ्य को ध्यान में रखा जाता है कि वितरणीय व्यवस्था में किसी भी परिवर्तन का अर्थव्यवस्था की विकास दर और दीर्घकालीन उत्पादन क्षमता पर गहरा प्रभाव पढ़ता है, जिसके परिणामस्वरूप भविष्य में राष्ट्रीय आय से कुल प्राप्य तुष्टि भी घट–बढ़ सकती है। एक मतानुसार वितरणीय असमानताओं को घटाने से प्रारंभ में विकास दर और उत्पादन क्षमता प्रोत्साहित होते हैं परन्तु एक सीमा के पश्चात् यही प्रभाव नकारात्मक होने लगते हैं। इन परिस्थितियों में समाज को यह तय करना होता है कि वितरणीय असमानताओं में कमी और आर्थिक विकास आदि के लक्ष्यों में किस प्रकार संतुलन लाया जाए। इस संतुलन के बारे में एकमत के अभाव में सरकार की नीतियों में भी लगातार परिवर्तन देखने को मिलता है।

श्रीमती हिक्स द्वारा सुझाई गई कसौटियां– श्रीमती हिक्स ने जिन दो कसौटियों का वर्णन किया है, उनमें से प्रथम उत्पादन इष्टतमता, तथा दूसरी तुष्टि इष्टतमता है–

1. **उत्पादन इष्टतमता**– सामान्यतः अर्थव्यवस्था के उत्पादन साधनों के पुनर्वितरण से उत्पादन में परिवर्तन लाया जा सकता है। श्रीमती हिक्स के कथनानुसार उत्पादन उस समय इष्टतम स्तर पर होता है जब साधनों के पुनराबंटन से प्रत्येक विचाराधीन वस्तु का उत्पादन किसी अन्य वस्तु का उत्पादन घटाए बिना न बढ़ाया जा सके। परंतु इस कथन के आधार पर यह कसौटी कोई स्पष्ट निर्णय नहीं दे सकती; केवल कुछ भ्रामक परिणाम निकलने की संभावना रहती है। इसके कुछ उदाहरण निम्नालिखित हैं–

   (क) यह संभव है कि किसी वस्तु में उत्पादन में बढ़ोतरी के संग किसी अन्य वस्तु का उत्पादन घट जाए, परंन्तु इसके बावजूद बढ़ोतरी की मात्रा अधिक हो तो उत्पादन की कुल मात्रा भी बढ़ जाएगी।

(ख) इस कसौटी को कुछ कठिन शर्तों के पूरा होने पर ही अपनाया जा सकता है, जैसे कि (अ) पूर्ण रोजगार, (ब) किसी संसाधन का अपव्यय न होना तथा (स) सभी संसाधनों का इष्टतम कुशलता के स्तर पर कार्यरत होना, आदि।

(ग) यह भी संभव है कि उत्पादन घटाए जाने वाली वस्तु हानिकारक मानी जाती हो (जैसे कि तंबाकू)।

(घ) हिक्स की यह कसौटी इस अवधारणा पर आधारित है कि अर्थव्यवस्था के उत्पादन संसाधनों में किसी प्रकार की बढ़ोतरी नहीं होती। स्पष्ट है कि संसाधनों में वृद्धि होने पर किसी भरी वस्तु का उत्पादन घटाए बिना कुछ वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाया जा सकता है।

2. **तुष्टि इष्टतमता**– इस इष्टतमता के दो निर्धारण आधार हैः

(क) राष्ट्रीय स्तर पर उत्पादन तथा (ख) उसके विभिन्न घटकों की सापेक्षिक मात्राएं। राष्ट्रीय आय के घटकों में परिवर्तन द्वारा उससे प्राप्य कुल तुष्टि को घटाया अथवा बढ़ाया जा सकता है। जब ऐसी स्थिति आ जाए कि इस प्रकार कुल तुष्टि में बढ़ोतरी करना असंभव हो तो इसे तुष्टि इष्टतमता की स्थिति की संज्ञा दी जाती है। परंतु इस स्थिति को प्राप्त करने में कई रुकावटें आती है।

- तुष्टि को किसी वस्तुपरक आधार पर नहीं मापा जा सकता है। इस कठिनाई के कारण विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं से प्राप्य तुष्टि की तुलना नहीं की जा सकती।
- इस कार्य में हमें अपने विचारों और मतों का सहारा लेने पड़ता है। इसके अतिरिक्त वस्तुओं तथा सेवाओं से प्राप्य तुष्टि–मात्राएं पूर्व–निश्चित नहीं होती, बल्कि उनमें समय, स्थान, प्रयोग तथा अन्य कई कारणों से परिवर्तन होता रहता है।

अंत में हम यह कह सकते हैं कि इस सिद्धांत द्वारा प्रतिपादित सुझाव काफी उपयोगी होते हुए भी सरलता से नहीं अपनाए जा सकते। इसकी ये त्रुटियां सैद्धांतिक और मात्रीकरण दोनों स्तरों पर विद्यमान हैं। फिर भी इस सिद्धांत का मूल कथन अपनाने योग्य है, क्योंकि इसके अनुसार सरकार की अपनी बजटीय नीतियों का मूल उद्देश्य समाज के लाभ में निवल बढ़ोतरी ही होना चाहिए और इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु व्यावहारिक स्तर पर कुछ कसौटियों की खोज की जा सकती है। अतः सरकार को चाहिए कि सर्वप्रथम विभिन्न बजटीय नीतियों और गतिविधियों के समाज और अर्थव्यवस्था पर होने वाले प्रभावों की जानकारी पाप्त करें। यह जानकारी यथासंभव हर पहलू से पूरी होनी चाहिए ताकि अधिकतम उपयोगी सिद्ध हो सके। इसके अंतर्ग सैद्धांतिक दृढ़ता और वास्तविकता के ऊंचे स्तर के अतिरिक्त अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन संभावनाओं पर भी विचार किया जाना चाहिए। इस प्रकार पूरी जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् ही सरकार अपनी बजटीय नीतियों को सही अर्थों में समाजोपयोगी बना सकती है। इस प्रक्रिया में करों और उनकी दरों के चयन, कुल

टिप्पणी

राजस्व का कर तथा कर–भिन्न घटकों में बंटवारा आदि, सभी प्रकार के प्रश्नों पर विस्तारपूर्वक विचार करने के पश्चात् उनमें उचित संशोधन किए जा सकते हैं। यही बातें सार्वजनिक व्यय और इससे संबद्ध निर्णयों पर भी लागू होती हैं। यहां पर यह कहना भी संगतियुक्त होगा कि बजटीय प्रभाविता बढ़ाने में सरकारी लेखा–व्यवस्था का भी महत्वपूर्ण योगदान रहता है। बजट के विभिन्न प्रकार के विश्लेषणात्मक रूपों की सहायता से बजटीय प्रणाली के निर्धारण, कार्यान्वयन और मूल्यांकन में कई प्रकार से सुधारों द्वारा उससे प्राप्य सार्वजनिक निवल लाभ में बढ़ोतरी की जा सकती है। इन विश्लेषणात्मक रूपों में आर्थिक एवं कार्यात्मक वर्गीकरण, शून्य–आधार बजटिंग, कार्यक्रम एवं निष्पादन बजटिंग, लिंग आधारित बजटिंग आदि शामिल हैं। सारांश यह कि सार्वजनिक बजट का कोई पूर्वनिश्चित इष्टतम आकार नहीं हो सकता। यह आकार कई आर्थिक कारकों पर निर्भर करता है और इस कारण कालांतर में सदैव परिवर्तनीय होता है। इसके अतिरिक्त बजट के इष्टतम आकार के निर्धारण में सरकार की अपनी प्रशासनिक क्षमता, समाज का संस्थानिक ढांचा, बजटीय उद्देश्य तथा उनकी व्यावहारिकता आदि का योगदान भी रहता है। अतः व्यावहारिकता के स्तर पर बजटीय राजस्व और व्यय की हर मद के सभी आयामों पर विचारोपरांत ही यह तय किया जाना चाहिए कि इस मद का बजट में कितना औचित्य है तथा इसका क्या आकार होना चाहिए।

अपनी प्रगति जांचिए

5. अधिकतम सार्वजनिक लाभ के सिद्धांत का प्रतिपादन निम्न में से किसने किया?
   (क) प्रो. डाल्टन तथा प्रो. पीगू (ख) प्रो. पीगू तथा प्रो. मार्शल
   (ग) प्रो. मार्शल तथा प्रो. डाल्टन (घ) प्रो. डाल्टन तथा प्रो. केन्स
6. सार्वजनिक व्यय पर कौन–सा नियम लागू होता है?
   (क) सीमांत सार्वजनिक लाभ
   (ख) ह्रासमान सीमांत सार्वजनिक लाभ
   (ग) उत्पादित सीमांत सार्वजनिक लाभ
   (घ) उत्पादित सीमांत सार्वजनिक हानि

1.5 आगम के स्रोत : कर आगम एवं गैर कर आगम

कर आगम को निम्न प्रकार से समझाया गया है–

1.5.1 आगम/राजस्व का अर्थ

सरकार की हर वह प्राप्ति जो निम्नलिखित दो विशेषताओं से युक्त हो, 'कर' कहलाती है–

1. कर, सरकार द्वारा लागू की गई, एक बाध्य उगाही है। सरकार को इसे बलपूर्वक वसूल करने का कानूनी अधिकार होता है। तथा करारोपित आर्थिक इकाइयों

टिप्पणी

का यह कानूनी दायित्व रहता है कि वे सरकार द्वारा आरोपित उगाहियों का सरकार को भुगतान करें।

2. कर की दूसरी विशेषता यह है कि करदाता को इसके बदले में किसी सरकारी सेवा/सुविधा से लाभान्वित होने का अधिकार नहीं मिलता (there is no quid pro quo of a tax liability or of a tax payment)। इनसे लाभान्वित होने के अधिकार का कर की अदायगी से अथवा कर की मात्रा से कोई सीधा और मात्राबद्ध संबंध नहीं होता। समाज के सदस्यों को राज्य–सेवाओं से लाभान्वित होने का अधिकार राज्य द्वारा अपनाई गई अन्य कसौटियों आदि के आधार पर मिलता है। अतः यह संभव है कि अधिक कर अदा करने वाले व्यक्ति को कम तथा थोड़ा कर देने वाले अथवा कर–मुक्त व्यक्ति को अधिक मात्रा में सरकारी सेवाएं प्राप्त हों।

सरकार को की गई सभी अदायगियों को केवल उनकी अनिवार्यता के आधार पर ही कर की संज्ञा नहीं दी जा सकती। सरकार कई ऐसी वसूलियां भी करती है जिनकी अदायगी तो अनिवार्य होती है परंतु वे कर नहीं होतीं क्योंकि अनिवार्य होते हुए भी वे सरकार द्वारा मुहैया की जाने वाली कुछ विशिष्ट वस्तुओं/सेवाओं से जुड़ी रहती हैं, जैसे कि न्यायालयों में दी गई फीसों इसके अतिरिक्त कुछ सरकारी वस्तुएं/सेवाएं ऐसी भी होती हैं जो उपभोक्ताओं को अनिवार्य रूप से क्रय करनी पड़ती हैं, तथा उनकी कीमत भी अदा करनी पड़ती है। इन सेवाओं के उदाहरणों में गलियों तथा सड़कों पर रोशनी, सफाई की व्यवस्था तथा सार्वजनिक पार्कों का रख–रखाव आदि गिनवाए जा सकते हैं। इन मामलों में समाज के किसी सदस्य को यह अधिकार नहीं दिया जाता कि वह इन सेवाओं के लिए आरोपित वित्तीय अदायगियां न करे। इसी प्रकार जब सरकार जुर्माने वसूल करती है तो इसका उद्देश्य बहुधा कुछ गतिविधियों को रोकना होता है। इसी तरह यह भी संभव है कि सरकार किसी वस्तु की पूर्ति के एकाधिकार का लाभ उठाते हुए विचाराधीन वस्तु की उचित से अधिक कीमत वसूल करने की नीति का अनुसरण करे और उसके ऐसा करने पर उपभोक्ताओं के पास इसके सिवाय कोई मार्ग न हो कि वे या तो उस वस्तु से वंचित रहें अथवा उसकी अनुचित कीमत देने को तैयार हों। कुछ लोगों का यह मत हो सकता है कि इन मामलों में केवल *कीमत–आधिक्य के अंश* को कर के रूप में मान्यता दी जानी चाहिए। परंतु ऐसा करने में एक बड़ी समस्या यह है कि विचाराधीन वस्तु की कुल कीमत को कर एवं कर–भिन्न भागों में बांटना लगभग असंभव होता है। इस कार्य की जटिलता इसलिए भी बढ़ जाती है कि बहुधा सरकारी वस्तुओं/सेवाओं की लागत कर्मियों की कार्यकुशलता में त्रुटि होने के कारण अधिक होती है, जिससे अनुमानित कर–अंश अर्थात् कीमत–आधिक्य घट जाता है।

- सरकार द्वारा किसी वसूली को कर की संज्ञा देने के लिए इसका दो कसौटियों पर खरा उतरना आवश्यक है– (क) अदायगी करने की कानूनी अनिवार्यता, तथा (ख) अदायगी के बदले में किसी सरकारी सेवा से लाभान्वित होने के अधिकार का न होना।
- इन कसौटियों के आधार पर सरकार की कई वित्तीय प्राप्तियां केवल आंशिक रूप से कर होती हैं तथा कुछ अनिवार्य रूप से देय होते हुए भी पूर्णतया गैर–कर होती हैं।

अनिवार्यता से युक्त और भी कई ऐसी अदायगियाँ हो सकती हैं जिनके बदले में सरकार को कुछ लाभ–प्राप्ति होती हो। अतः इन मामलों में उन्हें कर की संज्ञा देने पर मतभेद हो सकता है–

टिप्पणी

1. सर्वप्रथम कुछ अदायगियां ऐसी हैं जो समाज के कुछ सदस्यों के लिए विशेष तौर पर निर्धारित की जाती हैं। इन 'विशेष निर्धारणों' (special assessments) का एक मुख्य उदाहरण 'उन्नति आरोपण' (betterment levy) है जिसके द्वारा समाज के उन सदस्यों से वसूली की जाती है जो सरकारी कार्यकलापों अथवा नीतियों द्वारा विशेष रूप से लाभान्वित हुए हों और जो सरकारी मतानुसार इसकी कीमत चुकाए बिना लाभान्वित होने के अधिकारी न हों। उदाहरणार्थ सरकार द्वारा सड़कें, पार्क तथा अन्य सुविधाएं मुहैया कराने के फलस्वरूप आस–पास की ज़मीन के दाम बढ़ सकते हैं। इसी प्रकार खेती के लिए सिंचाई की सुविधा द्वारा भी ज़मीन के दामों में वृद्धि होने की संभावना रहती है। परंतु दामों में वृद्धि द्वारा यह लाभ संपत्तिदाताओं के अपने श्रम का फल नहीं माना जा सकता। इस कारण बहुधा सरकार इस वृद्धि का एक अंश 'उन्नति आरोपण' के नाम से वसूल कर लेती है। बाध्यता के दृष्टिकोण से इस आरोपण को एक कर माना जा सकता है। परंतु एक अन्य दृष्टिकोण से देखा जाए तो इस आरोपण का आधार सरकारी गतिविधियों द्वारा प्राप्त आर्थिक लाभ है। अतः इस आधार पर इसे कर की संज्ञा नहीं दी जानी चाहिए।

2. सरकार अपनी कई सेवाओं के लिए शुल्क (अर्थात फीसें) उगाहती है जैसे कि कचहरी की फीस अथवा विभिन्न प्रकार के पंजीकरण शुल्क। एक मतानुसार किसी शुल्क विशेष की दर उससे संबद्ध सेवा की लागत से अधिक हो तो इस आधिक्य को कर का ही एक रूप माना जाना चाहिए। परंतु इस प्रकार की अदायिगी को कर और कर–भिन्न अंशों में बाँटना अति कठिन कार्य है।

3. सरकार द्वारा अनिवार्य रूप से उगाहियों में जुर्माने भी शामिल हैं। परंतु इनका वर्गीकरण करों में नहीं किया जाता, क्योंकि सरकार उनका प्रयोग राजस्व जुटाने के उद्देश्य से नहीं बल्कि लोगों को अपने कानूनी कर्तव्य निभाने के लिए बाध्य करने हेतु करती है।

4. किसी भी शुल्क का उद्देश्य राजस्व जुटाना अथवा अर्थव्यवस्था की कार्य–प्रणाली में सुधार लाना अथवा इन दोनों का एक सम्मिश्रण हो सकता है। बहुधा सरकार की प्राथमिकता कई उद्देश्यों के सम्मिश्रण के लिए रहती है। इसके विपरीत कई बार किसी कर का प्रयोग केवल अर्थव्यवस्था में सुधार के लिए ही किया जाता है।

5. सरकार द्वारा करेंसी सृजन द्वारा साधन जुटाना भी कानूनी रूप से बाध्य अदायगियों का एक उदाहरण है। बहुधा करेंसी का अंकित मूल्य उसकी उत्पादन लागत से अधिक होता है; परंतु वैध मुद्रा (legal tender) होने के कारण इसे अंकित मूल्य पर स्वीकार करने से इनकार नहीं किया जा सकता।

6. सरकार अपनी वित्तीय प्राप्तियों में वृद्धि करने के लिए घाटे के बजट का सहारा ले सकती है। यदि यह बजटीय घाटा देश के केन्द्रीय बैंक से उधार लेकर पूरा किया जाए, तो मुद्रा की मात्रा और कीमतों में बढ़ोतरी के फलस्वरूप राष्ट्रीय उत्पादन का एक भाग शेष अर्थव्यवस्था से सरकार को हस्तांतरित हो जाता है। यह भी संभव

टिप्पणी

है कि सरकार केन्द्रीय बैंक अथवा अन्य ऋणदाताओं से ऋण लेते समय दबाव डालकर रियायती शर्तों पर ऋण लेने में सफल हो जाए। यदि ऐसा हो तो एक प्रकार से ये रियायतें भी कर का ही एक रूप समझी जानी चाहिए। परंतु स्मरणीय है कि सरकारी लेखों में किसी ऐसे लाभ अथवा रियायत आदि को कर–राजस्व का भाग नहीं माना जाता जिसे सरकार ने अपनी सत्ता के ज़ोर पर पाया हो।

- कुल मिलाकर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यद्यपि सरकार द्वारा की जाने वाली किसी वसूली को तभी कर की संज्ञा दी जा सकती है जब उसकी अदायगी अनिवार्य हो तथा जब अदाकर्ता को उसके बदले में सरकार से किसी प्रकार से लाभान्वित होने की अधिकार–प्राप्ति न होती हो।
- परंतु वास्तविकता में सरकार अपनी प्राप्तियों को कर और कर–भिन्न भागों में वर्गीकृत करते हुए इस नियम का ठोस ढंग से पालन नहीं कर पाती।
- वह कई ऐसी प्राप्तियों को भी कर मान लेती है जिनका ध्येय किसी प्रकार से सामाजिक अथवा आर्थिक नियमन होता है।
- इसी प्रकार कुछ मुहैया की गई वस्तुओं/सेवाओं के बदले की गई वसूली को कर और कर–भिन्न अंशों में बांटने के स्थान पर समस्त वसूली को केवल कर अथवा कर–भिन्न राजस्व मान लिया जाता है।

1.5.2 कर आगम और गैर कर आगम

भारत सरकार की आय के साधनों को दो भागों में विभाजित किया जाता है (क) आय के कर साधन (ख) आय के गैर कर साधन। आय के कर साधनों में आय कर, निगम कर, संपत्ति कर, उपहार कर, आस्ति कर, आयात–निर्यात कर एवं संघीय उत्पादन कर सम्मिलित किये जा सकते है। आय के गैर कर साधनों में राज्यों को दिए गए ऋणों पर ब्याज, नागरिक प्रशासन, नागरिक निर्माण कार्य, रेल, डाक, तार तथा करेंसी व टकसाल आदि सम्मिलित किये जा सकते है। भारत के संविधान के अंतर्गत भारत सरकार को इन मदों पर कर लगाने का अधिकार दिया गया है।

कर आगम और गैर कर आगम को दो सूचियों में बांटा गया है पहला संघ सूची और दूसरा राज्य सूची

प्रथम सूची : संघ सूची

संघ सूची में 100 इंदराज/प्रविष्टियां हैं, जिनमें से निम्नलिखित केंद्र सरकार के कर राजस्व की मदें हैं–

1. कृषि–भिन्न आय पर कर (इंदराज 82);
2. सीमा शुल्क, निर्यात शुल्क सहित (इंदराज 83);
3. भारत में उत्पादित अथवा निर्मित तम्बाकू तथा अन्य वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क (excise duty) सिवाय
   (क) मानवीय उपभोग के लिए शराब (alcoholic liquor) के, तथा

(ख) अफ़ीम, देशी भाँग तथा अन्य नशीली औषधियों एवं मादक पदार्थों के (परंतु ऐसी औषधीय और प्रसाधन सामग्रियों को छोड़कर जिनमें इन पदार्थों का प्रयोग किया गया हो) (इंदराज 84);

टिप्पणी

4. निगम कर (अर्थात् कंपनियों की आय पर कर; इसकी परिभाषा संविधान के अनुच्छेद 366 में दी गई है) (इंदराज 85);
5. कृषि भूमि को छोड़कर, व्यक्तियों और कंपनियों की परिसंपत्तियों के पूंजी मूल्य पर कर, कंपनियों की पूंजी पर कर (इंदराज 87);
6. कृषि भूमि को छोड़कर, अन्य संपत्ति पर संपदा कर (estate duty) (इंदराज 87);
7. कृषि भूमि को छोड़कर अन्य संपत्ति पर अर्थांतरण कर (इंदराज 88);
8. रेलवे, सागर तथा वायु यातायात से जाने वाले यात्रियों और वस्तुओं पर अंतस्थ कर (Terminal taxes) रेल के किरायों और भाड़ों पर कर (इंदराज 89);
9. स्टाक एक्सचेंजों और आगामी मंडियों (Future Markets) में होने वाले सौदों पर स्टाम्प शुल्कों को छोड़कर अन्य कर (इंदराज 90);
10. विनिमय पत्रों (bills of exchange) चैकों, प्रोनोटों (प्रामिस्सरी नोटों), लदान पत्रों (bills of loading), साख पत्रों (letters of credit) तथा बीमा पालिसियों, शेयरों, ऋण पत्रों (debentures), प्रतिपत्रों (proxies) और रसीदों के हस्तांतरण पर स्टाम्प शुल्क की दरें (इंदराज 91);
11. समाचार–पत्रों के क्रय–विक्रय पर तथा उनमें प्रकाशित विज्ञापनों तथा रेडियो और टेलीविजन पर प्रसारित विज्ञापनों पर कर (इंदराज 92);
12. समाचार–पत्रों को छोड़कर अन्य वस्तुओं के क्रय–विक्रय पर कर जब यह क्रय–विक्रय अंतर्राज्यीय व्यापार अथवा वाणिज्य के कारण हो (इंदराज 92-A);
13. व्यापार अथवा वाणिज्य के लिए वस्तुओं के अंतर्राज्यीय प्रेषण पर कर (इंदराज 92-B) (यह अंदराज 46वें संवैधानिक संशोधन के उपरांत फरवरी, 1983 में किया गया, ताकि कई प्रकार से होने वाली केन्द्रीय बिक्री कर की चोरी को रोका जा सके। कानूनी परिपूर्णता के लिए अनुच्छेद 366 में धारा (29-A) जोड़ी गई तथा अनुच्छेद 269 में एक अंदराज की बढ़ोतरी की गई);
14. सेवाओं पर कर (इंदराज 92-C)(88वें संवैधानिक संशोधन (2003) के परिणामस्वरूप वर्ष 2004 में किया गया अंदराज);
15. इस सूची से संबद्ध मामलों पर वे फीसें जो किसी न्यायालय में न ली गई हों (इंदराज 96);
16. सुप्रीम कोर्ट (उच्चतम न्यायालय) में ली गई फीसें (इंदराज 77);
17. कोई भी अन्य कर जिसका वर्णन राज्य सूची अथवा सहवर्ती सूची में न हो।

गैर–कर आगम/राजस्व

केन्द्रीय सरकार के गैर–कर राजस्व में निम्नलिखित मदें शामिल हैं–

1. **उधार**– संविधान के अनुच्छेद 292 के अंतर्गत भारत सरकार भारत की समेकित निधि (Consolidated Fund of India) की आश्वस्तता (guarantee) के आधार पर

टिप्पणी

देश के अंदर से तथा विदेशों से उधार ले सकती है। इस संदर्भ में संसद को अपनी इच्छानुसार ऋण की मात्रा को सीमाबद्ध करने का अधिकार है।

2. **उद्यम तथा एकाधिकार**– इस वर्ग में करेंसी, सिक्का निर्माण तथा टकसाल, भारतीय रिजर्व बैंक, रेलवे, डाक–तार तथा अन्य वाणिज्यिक और गैर–वाणिज्यिक उद्यम तथा लाटरियों आदि से होने वाली आय शामिल है।
3. **प्रशासनिक कार्यकलाप तथा आधिपत्य**– इन प्राप्तियों के उदाहरणों में (क) सरकारी संपत्ति से आय, (ख) व्यपगमन (lapses) तथा राजगमन (escheat) से मिलने वाली आय अथवा संपत्ति, (ग) युद्धक्षति पूर्ति (war indemnities), (घ) तथा अफीम की खेती, निर्माण तथा निर्यात आदि से होने वाली आय आदि शामिल हैं।

द्वितीय सूची : राज्य सूची

इस सूची में राज्यों के कार्य–विषयों और वित्तीय साधनों को दर्शाने हेतु 66 इंदराज हैं जिनमें से वित्तीय साधनों से संबद्ध निम्नलिखित हैं–

कर आगम/राजस्व

इस सूची में राज्य सरकारों के कर–राजस्व के निम्नलिखित स्रोत हैं–

1. भू–राजस्व (इंदराज 45);
2. कृषि आय पर कर (इंदराज 46);
3. कृषि के अर्थांतरण पर शुल्क (इंदराज 47);
4. कृषि भूमि पर संपदा कर (इंदराज 48);
5. भूमि खंडों तथा भवनों पर कर (इंदराज 49);
6. खनिजीय विकास हेतु संसद द्वारा पारित कानूनी प्रतिबंधनों के अंतर्गत खनन अधिकारों पर कर (इंदराज 50);
7. राज्य में निर्मित अथवा उत्पादित निम्नलिखित वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क तथा भारत में अन्य स्थानों पर निर्मित अथवा उत्पादित ऐसी ही वस्तुओं पर बराबर अथवा कम दर पर संतुलनकारी शुल्क (countervailing duties) (क) मानवीय उपभोग के लिए शराब, तथा (ख) अफीम देशी भाँग तथा नशीली औषधियां अथवा मादक पदार्थ, परंतु उन औषधीय तथा प्रसाधन सामग्रियों को छोड़कर जिनमें इन पदार्थों का प्रयोग किया गया हो। (इंदराज 51);
8. किसी स्थानीय क्षेत्र में उपभोग, प्रयोग अथवा बिक्री के लिए लाई जाने वाली वस्तुओं पर कर (इंदराज 52);
9. विद्युत के उपभोग तथा बिक्री पर कर (इंदराज 53);
10. वस्तुओं के क्रय–विक्रय पर कर, सिवाय समाचार–पत्रों के तथा सिवाय अंतर्राज्यीय बिक्री और प्रेषित माल के (इंदराज 54);
11. विज्ञापनों पर कर, सिवाय इसके जब वे समाचार–पत्रों में प्रकाशित हुए हों अथवा रेडियो या टेलीविजन पर प्रसारित हुए हों (इंदराज 55) (रेडियो और टेलीविजन

टिप्पणी

से संबद्ध टुकड़ा 1976 में 46वें संवैधानिक संशोधन के परिणामस्वरूप डाला गया।);

12. सड़कों तथा अंतर्देशीय जल–मार्गों द्वारा जाने वाले यात्रियों तथा वस्तुओं पर कर (इंदराज 56);
13. सड़कों पर चलने वाले वाहनों पर कर (इंदराज 57);
14. पशुओं तथा नावों पर कर (इंदराज 58);
15. पथ कर, अर्थात टोल्स (इंदराज 59);
16. धंधों, व्यापारों, रोज़गारों तथा पेशों (professions, trades, callings and employments) पर कर (इंदराज 60);
17. प्रतिव्यक्ति कर (capitation taxes) (इंदराज 61);
18. विलासिता की वस्तुओं पर कर (मनोरंजन, आमोद–प्रमोद, शर्तबाज़ी तथा जुआबाज़ी betting and gambling पर करों सहित) (इंदराज 62);
19. दस्तावेज़ों पर स्टाम्प शुल्क की दरें, सिवाय उन दस्तावेज़ों के जिन पर स्टाम्प शुल्क लगाने का अधिकार भारत सरकार का हो (इंदराज 63);
20. कचहरी की फीसों को छोड़कर, राज्य सूची की मदों से संबद्ध फीसें (इंदराज 66);
21. उच्चतम न्यायालय को छोड़कर, सभी न्यायालयों में ली गई फीसें (इंदराज 65);
22. केंद्रीय करों का भाग। (संविधान के 80वें संशोधन से पूर्व केवल कुछ निर्दिष्ट करों का भाग)।

गैर–कर आगम/राजस्व

राज्यों के गैर कर आगम में निम्नलिखित शामिल हैं–

1. **उधार**– संविधान के अनुच्छेद 293 के अधीन राज्य सरकार अपनी समेकित निधि की आश्वस्तता पर उधार ले सकती है, परंतु यह उधार केवल देश के भीतर से ही लिया जा सकता है तथा ऋणदात्री भारत सरकार ही हो सकती है। राज्य के विधान मंडल द्वारा राज्य के ऋण को सीमाबद्ध किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यदि कोई राज्य सरकार केंद्रीय सरकार की ऋणी हो अथवा भारत सरकार की जमानत पर लिए गए किसी ऋण को पूरा अथवा आंशिक रूप से चुकाना बाकी हो, तो भारत सरकार का यह अधिकार बनता है कि ऐसी राज्य सरकार पर कोई भी ऐसी शर्तें लागू कर दे जिन्हें पूरा करने के पश्चात वह नया ऋण ले सके।
2. राज्य सरकार के पूर्ण अथवा अधूरे स्वामित्व वाले उद्यमों से आय।
3. राज्य सरकार के स्वामित्व में सार्वजनिक संपत्ति से आय।
4. खदानों, वनों तथा निखात निधियों से स्वत्व शुल्क (royalty from mines, forests and treasure troves)।

5. केन्द्रीय सरकार से सहायता अनुदान (grants-in-aid)।
6. केन्द्रीय सरकार से अन्य अनुदान।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

7. संघ सूची में कितना प्रविष्टियां है जो केंद्र सरकार के कर राजस्व की मदें हैं।

(क) 50 (ख) 100

(ग) 150 (घ) 200

8. संविधान के किस अनुच्छेद के अधीन राज्य सरकार अपनी समेकित निधि की आश्वस्तता पर उधार ले सकती है?

(क) अनुच्छेद 280 (ख) अनुच्छेद 285

(ग) अनुच्छेद 293 (घ) अनुच्छेद 295

1.6 करों के प्रकार : प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष कर वे कर हैं जिन्हें व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से अदा करता है तथा उनका भार उस पर ही पड़ता है, किसी अन्य व्यक्ति पर इनका भार नहीं पड़ता। इस प्रणाली के अंतर्गत करदेयता या कर का भार दोनों एक ही व्यक्ति पर होते हैं। आयकर, उपहार कर, निगमकर, आस्ति कर आदि को प्रत्यक्ष करों की श्रेणी में ही रखा गया है। प्रो. सैम्युलसन के अनुसार 'प्रत्यक्ष कर लोगों पर प्रत्यक्ष रूप से लगाए जाते हैं।'

प्रत्यक्ष करों के गुण

प्रत्यक्ष कर अनेक रूपों में लाभकारी होते हैं जिन्हें निम्नलिखित प्रकार से समझा जा सकता है:

1. **प्रगतिशील कर :** प्रत्यक्ष करों को लागू करने के लिए समानता के सिद्धांत को आधार बनाया जाता है। ये कर प्रगतिशील होते हैं। क्योंकि इनका भार निर्धन लोगों पर कम तथा धनी व्यक्तियों पर अधिक पड़ता है। प्रत्यक्ष कर समानता तथा न्याय के सिद्धांत पर आधारित होने के कारण आय की असमानता को दूर करते हैं। जिनसे अर्थव्यवस्था का विकास होता है।
2. **बचत :** प्रत्यक्ष कर लोग स्वयं सरकार के पास जमा कराते हैं। अत: सरकार को इन करों को एकत्र करने के लिए अतिरिक्त व्यय नहीं करना पड़ता। करों से प्राप्त कुल आय के मुकाबले इनके एकत्रण पर बहुत कम प्रतिशत व्यय करना पड़ता है।
3. **निश्चितता :** ये कर निश्चितता के सिद्धांत पर आधारित होते हैं। करदाता इस तथ्य से वाकिफ होता है कि उनको कितना कर कब, कहां और कैसे देना है। सरकार को भी यह निश्चितता बनी रहती है कि उसे प्रत्यक्ष करों से कितनी आय प्राप्त होगी।
4. **लोचदार :** प्रत्यक्ष करों की दर लोचदार होती है। क्योंकि सरकार आवश्यकतानुसार इन करों की दर बढ़ाकर या कम करके अपनी आय को कम या अधिक कर सकती है। जैसे भारत में 1938-39 के आयकर तथा निगमकर के आंकड़े देखें

टिप्पणी

तो कुल आय 16 करोड़ रुपए थी परंतु अब सरकार के व्यय में कई गुना वृद्धि होने से करों की दर भी बढ़ाई गई है जिससे इनसे प्राप्त आय भी गई गुना बढ़ गई है। 2000-01 में आयकर से 31,590 करोड़ तथा निगम कर से 40,000 करोड़ रुपए की आय हुई।

5. **उत्पादक :** ये कर उत्पादकता के सिद्धांत पर भी आधारित हैं। क्योंकि करों की दर कम होने पर भी सरकार को काफी आय प्राप्त हो जाती है। जैसे भारत सरकार को 1997-98 के बजट में केवल चार प्रत्यक्ष करों द्वारा ही लगभग 45,570 करोड़ रुपए की आय हुई।
6. **सरल :** ये कर सरल होते हैं। इनको समझना व इनका ब्यौरा बनाना कठिन नहीं है। इनसे संबंधित कानून भी काफी स्पष्ट होते हैं। अतः इनका अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है।
7. **सुविधा :** प्रत्यक्ष करों को कर सुविधा के सिद्धांत पर भी आधारित किया गया है। जब लोगों के पास भुगतान करने की सुविधा होती है तब वे इनका भुगतान कर सकते हैं। जैसे मासिक वेतन प्राप्त करने वालों से आय का भुगतान करते समय आयकर लिया जाता है। कुछ लोग प्रत्यक्ष करों का भुगतान एक साथ करने में सक्षम नहीं होते, अतः सरकार इन करों को किश्तों में चुकाने की सुविधा भी प्रदान कर देती है।
8. **वितरण संबंधी न्याय :** प्रत्यक्ष करों से समाज के विभिन्न वर्गों को उत्पादन साधनों के वितरण में समानता प्रदान की जा सकती है। पूंजीवादी देशों तथा अल्पविकसित देशों में आय के वितरण में काफी असमानता पाई जाती है। अतः आयकर, संपत्ति कर, मृत्यु कर आदि, जैसे प्रत्यक्ष कर आय तथा धन वितरण की असमानता को दूर करने में काफी सहायक सिद्ध होते हैं।

प्रत्यक्ष करों के दोष

1. **लोकप्रियता का अभाव :** करदाता पर प्रत्यक्ष करों का सीधा भार पड़ता है तथा उनकी दर भी अधिक होती है, अतः लोग इनका भुगतान करना पसंद नहीं करते।
2. **करों से बचाव :** चूंकि अप्रत्यक्ष वस्तुओं पर लगा दिए जाते हैं जिनका भुगतान करना ही पड़ता है। परंतु प्रत्यक्ष करों को करदाता अपनी आय का विवरण सही न देकर बचा लेते हैं।
3. **भुगतान संबंधी कठिनाइयां :** करदाताओं को इन करों का भुगतान करने में कई प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। प्रत्यक्ष कर के रूप में उन्हें कितनी राशि देनी होगी, वे इसका निर्धारण स्वयं नहीं कर पाते तथा उन्हें आयकर अधिकारियों तथा अन्य कर्मचारियों के पास कई बार जाना पड़ता है और सभी वर्णन प्रस्तुत करने पड़ते हैं, जिससे करदाताओं को बहुत असुविधा होती है।
4. **खर्चीले :** कुछ प्रत्यक्ष कर ऐसे हैं जिन्हें एकत्रित करने में कभी-कभी सरकार को बहुत अधिक व्यय करना पड़ता है। जैसे भारत में भूमिकर, एक प्रत्यक्ष कर है। इस कर को लाखों किसानों से थोड़ी-थोड़ी मात्रा में एकत्रित किया जाता है। इसलिए इसे एकत्र करने पर सरकार को आय के मुकाबले अधिक व्यय करना पड़ता है।

टिप्पणी

5. **मनमानी :** प्रत्यक्ष करों को लागू करने में किसी वैज्ञानिक पद्धति को आधार नहीं बनाया जाता। कर अधिकारी इन्हें अपनी इच्छानुसार मनमाने ढंग से लगा सकते हैं जिसके कारण भ्रष्टाचार की संभावना बढ़ जाती है।
6. **पूंजी-निर्माण में बाधा :** प्रत्यक्ष करों से पूंजी निर्माण में बाधा पड़ सकती है। ये कर पूंजी-निर्माण में बाधक हो सकते हैं। यदि इन करों की दर बहुत ऊंची हो तो इससे बचत काफी कम हो जाती है और देश में पूंजी-निर्माण कम होता है।
7. **पूंजी की कमी :** अल्पविकसित देशों में पूंजी की कमी होने के कारण प्रत्यक्ष कर की दर अधिक हो जाती तथा देश में होने वाली विदेशियों की आय पर भी सरकार कर लगाती है तो विदेशी उस देश में अपना पूंजी निवेश करना पसंद नहीं करेंगे। जिससे देश के विकास के लिए पर्याप्त विदेशी पूंजी प्राप्त नहीं हो पाएगी। और देश का आर्थिक विकास ऋणात्मक हो सकता है।
8. **संकुचित आधार :** देश के कुछ विशेष वर्गों पर ही प्रत्यक्ष कर लगाए जाते हैं और इस प्रकार एक सीमा से कम आय वाले लोग इन करों से बचे रहते हैं और यह जनसंख्या का बड़ा भाग होता है। अतएव इन करों का क्षेत्र विस्तृत नहीं होता। प्रत्यक्ष करों का देश के बहुत कम लोगों पर ही प्रभाव पड़ता है।

अप्रत्यक्ष

अप्रत्यक्ष कर वे कर हैं जिनका प्रारंभिक भार एक व्यक्ति पर पड़ता है, परंतु उस भार को वह दूसरों पर टालने में सफल हो जाता है। जैसे—बिक्री कर, उत्पादन कर, सीमा शुल्क, आदि अप्रत्यक्ष करों के ही उदाहरण हैं।

प्रो॰ सैम्युलसन के अनुसार, ''अप्रत्यक्ष कर की परिभाषा उन करों के रूप में की जाती है, जो वस्तुओं तथा सेवाओं पर लगाए जाते हैं। अतः ये लोगों पर अप्रत्यक्ष रूप से लगाए जाते हैं।''

यह कहा जाता है कि जिन करों का भार लोगों पर प्रत्यक्ष रूप से नहीं पड़ता और वे उत्पादित वस्तुओं की कीमत में ही निहित होते हैं, जिससे प्रारंभ में तो इनका भार उत्पादकता पर पड़ता है, परंतु बाद में उपभोक्ताओं को वहन करना पड़ता है।

अप्रत्यक्ष करों के गुण

1. **सुविधाजनक :** अप्रत्यक्ष कर सुविधाजनक होते हैं। जैसे बिक्र कर देते समय करदाता किसी प्रकार की असुविधा अनुभव नहीं करता वस्तुओं को खरीदते समय ही इन करों का भुगतान हो जाता है जिससे करदाता को कर का भार अनुभव नहीं होता। सरकार के लिए भी अप्रत्यक्ष कर सुविधाजनक होते हैं। क्यांकि सरकार इन करों की रकम को उत्पादकों या आयातकर्त्ताओं से तुरंत वसूल कर लेती है और उसे अधिक व्यय भी नहीं करना पड़ता।
2. **अनिवार्य :** प्रत्यक्ष करों की अपेक्षा इस प्रकार के करों से बचना कठिन है क्योंकि अधिकतर वस्तुओं की कीमतों में ही इन करों को सम्मिलित कर लिया जाता है। इसलिए जब भी कोई व्यक्ति वस्तु खरीदता है जो उसे ये कर अनिवार्य रूप से देने पड़ते हैं।

टिप्पणी

3. **विविधता :** इन करों में विविधता पाई जाती है क्योंकि देश का प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी रूप में इन करों का भुगतान करना पड़ता है। सरकार जैसे उत्पादन कर, वस्तु के उत्पादन करने वालों से ही वसूल कर लेती हैं इसी प्रकार जिन वस्तुओं पर बिक्री कर लगता है उन्हें उपभोग करने वाले सभी व्यक्तियों को बिक्री कर देना पड़ता है।
4. **लोचदार :** इन करों की दर भी लोचदार होती है। कर की दर बदलने से बचत भी बदल जाती है। जैसे बिक्री कर या उत्पादन कर में यदि थोड़ी वृद्धि भी कर दी जाए तो भी सरकार की आय में काफी वृद्धि हो जाती है। उदाहरण के लिए 2000-2001 में उत्पादन कर से केंद्रीय सरकार को 7,252 करोड़ रुपए की आय प्राप्त होने का अनुमान था।
5. **लोकप्रिय :** लोगों को इन करों के लिए सीधा भुगतान नहीं करना पड़ता अत: ये कर प्रत्यक्ष कर की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय होते हैं। ये कर वस्तु की कीमत का अंश होते हैं अत: ये एक बार में बहुत थोड़ी मात्रा में देने पड़ते हैं।
6. **हानिकारक उपभोग पर प्रतिबंध :** अप्रत्यक्ष करों से सामाजिक लाभ बढ़ाया जा सकता है। इन करों को हानिकारिक वस्तुओं जैसे शराब, सिगरेट आदि पर लगाकर उनकी कीमत बढ़ाई जा सकती है जिससे उनका उपभोग कम हो सकता है और सरकार एक स्वस्थ समाज के निर्माण में पहुंचती है।
7. **विस्तृत :** राज्य की सहायता करना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है और अप्रत्यक्ष कर विस्तृत होते हैं। उनका क्षेत्र काफी फैला हुआ है। ये देश के संपूर्ण उत्पादन क्षेत्र पर लागू होते हैं। धनी तथा निर्धन दोनों लोग इनका भुगतान करते हैं। अर्थात प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी रूप में ये कर देने ही पड़ते हैं।
8. **समानता :** विलासिता की वस्तुओं पर अप्रत्यक्ष कर अधिक दर पर लगाने से धनी लोगों पर इनका भार बढ़ाया जा सकता है। जिससे समान त्याग के सिद्धांत का आधार भी इन करों में दिखता है।
9. **विदेशी प्रतियोगी से बचाना :** इन करों की सहायता से देश के आंतरिक उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से बचाया जा सकता है। आयात-निर्यात करों का उपयोग इसी उद्देश्य के लिए किया जाता है। देशी उद्योग को विदेशी प्रतियोगिता से बचाने के लिए सरकार उस वस्तु के आयात पर बहुत अधिक मात्रा में आयात कर लगा देती है जिससे उस वस्तु की कीमत बढ़ जाती है तथा देश में उत्पादिता वस्तु, विदेशी वस्तु की तुलना में कम कीमत पर बिकने लगती है। इससे फिर घरेलू उत्पादकता की मांग अधिक हो जाती है।
10. **प्रगतिशील :** अप्रत्यक्ष करों को प्रगतिशील बनाया जा सकता है। यदि विलासिला की वस्तुओं पर अधिक मात्रा में कर लगा दिए जाएं और जीवन-निर्वाह वस्तुओं को करों से मुक्त कर दिया जाए तो इससे उनकी बचत और निवेश की शक्ति बढ़ जाती है जो देश की प्रगति में सहायक सिद्ध होती है।

अप्रत्यक्ष-करों के दोष

कुछ सीमाओं के कारण अप्रत्यक्ष करों को श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। ये सीमाएं अग्रलिखित कमियों के रूपों में देखी जा सकती हैं—

टिप्पणी

1. **अवरोही** (Regressive)**:** कुछ अर्थशास्त्री मानते हैं कि अप्रत्यक्ष कर अवरोही होते हैं। क्योंकि सभी लोगों पर समान दर लागू होने के कारण इनका भार अमीरों पर कम तथा गरीबों पर अधिक पड़ता है इसलिए इन्हें न्याय संगत नहीं कहा जा सकता। परंतु वास्तव में ये तर्क सही नहीं है। क्योंकि कार, स्कूटर, टेलीविजन आदि विलासिता की वस्तुओं पर जो अप्रत्यक्ष कर लगे होते हैं उनका भार अधिकांश धनी लोग ही वहन करते हैं।
2. **अनिश्चितता :** ये कर अनश्चित होते हैं। क्योंकि सरकार निश्चित रूप से यह अनुमान नहीं लगा पाती कि उसे अप्रत्यक्ष करों से कितनी आय प्राप्त होगी। इन करों से प्राप्त आय उत्पादन की मात्रा, वस्तु की कीमत, आदि कारकों पर निर्भर करती है।
3. **बचत का अभाव :** बचत के सिद्धांत पर आधारित न होने के कारण इन करों को एकत्रित करने में काफी व्यय करना पड़ता है।
4. **नागरिक-जागृति का अभाव :** ये कर नागरिकों में जागरूकता नहीं लाते क्योंकि ये कर वस्तु की कीमत में छिपे होते हैं। करदाता वस्तु की वास्तविक कीमत तथा कर की मात्रा को स्पष्टतः नहीं समझ पाता तथा अनेक बार ये कर अधिक मात्रा में भी हो सकते हैं।
5. **उत्पादन में कमी :** अप्रत्यक्ष करों से वस्तु की कीमत बढ़ जाती है जिससे लोग उपभोग में कमी करते हैं जिससे वस्तु की मांग कम हो जाती है और उत्पादन तथा व्यापार पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।
6. **करों से बचना :** इन करों की भी चोरी की जाती है। क्योंकि विक्रेता प्रयास करते हैं कि ग्राहकों को कैश मेमों न दी जाए जिससे सरकार को बिक्री कर न देना पड़े।
7. **बचत को निरुत्साहित करना :** इन करों के कारण वस्तु की कीमत में वृद्धि होती है जिससे आय का अधिक भाग वस्तुओं को खरीदने पर ही खर्च हो जाता है। जिसके परिणामस्वरूप बचत निरुत्साहित होती है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष कर और अप्रत्यक्ष कर दोनों में ही अपने आय में पूर्ण नहीं है परंतु प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों के दोष प्रशासनिक कठिनाइयों के कारण उत्पन्न होते हैं। ये कर देश के आर्थिक-विकास आय के समान-वितरण तथा बढ़ते हुए सार्वजनिक व्यय को पूरा करने के लिए महत्वपूर्ण एवं अनिवार्य हैं। अतः इनके दोषों को दूर करने के लिए प्रयास करना जरूरी है।

अपनी प्रगति जांचिए

9. आयकर, उपहार कर व निगम कर को किन करों की श्रेणी में रखा गया है?
   (क) बचत कर (ख) प्रत्यक्ष कर
   (ग) अप्रत्यक्ष कर (घ) उत्पादक कर
10. उत्पादन कर व सीमा शुल्क कर किस प्रकार के करों के उदाहरण हैं?
   (क) प्रत्यक्ष कर (ख) आनुपातिक कर
   (ग) अप्रत्यक्ष कर (घ) उत्पादक कर

1.7 वस्तु एवं सेवा कर (जीएसटी)

टिप्पणी

जीएसटी अप्रत्यक्ष कर का एक रूप है जो सेवा कर या वैट अप्रत्यक्ष करों के समान है। इसका उद्देश्य भारतीय बाजार को एकीकृत करना है जो पूरे राष्ट्र के लिए एक कर के रूप में कार्य करेगा। जीएसटी, निर्माता से उपभोक्ता तक सभी वस्तुओं और सेवाओं की आपूर्ति पर लागू किया जाएगा। यह प्रत्येक चरण में भुगतान किए गए सभी करों के कर, क्रेडिट तथा प्रत्येक चरण में मूल्य संवर्धन पर कर लगाने के लिए एक प्रणाली प्रदान करेगा। किसी भी वस्तु या सेवाओं को प्राप्त करने के अंतिम चरण में उपभोक्ता उसके निर्माता द्वारा लगाए गए करों का भुगतान करने के लिए उत्तरदायी होगा और पहले भुगतान किए गए अन्य सभी करों के लिए मुआवजा प्राप्त करने में सक्षम होगा।

जीएसटी को भारत में कर संरचना को मानकीकृत करने के एक मोटो के साथ लागू किया गया है, जो स्पष्ट रूप से इसकी टैगलाइन ''वन टैक्स फॉर वन कंट्री'' द्वारा जाना जाता है। भारत में 1 जुलाई, 2017 से लागू यह एक महत्वपूर्ण अप्रत्यक्ष कर व्यवस्था है जिसे सरकार व कई अर्थशास्त्रियों द्वारा स्वतंत्रता के पश्चात् सबसे बड़ा आर्थिक सुधार बताया है। इससे केन्द्र एवम् विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा भिन्न–भिन्न दरों पर लगाए जा रहे विभिन्न करों को हटाकर पूरे देश के लिए एक ही अप्रत्यक्ष कर प्रणाली लागू की जाएगी जिससे भारत को एकीकृत साझा बाजार बनाने में मदद मिलेगी। भारतीय संविधान में इस कर व्यवस्था को लागू करने के लिए संशोधन किया गया है।

जीएसटी लागू करने के लिए लोक सभा में मार्च 2011 में 115वां संशोधन पेश किया गया।

1 जुलाई, 2017 से पूर्व किसी भी सामान पर केंद्र एवं राज्य सरकार के द्वारा कई तरह के अलग–अलग कर लगाये जाते थे लेकिन जीएसटी आने से सभी तरह के सामानों पर एक जैसा ही कर लगाया जाएगा। पूर्व में किसी भी सामान पर 30 से 35 प्रतिशत तक कर देना पड़ता था। कुछ चीजों पर तो प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से लगाया जाने वाला कर 50 प्रतिशत से ज्यादा होता था। जीएसटी आने के बाद यह कर अधिकतम 28 प्रतिशत हो गया जिसमें कोई भी अप्रत्यक्ष कर नहीं होगा। जीएसटी भारत की अर्थव्यवस्था को एक देश एक कर वाली अर्थव्यवस्था बना देगा। फिलहाल भारतवासी 17 अलग–अलग तरह के कर चुकाते हैं जबकि जीएसटी लागू होने के बाद केवल एक ही तरह का कर दिया जाएगा इसके लागू होते ही एक्साइज ड्यूटी, सर्विस टैक्स, वैट, मनोरंजन कर, लग्जरी कर जैसे बहुत सारे कर खत्म हो गए।

चुंगी, सेंट्रल सेल्स टैक्स (सीएसटी), राज्य स्तर के सेल्स टैक्स या वैट, एंट्री टैक्स, लॉटरी टैक्स, स्टैंप ड्यूटी, टेलिकॉम लाइसेंस फी, टर्नओवर टैक्स, बिजली के इस्तेमाल या बिक्री पर लगने वाले टैक्स, सामान के ट्रांसपोटेर्शन पर लगने वाले टैक्स इत्यादि अनेकों करों के स्थान पर अब यह एक ही कर लागू किया जा रहा है।

1.7.1 जीएसटी की विशेषताएं

जीएसटी की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं–

टिप्पणी

- वस्तु और सेवा कर विषय पर कानून बनाने के लिए संसद और राज्य विधायिकाओं को एक साथ शक्ति दी गई। वस्तु और सेवा कर पूरे देश के लिए लाभदायक व्यवस्था है। इससे अर्थव्यवस्था के सभी हितधारकों, सरकार और उपभोक्ताओं को लाभ होगा। इससे वस्तुओं एवं सेवाओं की लागत में कमी आएगी। अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहन मिलेगा और भारतीय वस्तुएं एवं सेवाएं वैश्विक स्तर पर प्रतिस्पर्धी बनेंगी।
- जीएसटी मुख्यतः प्रौद्योगिकी संचालित है। इससे मानवीय हस्तक्षेप बहुत कम हो जाएगा जिससे निर्णयों में तेजी आएगी।
- माल और सेवा कर के कारण कराधार बढ़ने और कर अनुपालन में सुधार होने से सरकारी राजस्व में वृद्धि होने का अनुमान है। जीएसटी के कारण भारत को व्यवसाय करने की सुगमता की श्रेणीक्रम में सुधार आने की संभावना है और सकल घरेलू उत्पाद में 1.5 प्रतिशत से 2 प्रतिशत तक वृद्धि होने का अनुमान है।
- सभी आयातित वस्तुओं पर एकीकृत माल और सेवा कर (आईजीएसटी) आरोपित किया जाएगा जो कि केंद्रीय जीएसटी + राज्य जीएसटी के समतुल्य होगा। इससे आयातित उत्पादों और स्थानीय उत्पादों पर कराधान में समता आएगी।
- केन्द्रीय उत्पाद शुल्क, अतिरिक्त उत्पाद शुल्क, सेवा कर, अतिरिक्त सीमा शुल्क जिसे सामान्य रूप से काउंटर वेलिंग ड्यूटी कहा जाता है तथा विशेष अतिरिक्त सीमा शुल्क जैसे विभिन्न केन्द्रीय अप्रत्यक्ष कर इसमें समाहित हो जाएंगे।
- राज्य वैल्यू ऐडेट टैक्स/सैल्स टैक्स, मनोरंजन कर (स्थानीय निकायों द्वारा लगाए जाने वाले टैक्स से अलग), केन्द्रीय बिक्री कर (केन्द्र लगाता है और संग्रह राज्य करते हैं), ऑक्टराय, इंट्री टैक्स, परचेज टैक्स, लग्जरी टैक्स तथा लॉटरी, सट्टे और जुए पर टैक्स।
- वस्तुओं और सेवाओं के अंतर–राज्य कारोबार पर एकीकृत वस्तु और सेवा कर लगाने का प्रावधान है। मानवीय उपभोग के लिए नशीली शराब को छोड़कर सभी वस्तुओं और सेवाओं पर जीएसटी लगाया जाएगा। पेट्रोलियम तथा पेट्रोलियम उत्पादों पर बाद की तिथि से जीएसटी लगाया जाएगा। यह तिथि वस्तु और सेवा कर परिषद की सिफारिश पर अधिसूचित की जाएगी। पांच वर्षों तक राज्यों को वस्तु और सेवा कर लागू करने में हुए राजस्व नुकसान के लिए मुआवजा दिया जाएगा।

1.7.2 जीएसटी के लाभ

जीएसटी से उपलब्ध लाभों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

(क) व्यापार और उद्योग के लिए

- **आसान अनुपालन** : एक मजबूत और व्यापक सूचना प्रौद्योगिकी प्रणाली भारत में जीएसटी व्यवस्था की नींव होगी इसलिए पंजीकरण, रिटर्न, भुगतान आदि जैसी सभी कर भुगतान सेवाएं करदाताओं को ऑनलाइन उपलब्ध होंगी, जिससे इसका अनुपालन बहुत सरल और पारदर्शी हो जायेगा।

टिप्पणी

- **कर दरों और संरचनाओं की एकरूपता** : जीएसटी यह सुनिश्चित करेगा कि अप्रत्यक्ष कर दरें और ढांचे पूरे देश में एकसमान हैं। इससे निश्चिंतता में तो बढ़ोतरी होगी ही व्यापार करना भी आसान हो जाएगा। दूसरे शब्दों में जीएसटी देश में व्यापार के कामकाज को कर तटस्थ बना देगा फिर चाहे व्यापार करने की जगह का चुनाव कहीं भी जाये।
- **करों पर कराधान की समाप्ति** : मूल्य श्रृंखला और समस्त राज्यों की सीमाओं से बाहर टैक्स क्रेडिट की सुचारु प्रणाली से यह सुनिश्चित होगा कि करों पर कम से कम कराधान हों। इससे व्यापार करने में आने वाली छुपी हुई लागत कम होगी।
- **प्रतिस्पर्धा में सुधार**: व्यापार करने में लेन–देन लागत घटने से व्यापार और उद्योग के लिए प्रतिस्पर्धा में सुधार को बढ़ावा मिलेगा।
- **विनिर्माताओं और निर्यातकों का हित** : जीएसटी में केन्द्र और राज्यों के करों के शामिल होने और इनपुट वस्तुएं और सेवाएं पूर्ण और व्यापक रूप से समाहित होने और केन्द्रीय बिक्री कर चरणबद्ध रूप से बाहर हो जाने से स्थानीय रूप से निर्मित वस्तुओं और सेवाओं की लागत कम हो जाएगी। इससे भारतीय वस्तुओं और सेवाओं की अंतर्राष्ट्रीय बाजार में होने वाली प्रतिस्पर्धा में बढ़ोतरी होगी और भारतीय निर्यात को भी बढ़ावा मिलेगा। पूरे देश में कर दरों और प्रक्रियाओं की एकरूपता से अनुपालन लागत घटाने में लंबा रास्ता तय करना होगा।

(ख) केन्द्र और राज्य सरकारों के लिए

- **सरल और आसान प्रशासन** : केन्द्र और राज्य स्तर पर बहुआयामी अप्रत्यक्ष करों को जीएसटी लागू करके हटाया जा रहा है। मजबूत सूचना प्रौद्योगिकी प्रणाली पर आधारित जीएसटी केन्द्र और राज्यों द्वारा अभी तक लगाए गए सभी अन्य प्रत्यक्ष करों की तुलना में प्रशासनिक नजरिए से बहुत सरल और आसान होगा।
- **कदाचार पर बेहतर नियंत्रण** : मजबूत सूचना प्रौद्योगिकी बुनियादी ढांचे के कारण जीएसटी से बेहतर कर अनुपालन परिणाम प्राप्त होंगे। मूल्य संवर्धन की श्रृंखला में एक चरण से दूसरे चरण में इनपुट कर क्रेडिट कर सुगम हस्तांतरण जीएसटी के स्वरूप में एक अंतःनिर्मित तंत्र है, जिससे व्यापारियों को कर अनुपालन में प्रोत्साहन दिया जाएगा।
- **अधिक राजस्व निपुणता** : जीएसटी से सरकार के कर राजस्व की वसूली लागत में कमी आने की उम्मीद है। इसलिए इससे उच्च राजस्व निपुणता को बढ़ावा मिलेगा।

(ग) उपभोक्ताओं के लिए

- **वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य के अनुपाती एकल एवं पारदर्शी कर** : केन्द्र और राज्यों द्वारा लगाए गए बहुल अप्रत्यक्ष करों या मूल्य संवर्धन के प्रगामी चरणों में उपलब्ध गैर–इनपुट कर क्रेडिट के कारण आज देश में अनेक छिपे

करों से अधिकांश वस्तुओं और सेवाओं की लागत पर प्रभाव पड़ता है। जीएसटी के अधीन विनिर्माता से लेकर उपभोक्ताओं तक केवल एक ही कर लगेगा, जिससे अंतिम उपभोक्ता पर लगने वाले करों में पारदर्शिता को बढ़ावा मिलेगा।

टिप्पणी

- **समग्र कर भार में राहत** : निपुणता बढ़ने और कदाचार पर रोक लगने के कारण अधिकांश उपभोक्ता वस्तुओं पर समग्र कर भार कम होगा, जिससे उपभोक्तओं को लाभ मिलेगा।

(घ) एसएमई / एमएसएमई के लिए

1. एक वित्तीय वर्ष में कुल टर्नओवर वाले करदाताओं को [Rs.10 लाख] तक कर से छूट मिलेगी।
2. NE राज्यों और सिक्किम के लिए, छूट सीमा [(रु), होगी। 5 लाख]।
3. दहलीज छूट के लिए पात्र सभी करदाताओं के पास इनपुट टैक्स क्रेडिट (आईटीसी) लाभ के साथ कर का भुगतान करने का विकल्प होगा।
4. सेवा क्षेत्र में एसएमई को कोई छूट या रियायत नहीं मिलती है। रियायतें केवल एसएमई निर्माताओं के लिए हैं। भारत में हमारे द्वारा निर्मित प्रत्येक उत्पाद में कुल कर घटना 27 से 31 प्रतिशत के बीच कुछ भी है, जिसे 20 प्रतिशत तक कम करना है
5. जिन SMEs का कारोबार 1.5 करोड़ रुपये तक है, वे उत्पाद शुल्क में छूट का लाभ उठा रहे थे, लेकिन वे राज्य कानून के तहत वैट / सीएसटी / प्रवेश कर आदि थे। उल्लेखनीय है कि एसएमई को छूट का मतलब यह नहीं है कि पूरे एक्सएनयूएमएक्स करोड़ रुपये एक्साइज से छूट है।

केन्द्र व राज्य स्तर पर जीएसटी

- केंद्र स्तर पर वे कर जो जीएसटी के तहत एक के रूप में लिए जाएंगे:
  1. केंद्रीय उत्पाद शुल्क
  2. उत्पाद शुल्क (औषधीय और शौचालय की तैयारी)
  3. आबकारी के अतिरिक्त कर्तव्य (विशेष महत्व के सामान)
  4. एक्साइज (टेक्सटाइल्स एंड टेक्सटाइल प्रोडक्ट्स) एक्सएनयूएमएक्स एक्सएनयूएमएक्स के अतिरिक्त कर्तव्य
  5. सीमा शुल्क के अतिरिक्त कर्तव्य (जिसे आमतौर पर सीवीडी के रूप में जाना जाता है)
  6. सीमा शुल्क (एसएडी) के विशेष अतिरिक्त कर्तव्य
  7. सेवा कर
  8. केंद्रीय सरचार्ज और सेस अब तक वे वस्तुओं और सेवाओं की आपूर्ति से संबंधित हैं
- जीएसटी के तहत आने वाले राज्य कर निम्नलिखित हैं:
  1. स्टेट वैट

टिप्पणी

2. केंद्रीय बिक्री कर
3. लक्जरी टैक्स
4. प्रवेश कर (सभी फॉर्म)
5. मनोरंजन और मनोरंजन कर (स्थानीय निकायों द्वारा लगाया जाने पर छोड़कर)
6. विज्ञापनों पर कर
7. खरीद कर
8. लॉटरी, सट्टेबाजी और जुए पर कर
9. राज्य सरचार्ज और सेस अब तक वे वस्तुओं और सेवाओं की आपूर्ति से संबंधित हैं।

भारत में जीएसटी का प्रशासनिक स्वरूप

भारत के संघीय ढांचे को ध्यान में रखते हुए जीएसटी के दो घटक है– केन्द्रीय जीएसटी (सीजीएसटी) और राज्य जीएसटी (एसजीएसटी)। केन्द्र और राज्य दोनों एक साथ मूल्य श्रृंखला पर वस्तु और सेवा कर (जीएसटी) लगाएंगे। वस्तुओं की प्रत्येक पूर्ति और सेवाओं पर कर लगाया जाएगा। केन्द्र, अपना केन्द्रीय वस्तु और सेवा पर कर (सीजीएसटी) लगाएगा और कर संग्रह करेगा और राज्य, अपने राज्य के अंदर सभी कारोबार पर राज्य वस्तु और सेवा कर (एसजीएसटी) लगाएंगे। सीजीएसटी के इनपुट टैक्स क्रेडिट से हर चरण में आउटपुट पर सीजीएसटी देनदारी चुकाई जाएगी। इसी तरह इनपुट पर अदा किए गए एसजीएसटी से आउटपुट पर एसजीएसटी को अदा किया जा सकेगा। क्रेडिट के आड़े–तिरछे अतिरिक्त उपयोग की अनुमति नहीं दी जाएगी।

एक साथ सीजीएसटी तथा एसजीएसटी टैक्स

केन्द्रीय जीएसटी और राज्य जीएसटी एक साथ प्रत्येक वस्तु और सेवा की आपूर्ति कारोबार पर लगाया जाएगा, लेकिन उन वस्तुओं और सेवाओं को छोड़कर जो जीएसटी के दायरे से बाहर हैं या ऐसे कारोबार को छोड़कर जो न्यूनतम सीमा से कम हो। दोनों टैक्स सामान कीमत या मूल्य पर लगेगा, जबकि राज्य के वैट में वस्तु के मूल्य पर केन्द्रीय उत्पाद शुल्क सहित टैक्स लगाया जाता है।

वस्तुओं और सेवाओं के अंतर–राज्य व्यापार पर टैक्स

केन्द्र अंतर–राज्य कारोबार के मामले में संविधान के अनुच्छेद 269ए (1) के अंतर्गत वस्तुओं और सेवाओं की अंतर–राज्य सभी सप्लाई पर एकीकृत वस्तु और सेवा कर (आईजीएसटी) लगाएगा और उसका संग्रह करेगा। आईजीएसटी लगभग सीजीएसटी प्लस एसजीएसटी के बराबर होगा। आईजीएसटी व्यवस्था इस तरह की गई है कि एक राज्य से दूसरे राज्य को इनपुट टैक्स क्रेडिट का प्रवाह अबाध रूप से हो। अंतर–राज्य विक्रेता अपनी खरीददारी पर आईजीएसटी, सीजीएसटी तथा एसजीएसटी क्रेडिट के समायोजन के बाद अपनी वस्तुओं की बिक्री पर केन्द्र सरकार को आईजीएसटी का भुगतान करेगा। निर्यातक राज्य आईजीएसटी भुगतान में प्रयुक्त एसजीएसटी का क्रेडिट केन्द्र को हस्तांतरित कर देगा। आयातक निर्माता अपने राज्य में आउटपुट टैक्स

टिप्पणी

दायित्व (दोनों सीजीएसटी और एसजीएसटी) पूरा करते हुए आईजीएसटी क्रेडिट का दावा करेगा। केन्द्र एसजीएसटी भुगतान में प्रयुक्त आईजीएसटी क्रेडिट आयातक राज्य को हस्तांतरित करेगा। जीएसटी एक गंतव्य आधारित टैक्स है इसलिए अंतिम उत्पाद पर सभी एसजीएसटी साधारतः उपभोक्ता राज्य को प्राप्त होगा।

जीएसटी में सूचना प्रौद्योगिकी (आईटी) का उपयोग

देश में जीएसटी लागू करने के लिए केन्द्र और राज्य सरकारों ने मिलकर वस्तु और सेवा कर नेटवर्क (जीएसटीएन) बनाया है। यह लाभ रहति गैर–सरकारी कंपनी के रूप में पंजीकृत है ताकि केन्द्र तथा राज्य सरकारों टैक्स देने वाले लोगों और अन्य हितधारकों के लिए साझा सूचना प्रौद्योगिकी (आईटी) अवसंरचना उपलब्ध कराई जा सके। जीएसटीएन का मुख्य उद्देश्य करदाताओं को मानक और एक समान इंटरफेस प्रदान करना है और केन्द्र तथा राज्य/केन्द्रशासित सरकारों के साथ अवसंरचना और सेवा साझा करना है।

जीएसटीएन साझा जीएसटी पोर्टल सहित व्यापक अत्याधुनिक आईटी अवसंरचना विकास का कार्य कर रही है। इससे पंजीकरण, रिटर्न तथा सभी करदाताओं को भुगतान और वैसे राज्यों के लिए बैंक एन्ड आईटी मॉड्यूल प्रदान करना है। इसमें रिटर्न प्रोसेसिंग, पंजीकरण, ऑडिट, एसेसमेंट, अपील शामिल हैं। जीएसटी के सफल प्रशासन के लिए सभी राज्य, लेखा–प्राधिकार, भारतीय रिजर्व बैंक तथा बैंक आईटी अवसंरचना तैयार कर रहे हैं।

कागज रूप में रिटर्न नहीं भरे जा सकेंगे। सभी टैक्स भुगतान ऑनलाइन होंगे। एक–दूसरे से नहीं मिलने वाले रिटर्न ऑटो–जेनरेट होंगे और मानवीय हस्तक्षेप की कोई आवश्यकता नहीं होगी। अधिकतर रिटर्न सेल्फ एसेस होंगे।

आयात पर टैक्स

आयात पर अभी लगने वाला अतिरिक्त उत्पाद शुल्क या सीवीडी और विशेष अतिरिक्त शुल्क या एसएडी जीएसटी में समाहित हो जाएंगे। संविधान के अनुच्छेद 269ए (1) की व्याख्या के अनुसार भारत के भू–भाग में सभी प्रकार के आयात पर आईजीएसटी लगेगा। वर्तमान व्यवस्था से विभिन्न आयातित वस्तु का उपभोग करने वाले राज्य आयातित वस्तुओं पर आईजीएसटी भुगतान में से अधिक हिस्सा प्राप्त करेंगे।

1.7.3 भारतीय अर्थव्यवस्था पर जीएसटी का प्रभाव

केंद्रीय मंत्रिमंडल ने चार जीएसटी कानूनों को मंजूरी दी है। इस परिपेक्ष्य में हम जीएसटी के प्रभावों को निम्न प्रकार से समझ सकेंगे–

- केंद्रीय मंत्रिमंडल ने चार जीएसटी कानूनों एकीकृत जीएसटी विधेयक, केन्द्रीय जीएसटी विधेयक, मुआवजा विधेयक और संघ राज्य जीएसटी विधेयक को मंजूरी दी। इसे पहले जीएसटी परिषद ने लगभग छह महीनों तक चली 12 बैठकों में मंजूरी दे दी थी। अब संसद द्वारा विधेयक पारित किया जाना है, जबकि राज्य जीएसटी विधेयक को प्रत्येक राज्य की विधान सभाओं द्वारा पारित करना आवश्यक है।

टिप्पणी

- जीएसटी भारत को एक सामान्य बाजार में बदल देगी, इससे व्यापार करने में अधिक आसानी होगी और सभी क्षेत्रों में कंपनियों की लागतों में भारी बचत होगी। अधिकांश केन्द्रीय और राज्य करों को एक ही कर में लाकर और संपूर्ण मूल्य श्रृंखला में लेनदेन के लिए पूर्व–स्तरीय करों का सेट–ऑफ करके, यह कैस्केडिंग के खराब प्रभावों को कम करेगा, प्रतिस्पर्धा में सुधार करने के साथ साथ कारोबार की तरलता अनुपात में भी सुधार करेगा।

  हालांकि जीएसटी की दर अभी तय नहीं की गई है। लेकिन उद्योग निरीक्षकों ने अपने प्रभाव गणना में एक सरकारी पैनल द्वारा सिफारिश की गई 18 प्रतिशत की दर को स्वीकार किया है।

  इसमें विभिन्न सामान और सेवाएं हैं। इनकी जीएसटी द्वारा निर्धारित विभिन्न दरें होंगी। ये उनकी लागत को प्रभावित कर सकती हैं। इन प्रभावों का वर्णन निम्नांकित हैं–

- **व्यापार में वृद्धि** : जीएसटी पूरे देश के लिए लाभदायक होगा। यह उद्योग, उपभोक्ता और सरकार के सभी हितधारकों को लाभ पहुंचाएगा। इससे माल और सेवाओं की लागत कम हो जाएगी जिससे अर्थव्यवस्था को बढ़ावा मिलेगा और वैश्विक स्तर पर प्रतिस्पर्धी उत्पादों और सेवाओं का लाभ पूरी तरह से उठाया जा सकेगा।

  जीएसटी का उद्देश्य आय कर दरों और प्रक्रियाओं के साथ भारत को एक सामान्य बाजार बनाना है और इसकी आर्थिक बाधाओं को दूर करना है। यह राष्ट्रीय स्तर पर एक एकीकृत अर्थव्यवस्था का मार्ग प्रशस्त करेगा।

  अधिकांश केन्द्रीय और राज्य करों को एक ही कर में लाकर और संपूर्ण मूल्य श्रृंखला में लेनदेन के लिए पूर्व–स्तरीय करों का सेट–ऑफ करके, यह कैस्केडिंग के खराब प्रभावों को कम करेगा, प्रतिस्पर्धा में सुधार करने के साथ साथ कारोबार की तरलता अनुपात में सुधार करेगा।

  जीएसटी प्रणाली काफी हद तक प्रौद्योगिकी पर आधारित है। इससे मानवीय हस्तक्षेप को काफी हद तक कम किया जा सकता है तथा इससे शीघ्र निर्णय लिया जा सकता है।

- **मेक इन इण्डिया का सशक्तिकरण** : जीएसटी से भारत में निर्मित वस्तुओं और सेवाओं के प्रति राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय बाजार में प्रतियोगिता बढ़ेगी जिस कारण भारत सरकार के 'मेक इन इंडिया' पहल को और बढ़ावा मिलने की उम्मीद है।

  इसके अलावा सभी आयातित सामानों को एकीकृत कर (आईजीएसटी) के दायरे में लाया जायेगा जो कि सेंट्रल जीएसटी + स्टेट जीएसटी के बराबर है। यह स्थानीय उत्पादों पर लगने वाले कराधानों के बीच समानता लाएगा।

- **पारदर्शिता** : जीएसटी के कार्यान्वयन के बाद अप्रत्यक्ष कर कानून और अधिक पारदर्शी होंगे। जीएसटी के जरिये आपूर्ति श्रृंखला के प्रत्येक चरण पर कर लगाया जाएगा, क्योंकि पिछले चरण के करों के भुगतान के बाद आपूर्ति को

अगले चरण पर सेट किया जाता है। इससे आपूर्ति के कर मूल्य और अर्थशास्त्र को पृथक करने में आसानी होगी।

इससे उपभोक्ता को भुगतान करने वाले करों की सटीक राशि को जानने में मदद मिलेगी।

टिप्पणी

- **आसान कर भुगतान** : जीएसटी से केंद्र सरकार के अप्रत्यक्ष कर कानूनों और सर्विस टैक्स जैसे सेंट्रल एक्साइज, वैट, एंटरटेनमेंट टैक्स, सेंट्रल सेल्स टैक्स, एंट्री टैक्स, लक्जरी टैक्स इत्यादि जैसे राज्य सरकारों के असंख्य कर रिकॉर्डों को बनाए रखने की अनिवार्य आवश्यक्ता स्वतः ही समाप्त हो जायेगी। अब सिर्फ आंतरिक राज्य आपूर्ति (जो लगभग समान कानून हैं) के लिए केंद्रीय सामान और सेवा कर अधिनियम और राज्य (या संघ शासित प्रदेश) के सामान और सेवा कर अधिनियम के संबंध में रिकॉर्ड बनाए रखने की आवश्यक्ता होगी।
- **आंतरिक व्यापार में सुधार** : यह तर्क दिया जा रहा है कि जीएसटी से आंतरिक व्यापार के विकास में वृद्धि होगी। जीएसटी से कर छूट को कम करने की उम्मीद है, जिससे सीमा शुल्क की आपूर्ति श्रृंखलाओं के प्रबंधन के लिए माल की कीमतों और पूंजी की आवश्यकता पर असर पड़ सकता है। इससे आयात और कम निर्यात प्रोत्साहन और निर्यात की कमी पर लगने वाले डयूटी बेनिफिट में ह्रास होगा।
- **अनुसंधान और विकास** : सरकार ने एक महत्वपूर्ण घोषणा की है कि 1 अप्रैल 2017 से अनुसंधान और विकास सेस वापस ले लिया जायेगा। परिणामतः अब तक करदाताओं द्वारा प्राप्त अनुसंधान और विकास सैस की सर्विस टैक्स पर भी छूट प्राप्त होगी। सरकार के इस कदम का उद्योग द्वारा स्वागत किया जायेगा क्योंकि अनुसंधान और विकास उपकर करदाताओं के लिए एक बोझ के सामान था।

  अनुसंधान और विकास उपकर की समाप्ति से निश्चित रूप से प्रौद्योगिकी आयात को प्रोत्साहन मिलेगा तथा घरेलू मूल्य में वृद्धि भी प्रोत्साहित होगी।
- **विनिर्माण** : माल के विनिर्माण / उत्पादन की प्रक्रिया से सम्बंधित सेवाओं को नकारात्मक सूची से निकालकर छूट वाले सेवाओं की सूची में स्थानांतरित कर दिया गया है। अतीत में इसी तरह के संशोधन किए गए हैं जहां नकारात्मक सूची से सामान्य छूट सूची में प्रवेश किया गया है।
- **आय प्रभाव** : हालांकि इस संशोधन से कोई तात्कालिक लाभ नहीं होगा। इससे सरकार को वित्त अधिनियम प्रावधानों में संशोधन एवं सुधार की दिशा में कदम उठाने की बजाय भविष्य में इस श्रेणी में आने वाली सभी सेवाओं पर टैक्स लागू करने के लिए केवल एक अधिसूचना लागू करने की शक्ति प्राप्त होगी।
- मेक इन इंडिया पहल को ध्यान में रखते हुए बजट प्रस्ताव में भारत के कुछ विनिर्माण क्षेत्रों मंन व्याप्त ड्यूटी करों को ठीक करने की कोशिश की गयी है।

  ऑटोमोबाइल, नवीकरणीय ऊर्जा क्षेत्र और पेट्रोकेमिकल क्षेत्रों में अंतिम उत्पादों के निर्माण हेतु उपयोग किए जाने वाले कुछ निविष्टियों और कच्चे माल पर

टिप्पणी

सीमा शुल्क और उत्पाद शुल्क को कम किया गया है, जो नकदी प्रवाह को प्रभावित करने के साथ साथ क्रेडिट संचय के मुद्दे को ठीक करने में मदद करेंगे।

- विभिन्न करदाताओं के डयूटी रेट्स पर विचार करना निश्चित रूप से घरेलू विनिर्माण को बढ़ावा देने में सहयोगी साबित होगा।
- ऐसा माना जाता है कि प्रौद्योगिकी उद्योग के लिए जीएसटी बहुत लाभदायक सिद्ध होगा क्योंकि यह कई लेवी को खत्म कर देगा। इससे डिजिटल सेवाओं का विस्तार होगा।

  जीएसटी लागू होने से आईटी कंपनियों के पास कई डिलीवरी केंद्र और कार्यालय हो सकते हैं जो एक एकल अनुबंध के आधार पर मिलकर काम करते हैं. जीएसटी के अंतर्गत कंपनियों को प्रत्येक कॉन्ट्रैक्टिंग पार्टी के लिए अलग–अलग इनवॉइस बनाने की आवश्यकता होती है।
- सीमेंट कंपनियों के लिए कर की मौजूदा प्रभावी दर 25 प्रतिशत है। यदि जीएसटी दरें 18–20 प्रतिशत पर तय की जाती हैं तो सीमेंट पर समग्र कर में कमी होगी। जीएसटी से परिवहन लागत में बचत की उम्मीद है, जो वर्तमान में कुल राजस्व का 20–25 प्रतिशत तक है। देश में डिपो की संख्या कम हो जाएगी। यह परिवहन लागत को कम करेगा तथा कीमतों को नीचे लाएगा।
- जीएसटी कृषि उत्पादों के लिए एक राष्ट्रीय कृषि बाजार स्थापित करने में उपयोगी सिद्ध होगा। इसमें कृषि–वस्तुओं के पारदर्शी, निष्पक्ष व्यापार के लिए सामान्य ई–कॉमर्स मंच के साथ विनियमित बाजारों में सभी किसानों और व्यापारियों को शामिल किया जाएगा।

  जीएसटी आपूर्ति श्रृंखला तंत्र में सुधार करेगी जो किसानों / खुदरा विक्रेताओं के लिए अपव्यय और लागत में कमी को सुनिश्चित करेगा।
- मॉडल जीएसटी कानून के तहत डेयरी फार्मिंग, पोल्ट्री फार्मिंग और स्टॉक प्रजनन को कृषि की परिभाषा से अलग रखा गया है। इसलिए जीएसटी के तहत इन पर कर लगाया जायेगा।

अपनी प्रगति जांचिए

11. राष्ट्रीय स्तर पर वस्तु एवं सेवा कर को कब लागू किया गया?

    (क) 1 अप्रैल 2008 (ख) 1 अप्रैल 2009

    (ग) 1 जुलाई 2017 (घ) 1 अप्रैल 2011

12. जीएसटी लागू करने के लिए लोकसभा में मार्च 2011 में कौन–सा संशोधन पेश किया गया?

    (क) 112 वां संशोधन (ख) 115 वां संशोधन

    (ग) 117 वां संशोधन (घ) 119 वां संशोधन

1.8 भारत में करदान क्षमता

टिप्पणी

कर–देय–क्षमता की अवधारणा सरकार द्वारा कर वसूल किए जा सकने की उच्चतम सीमा को व्यक्त करती है; परंतु इस बारे में एकमत नहीं हैं कि–

- यह उच्चतम सीमा क्या है; तथा
- इसे कौन से कारक निर्धारित करते हैं?

  एकमत के इस अभाव का मुख्य कारण यह है कि कर–देय क्षमता की अवधारणा अनेक तथ्यों से गुंथी हुई है जिनमें लोगों की विचार–पद्धति, सरकार की राजकोषीय नीति, तथा नीतिकारों एवं विश्लेषणकारों द्वारा गिनवाए जाने वाले कर–प्रणाली के उद्देश्य आदि शामिल हैं। एक समस्या यह भी है कि कुछ अर्थशास्त्री सरकार को अर्थव्यवस्था का एक अभिन्न अंग न मानने की भूल भी करते रहे हैं।

देय–क्षमता सिद्धांत से भिन्नता

कर–देय क्षमता की अवधारणा और देय–क्षमता सिद्धांत कई प्रकार से आपस में मिलते–जुलते होने पर भी एक–दूसरे से भिन्न हैं। ये वैविध्य निम्नांकित हैं–

- कराधान के देय क्षमता सिद्धांत में इन प्रश्नों के उत्तर ढूंढने का प्रयास किया जाता है कि
- करदाताओं की सापेक्षिक कर–देयता कैसे निर्धारित की जाए; तथा
- इस प्रकार कुल कर–राजस्व में से किस करदाता से कितना भाग वसूल किया जाए।
- इसके विपरीत कर–देय–क्षमता की अवधारणा में इन प्रश्नों के उत्तर ढूंढ़ने का प्रयास किया जाता है कि
- एक विचाराधीन करदाता/करदाता–समूह/क्षेत्र आदि से अधिकतम कितना कर वसूला जा सकता है;
- समस्त करदाताओं/करदाता–समूहों/क्षेत्रों में सामूहिकतौर पर अधिकतम कितना कर वसूला जा सकता है; तथा
- इस प्रकार किन्हीं दो करदाताओं/करदाता–समूहों/क्षेत्रों की सापेक्षिक कर–देय–क्षमता का अनुमान क्या है?
- कर–देय–क्षमता की अवधारणा और देय–क्षमता सिद्धांत एक–दूसरे से मिलते–जुलते होते हुए भी भिन्न हैं।
- देय–क्षमता सिद्धांत में करदाताओं की सापेक्षिक देय–क्षमता निर्धारण करने के पश्चात एक पूर्वनिश्चित सकल कर–राजस्व में उनके वैयक्तिक भाग तय किए जाते हैं।
- कर–देय–क्षमता की अवधारणा के अनुसार करदाताओं की कर अदा करने की अधिकतम परिशुद्ध क्षमताएं (अर्थात अधिकतम संभव परिशुद्ध कर–राशियाँ) अनुमानित की जाती हैं। इन अनुमानों के आधार पर उनकी सापेक्षिक कर–देयताएँ

तय की जाती हैं, तथा पूर्वनिश्चित सकल कर–राजस्व में उनके वैयक्तिक भाग तय किए जाते हैं।

टिप्पणी

- **कर–देय क्षमता**

कर–देय–क्षमता की अवधारणा का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है, अर्थात (क) सकल अथवा परिशुद्ध कर–देय क्षमता और (ख) सापेक्षिक अथवा तुलनात्मक कर–देय क्षमता।

यदि करदाताओं की परिशुद्ध कर–देय क्षमताएं अनुमानित हो जाने पर उनकी तुलनात्मक कर–देय क्षमताओं के अनुमान भी प्राप्त हो जाते हैं। अतः यहां पर हम केवल परिशुद्ध कर–देय–क्षमता पर विचार करेंगे–

- **परिशुद्ध कर–देय क्षमता**

आर्थिक सहायता में पूरे समाज की कर–देय क्षमता को राष्ट्रीय आय के एक अनुपात के रूप में आंके जाने की प्रथा है। अर्थात इसका परिमापन बहुधा (अनुमानित परिशुद्ध कर–देय क्षमता/राष्ट्रीय आय) के रूप में दर्शाया जाता है। इस परिमापन द्वारा यह जानने की चेष्टा की जाती है कि सरकार राष्ट्रीय आय का अधिक से अधिक कितना अनुपात कर के रूप में वसूल कर सकती है। परंतु समस्या यह है कि इस परिशुद्ध देय–क्षमता के अनुमान की कोई मानकीकृत विधि अथवा कसौटी उपलब्ध नहीं है। फलतः इसे कई वैकल्पिक अर्थों में लिया जा सकता है–

1. **एक छोर**– इस मत को अपनाते हुए कि सरकार को समाज के समस्त संसाधनों को कर के रूप में वसूल करने का पूर्ण अधिकार है, समाज की संयुक्त कर–देय–क्षमता इसके समस्त संसाधनों के बराबर बैठती है। साथ ही एक आधुनिक सरकार से यह अपेक्षा भी की जाती है कि वह सभी करदाताओं पर बिना भेद–भाव के समान रूप से कर–नियम लागू करेगी। अतः किसी एक विचाराधीन करदाता के सभी संसाधन कर के रूप में तभी वसूल किए जाएंगे जब सभी करदाताओं के साथ ऐसी ही किया जा रहा हो। स्पष्ट है कि व्यावहारिकता के स्तर पर सरकार द्वारा पूरे समाज के समस्त संसाधनों को कर के रूप में हथियाने की अपेक्षा नहीं की जा सकती।
2. **अन्य कसौटियां**– कुछ विचारकों ने परिशुद्ध कर–देय–क्षमता के अनुमान में करदाताओं के कुल संसाधनों के अतिरिक्त कुछ अन्य कसौटियों का भी प्रयोग किया है, यद्यपि वे मापनीय नहीं हैं।
    - निर्वाह स्तर की कसौटी के अनुसार करदाताओं के निर्वाह–स्तर से ऊपर की सारी आय उनकी परिशुद्ध कर–देय–क्षमता के बराबर होती है। परंतु निर्वाह–स्तर की अवधारणा का कोई सर्वस्वीकार्य मापदंड उपलब्ध नहीं है, और यह लगातार परिवर्तनीय भी है।
    - निर्वाह–स्तर की कसौटी के अन्य रूप को अपनाते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि करदाताओं के प्रचलित रहन–सहन स्तर के ऊपर की सारी आय कर के रूप में वसूल की जा सकती है। परंतु यहां भी हमें कई प्रकार की अस्पष्टता का सामना करना पड़ता है। सभी व्यक्तियों का प्रचलित

टिप्पणी

रहन–सहन स्तर एक–सा नहीं होता। इसी प्रकार व्यवसायों के मामले में रहन–सहन की अवधारणा का कोई अर्थ नहीं बैठता। व्यक्तियों और कुटुम्बों के प्रचलित रहन–सहन को अनेक प्रकार के घटक प्रभावित करते हैं और इस कारण यह सदैव परिवर्तनीय होता है।

- एक अन्य मतानुसार कर–देय–क्षमता कर की वह अधिकतम राशि है जिसकी वसूली से अर्थव्यवस्था पर अत्यधिक दुष्प्रभाव न पड़े। परंतु यहां पर तीन बातें ध्यानयोग्य हैं। प्रथम यह कि इस कथनानुसार करों के केवल दुष्प्रभाव ही होते हैं, जबकि ऐसा नहीं है। कई करों के प्रभावों को हितकर भी माना जाता है। द्वितीय यह कि यहां पर 'अत्यधिक' शब्द का क्या अर्थ लगाया जाए? तृतीय बात यह है कि सरकारी गतिविधियों का अर्थव्यवस्था पर प्रभाव केवल कर–राजस्व की राशि पर ही निर्भर नहीं करता। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, यह प्रभाव करों के प्रकार, उनकी दरों तथा ऐसे अनेक घटकों के अतिरिक्त सरकार की व्यय–नीति से भी निर्मित होते हैं।
- एक अन्य मतानुसार कर–देय–क्षमता, कर–राजस्व की वह मात्रा है जिसका करदाता न्यूनतम संभव प्रतिरोध करे। स्पष्ट है कि यह कथन भी अन्य कथनों की भांति ही त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि करदाताओं का न्यूनतम संभव प्रतिरोध तो केवल शून्य ही हो सकता है जिसके तनदनुरूप उनकी कर–देयता भी शून्य होनी चाहिए।
- एक अन्य कथनानुसार कर–देय–क्षमता, कर–राजस्व की वह मात्रा है जिसमें करदाताओं का परित्याग शून्य हो। स्पष्ट है कि इस कथनानुसार भी उनकी कर–देय क्षमता सदैव शून्य होगी।
- यह भी ध्यानयोग्य है कर–देय–क्षमता का अर्थ कुछ भी लगाया जाए, कर–प्रणाली का अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता पर एक दीर्घकालीन प्रभाव पड़ने के फलस्वरूप यह सदैव परिवर्तनीय होती है।
- परिशुद्ध कर–देय–क्षमता की अवधारणा को कई अर्थों में प्रयोग किया जाता है।
- वस्तुस्थिति यह है कि इस अवधारणा का कोई सर्वस्वीकार्य अर्थ उपलब्ध नहीं है।
- इस अवधारणा का अर्थ कुछ भी लगाया जाए, यह सदैव अन्य घटकों के कारण परिवर्तनीय होता है।
- यह भी एक सत्य है कि कर–देय–क्षमता का संख्यात्मक अर्थ कुछ भी हो, यह कालांतर में स्थिर नहीं रहता, तथा कई कारकों पर निर्भर करता है।
- अमापनीय होते हुए भी इस अवधारणा का एक अपना औचित्य है।

कर–देय क्षमता को प्रभावित करने वाले कारक

देश की कर–देय–क्षमता का प्रमापन कुछ भी हो, यह सदैव अनेकों अल्पकालीन और दीर्घकालीन कारकों द्वारा प्रभावित होने के कारण लगातार परिवर्तनीय होती है। इनमें से कुछ मुख्य कारकों का वर्णन नीचे दिया गया है। इन कारकों की दशा–अभिव्यक्ति तीन परिवर्तनीय एवं परस्पर निर्भर तथ्यों पर निर्भर करती है–

(क) कर–दाताओं की आय एवं धन–संपत्ति तथा उनका वितरण–ढांचा,

(ख) करदाताओं की मनोस्थिति, तथा

(ग) कर–अदायगी से जुड़ी गतिविधियों की कष्टदायिता।

टिप्पणी

कर–देय–क्षमता को प्रभावित करने वाले कारकों में आय और धन के स्तर तथा उनके वितरण का एक अग्रिम स्थान है, क्योंकि इससे आय की सीमांत उपयोगिता तथा करदाताओं के उपयोगिता परित्याग पर प्रभाव पड़ता है। यदि अर्थव्यवस्था में विकास की प्रक्रिया द्वारा राष्ट्रीय आय तथा प्रतिव्यक्ति औसत आय आदि में वृद्धि हो रही हो तो भी कर–देय–क्षमता बढ़ती है। इसी प्रकार यदि सरकार की राजकोषीय तथा केंद्रीय बैंक की मौद्रिक नीतियों से अर्थव्यवस्था में स्थिरता आए तो भी कर देय क्षमता में वृद्धि की आशा की जानी चाहिए, विशेषकर जब इन नीतियों के कारण रोजगार और उत्पादन भी बढ़ रहे हों। इसी प्रकार विदेशी व्यापार तथा पूंजी की गतिशीलता का भी कर–देय क्षमता पर गहरा प्रभाव पड़ता है क्योंकि इनसे अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता तथा लागत–कीमत स्तर प्रभावित होते हैं। साथ ही इसी कर–प्रणाली में रखे गए करों तथा उनकी दरों आदि की भी बहुत महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। यही भूमिका अदायगी की समय–सारणी तथा अदायगी की कानूनी प्रक्रियाओं की है। इनसे भी करदाताओं की मनोस्थिति और परित्याग की भावना प्रभावित होती है जिससे उनकी कर–देय–क्षमता में अंतर पड़ता है। यह धारणा भी काफी लोकप्रिय है कि अनर्जित आय, पूंजी लाभ तथा इसी प्रकार की अन्य मदों पर लगाए गए कर कम कष्टदायी होते हैं। करदाताओं के सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन और विचार प्रणाली का एक अपना स्थान अलग रहता है। उदाहरणार्थ युद्ध आदि के दिनों में देश–भक्ति की भावना सबल हो जाती है तथा लोग अधिक कर अदा करने को तैयार हो जाते हैं। इसी प्रकार जब किसी विशेष राजनीतिक अथवा सामाजिक समस्या का प्रश्न हो तो करदाताओं की इच्छा–शक्ति में समुचित परिवर्तन आने की आशा की जानी चाहिए जिससे स्थिति के अनुसार कर–देय–क्षमता बढ़ भी सकती है तथा घट भी सकती है। इस संदर्भ में सरकार की बजटीय व्यय–नीति की भूमिका भी कम महत्वपूर्ण नहीं होती। यदि करदाताओं के विचार में सरकार राजस्व का सदुपयोग कर रही है, तो उनकी कर–देय–क्षमता भी बढ़ जाती है और इसके विपरीत अपव्यय होने की दशा में लोग कर की अदायगी को सरकार द्वारा शोषण की संज्ञा देने लगते हैं।

- कर–देय–क्षमता अनेकों कारकों से प्रभावित होने के कारण लगातार परिवर्तनीय होती है।
- सरकार की समस्त बजटीय नीति और गतिविधियाँ, वितरणीय असमानताएँ, अर्थव्यवस्था का विकास स्तर और स्थिरता, रोजगार के अवसर तथा करदाताओं का सरकार की प्रशासनिक क्षमता के बारे में मत आदि उनकी कर–देय–क्षमता को प्रभावित करने वाले मुख्य कारकों में गिने जाते हैं।
- ये सभी कारक एक–दूसरे से गुंथे होने के साथ–साथ परस्पर निर्भर रहते हैं।

इसके अतिरिक्त करदाताओं की दीर्घकालीन कर–देय–क्षमता पर सरकार की समस्त आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक नीतियों का भी प्रभाव पड़ता है। यदि इन नीतियों के कारण आर्थिक विकास अवरुद्ध होता हो, तो देश की कर–देय–क्षमता में

टिप्पणी

दीर्घकालीन कमी आने की प्रबल संभावना होती है। इसी प्रकार करदाताओं की मानसिक स्थिति का भी उनकी कर–देय–क्षमता पर गहरा प्रभाव पड़ता है। यदि करदाताओं के मतानुसार सरकार का प्रशासन न्यायोचित और सक्षम है तो वे अधिक कर अदा करने को सुगमता से तैयार हो जाते हैं।

कर–देय–क्षमता की अवधारणा की उपयुक्तता

एक निहित मान्यता– कर–देय–क्षमता की अवधारणा की उपयुक्तता पर विचार करते हुए कई अर्थशास्त्री जब इसकी परिशुद्ध राशि पर विचार करते हैं, तो बहुधा उनकी एक निहित मान्यता यह रहती है कि राज्य–अर्थव्यवस्था का एक अभिन्न अंग नहीं है। इस निहित मान्यता के अंतर्गत सरकार अपनी बजट संरचना में मुख्य रूप से केवल इस बात पर विचार करती है कि निजी क्षेत्र से कितना कर वसूला जा सकता है तथा इसे वसूलने का सर्वोत्तम ढंग क्या होना चाहिए।

मस्ग्रेव का मत–उपयुक्त दृष्टिकोण से सहमत होना अति कठिन है। जैसा कि मस्ग्रेव का कहना है, सरकार को अर्थव्यवस्था का एक अंग मानते हुए यह प्रयत्न किया जाना चाहिए कि इसका बजट समूचे तौर पर सर्वाधिक संभव कल्याणकारी हो। ऐसे बजट में कर–प्रणाली से जुड़े प्रश्नों का समाधान बजट के व्यय–पक्ष को ध्यान में रखते हुए ही किया जाना चाहिए। इसमें सार्वजनिक ऋण संबंधी प्रश्नों का समाधान शामिल करना भी हितकर रहता है। उदाहरणार्थ केंद्रीय बैंक से कितना उधार लिया जाए, कीमतों और रोजगार में स्थिरता लाने के लिए किन नीतियों का उपयोग किया जाए आदि। मस्ग्रेव के अनुसार इन सारे प्रश्नों के संदर्भ में कर–देय–क्षमता की अवधारणा अर्थहीन होकर रह जाती है। परंतु फिर भी मस्ग्रेव के इस विचार को विस्तृत करते हुए यह कहना चाहिए कि सरकार जितना भी कर–राजस्व जुटाने का निर्णय ले, इस भार का करदाताओं पर आबंटन यथासंभव उनकी सापेक्षिक कर–देय–क्षमता के आधार पर ही होना चाहिए।

कर देय क्षमता की परिशुद्ध तथा सापेक्षिक दोनों अवधारणाएं काफी त्रुटिपूर्ण हैं। परंतु फिर भी व्यावहारिक स्तर पर सापेक्षिक (अथवा तुलनात्मक) कर–देय–क्षमता की अवधारणा अधिक उपयोगी है। जब सरकार विभिन्न उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए कर–राजस्व की कोई राशि जुटाने का निर्णय ले लेती है तो इसे यह तय करना होता है कि इस कर–राशि का भार विभिन्न करदाताओं में किस प्रकार बांटा जाए। यह कार्य किसी दृष्टिकोण से भी सरल नहीं है, परंतु फिर भी इस समस्या का कुछ न कुछ समाधान तो अनिवार्य होता है। अतः अधिकतर मामलों में सामान्य जानकारी के आधार पर ही इस बारे में निर्णय ले लिए जाते हैं। इस कारण इन निर्णयों के बारे में मतभेद भी बने रहते हैं तथा इसके सुधार हेतु सुझावों की भी भरमार रहती है। अधिकतर मामलों में इस क्रिया–प्रक्रिया के फलस्वरूप कर–प्रणाली एक जटिल रूप धारण कर लेती है जिसकी उपयोगिता संदेहजनक रहती है।

भारत में कर दान क्षमता का प्रयोग

भारत में इस अवधारणा के सापेक्षिक रूप का ही प्रयोग किया गया है और वह भी आंशिक रूप में–

टिप्पणी

1. स्थानीय सरकारों की कर–प्रणाली में इस अवधारणा को व्यावहारिक सीमाओं के कारण लगभग पूर्ण रूप से अनदेखा कर दिया जाता है तथा मुख्य उद्देश्य कर राजस्व की पर्याप्त वसूली ही हो जाता है।
2. इसी प्रकार राज्य सरकारें कई कर–क्षेत्रों को राजनीतिक तथा अन्य कारणों से कर–मुक्त रखने की नीति अपना लेती हैं। भू–राजस्व, तथा खेती आय पर आय–कर आदि राज्य सरकारों की इस नीति के मुख्य उदाहरण हैं।
3. भारत की केंद्रीय सरकार अपनी कर–प्रणाली को कर–देय–क्षमता के अनुकूल ढालने का दावा करती है। यदि इसके करों में से प्रत्यक्ष कर–वर्ग को लिया जाए, तो सरकार का दावा काफी ठीक प्रतीक होता है। सभी प्रत्यक्ष करों की दरें काफी प्रगामी हैं, तथा बचत आदि को प्रोत्साहित करने हेतु दी गई कर–छूटों का कर–प्रणाली के इस आयाम पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार परोक्ष करों की पश्चगामिता को कम करने के भी काफी प्रयास किए गए हैं। लगभग वे सब वस्तुएं जो निम्न–आय वर्ग खरीदता है, कर–मुक्त रहती हैं जैसे कि कच्चा अन्न तथा अन्य खाद्य पदार्थ इसी प्रकार अन्य उपभोग्य वस्तुओं पर कर लगाते समय भी सरकार का यह प्रयत्न रहता है कि हानिकारक (जैसे तंबाकू तथा अन्य नशीले पदार्थ) तथा सामान्यतः उच्च आय–वर्ग द्वारा ली जाने वाली वस्तुओं पर कर अधिक हों।

   परंतु व्यावहारिकता के स्तर पर केन्द्रीय सरकार की कर–नीति में अनेकों त्रुटियां देखने को मिलती हैं। कई ऐसी वस्तुओं पर भी कर लगाया जाता है जो जनसाधारण की उपभोग सूची में आती है। साथ ही करों की व्यापक चोरी के कारण कर–देय–क्षमता और कर–देयता में कोई सीधा संबंध नहीं बचा है। इसके अतिरिक्त हमारे देश में विभिन्न प्रकार की सेवाओं पर भी कर लगाने की नीति अपनाई जा चुकी है जिसका कर–देय–क्षमता आयाम कुछ भी रूप ले सकता है।
4. भारत में कर–देय–क्षमता की प्रयुक्ति का एक अन्य पहलू भी है। केन्द्र से वित्तीय साधन राज्यों को हस्तांतरित किए जाते हैं, जिनमें कुछ का हस्तांतरण वित्त आयोग की सिफारिशों पर किया जाता है। अपेक्षा यह की जानी चाहिए कि आयोग राज्यों की आर्थिक विषमताओं तथा उनकी असमान देय–क्षमता को ध्यान में रखते हुए अपनी सिफारिशों की रूपरेखा तय करेगा। परंतु वास्तविकता में ऐसा नहीं हो पाता। एक तो हमारे संविधान में इस बारे में कोई स्पष्ट आदेश नहीं हैं तथा दूसरे इस संबंध में उपयुक्त आंकड़ा का भी अभाव है।

   जहां तक राज्यों की सापेक्षिक कर–देय–क्षमता के अनुमान का प्रश्न है, वित्त आयोग के समक्ष आंकड़ों के अभाव के अतिरिक्त अवधारणात्मक कठिनाइयां भी रही हैं। परिणामस्वरूप कर–देय–क्षमता के अपूर्ण तथा भ्रामक अर्थों का भी प्रयोग होता रहा है। उदाहरणार्थ पांचवें वित्त आयोग ने यह मत अपनाया कि किसी विचाराधीन राज्य की कर–देय–क्षमता उसके वार्षिक उत्पाद के एक निश्चित अनुपात के बराबर होती है। इसी विधि का प्रयोग योजना आयोग भी करता है, अर्थात किन्हीं दो राज्यों की कर–देय क्षमता का अनुपात उनके सकल वार्षिक उत्पादों के अनुपात के बराबर मान लिया जाता है। इस विधि में स्पष्ट

टिप्पणी

रूप से कई त्रुटियां हैं। इसमें कर–देय–क्षमता को निर्धारित करने वाले अन्य सभी कारक अनदेखे रह जाते हैं। इन कारकों में शहरी आबादी का अनुपात, राज्य का औद्योगीकरण, अर्थव्यवस्था का मौद्रीकरण, आय एवं धन का वितरण, मांग का ढांचा तथा प्रशासनिक कार्यक्षमता आदि शामिल हैं। इस विधि में एक विशेष त्रुटि यह है कि यह कम आय वाले राज्यों के लिए अधिक बोझिल है।

5. सातवें वित्त आयोग ने इस विधि में एक महत्वपूर्ण संशोधन करते हुए राज्यों की आयों को उनकी देय–क्षमता का आधार बनाया तथा उनके राजस्वों को उनकी आयों पर प्रतिगमित किया।

   नौवें वित्त आयोग ने निम्न दो वैकल्पिक विधियों का वर्णन किया।

(क) समुच्चित समाश्रयण विधि

इस समाश्रयण विधि में निर्धारित चर के स्थान पर कुल कर–राजस्व अथवा प्रति–व्यक्ति कर–राजस्व लिया जाता है, तथा निर्धारक चरों के स्थान कुछ मुख्य 'क्षमता सूचकांकों' को दिया जाता है जैसे कि प्रतिव्यक्ति आय अथवा उपभोग, शहरी आबादी का अनुपात, मौद्रीकरण का स्तर, आय का अंतर्वैयक्तिक वितरण तथा अर्थव्यवस्था का ढांचा। इस बहुविध समाश्रयण का रूप रेखाकार अथवा रैखिक–भिन्न कोई भी हो सकता है। समाश्रयण के गुणांकों के मूल्य करों की औसत प्रभावी दरों का प्रतिनिधित्व करते हैं। तत्पश्चात किसी राज्य विशेष की कर–देय–क्षमता अनुमानित समीकरण में निर्धारक चरों के मूल्य रखने से मिल जाती है।

इस विधि में त्रुटियां तथा गुण दोनों ही हैं। गुणों के दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि इसमें आंकड़ों के सीमित योग फलों का प्रयोग किया जा सकता है तथा इसमें कर आधारों की आपसी निर्भरता भी अनदेखी नहीं रह जाती। इसमें कर आधारों के आकार को भी सक्रिय भूमिका प्रदान की जाती है। त्रुटियों के दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि इसमें कर आधारों अथवा उनके प्रतिस्थापकों की वास्तविक राशियों को न लेकर क्षमता–सूचकांकों को लिया जाता है। इसके अतिरिक्त यदि इस विधि में प्रत्येक कर के लिए अलग–अलग समाश्रयण के समीकरण का अनुमान लगाया जाए तो करों की आपसी निर्भरता भी अछूती रह जाती है।

(ख) प्रतिनिधि कर प्रणाली विधि

इस विधि में सभी राज्यों को किसी एक विचाराधीन कर से प्राप्त हुए कुल राजस्व को उसी कर की कुल आधार राशि के अनुपात के रूप में अनुमानित किया जाता है, तथा उसी अनुमानित अनुपात को उस कर की प्रभावी दर की संज्ञा दी जाती है। तत्पश्चात देशभर की इस औसत दर से किसी भी राज्य की उस कर के लिए परिशुद्ध देय–क्षमता अनुमानित की जा सकती है। स्पष्ट है कि यह प्रभावी दर अखिल भारतीय औसत दर है। उदाहरण के लिए शराब पर उत्पादन शुल्क को लीजिए। (सभी राज्यों द्वारा प्राप्त किया गया शराब पर उत्पादन शुल्क)/(सभी राज्यों में उत्पादित शराब का मूल्य) का अनुपात एक औसत दर अथवा प्रभावी दर है। इस अनुपात को विचाराधीन राज्य में उत्पादित शराब के मूल्य से गुणा करने पर उस राज्य की शराब से उत्पन्न कर–देय–क्षमता है। इस प्रकार विचाराधीन राज्य की कुल कर–देय–क्षमता का अनुमान सभी करों की अनुमानित कर–देय–क्षमताओं का जोड़ होती है।

टिप्पणी

इस विधि की दो मुख्य त्रुटियां हैं। पहली त्रुटि विचाराधीन कर की 'प्रभावी दर' के अनुमान से संबंधित है। कर–देय–क्षमता उस कर से सर्वाधिक संभव प्राप्य राशि होनी चाहिए, न कि वास्तविक प्राप्त राशि। इस विधि की यह भ्रामक मान्यता है कि देशभर की कर देय–देय–क्षमता उस कुल कर–राजस्व के बराबर है जो वास्तव में वसूल किया जा रहा है, जब कि हम जानते हैं कि कई करों की दरें गैर–आर्थिक कारकों के फलस्वरूप कम रखी जाती हैं, कई करों की चोरी भी होती है तथा कई कर ऐसे भी होते हैं जिन्हें लगाया नहीं जाता। इस विधि की दूसरी मुख्य त्रुटि यह है कि इसमें अंतर्राज्यीय आर्थिक तथा अन्य अंतरों को कोई स्थान नहीं दिया जाता। एक विचाराधीन कर आधार, कुल आय, कुल उत्पादन, कुल बिक्री मूल्य इत्यादि के अतिरिक्त कई अन्य घटकों पर भी निर्भर करता है, जिन पर विचार किए बिना इसका उचित अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

बाद के वित्त आयोगों तथा अन्य सरकारी एजेंसियों द्वारा भी अंतर्राज्यीय कर–देय–क्षमता के अनुमान हेतु उपर्युक्त विधियों के ही विभिन्न आकार प्रकारों का प्रयोग किया गया है।

अपनी प्रगति जांचिए

13. निम्न में से किस वित्त आयोग में राज्य की कर–देय क्षमता उसके वार्षिक उत्पाद के एक निश्चित अनुपात के बराबर होती है?
    (क) तीसरी वित्त आयोग (ख) पांचवा वित्त आयोग
    (ग) सातवां वित्त आयोग (घ) नौवा वित्त आयोग
14. समुच्चित समाश्रयण तथा प्रतिनिधि कर प्रणाली किस वित्त आयोग के दो वैकल्पिक विधियों के अंतर्गत आते हैं?
    (क) पांचवें वित्त (ख) सातवें वित्त
    (ग) नौवें वित्त (घ) ग्यारहवें वित्त

1.9 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (क)
3. (ग)
4. (क)
5. (क)
6. (ख)
7. (ख)
8. (ग)
9. (ख)
10. (ग)

11. (ग)
12. (ख)
13. (ख)
14. (ग)

टिप्पणी

1.10 सारांश

सार्वजनिक वित्त से अभिप्राय किसी देश की सरकार के वित्तीय साधनों अर्थात आय और व्यय से है। अर्थशास्त्र के जिस भाग में सरकार की आय तथा व्यय संबंधी समस्याओं का अध्ययन किया जाता है उसे सार्वजनिक वित्त कहते है।

सार्वजनिक व्यय देश की अर्थव्यवस्था को मूल रूप से प्रभावित करते हैं। मंदी काल में किए गए सार्वजनिक व्यय आय, रोजगार व उत्पादन बढ़ाते हैं। देश में खुशहाली को वातावरण तैयार करते हैं। सार्वजनिक व्यय से लोगों के कल्याण में वृद्धि होती है। सार्वजनिक वित्त में विदेशी सहायता का प्रावधान है और सरकार विदेशी सहायता प्राप्त कर सकती है जबकि निजी वित्त में विदेशी सहायता का कोई प्रावधान नहीं है।

सरकार का बजट सदैव संतुलित रहता है, अर्थात् उसकी आय (राजस्व) और व्यय बराकर रहते हैं। व्यय के पश्चात उसके पास आय का कोई भाग नहीं बचता और न ही निर्धारित व्यय के लिए आय कम पड़ती है। राज्य की वित्तीय गतिविधियों के प्रभाव अति जटिल होने के साथ–साथ प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में होते हैं। इस कारण उनमें से अधिकतर का मात्रीकरण कर पाना लगभग असंभव होता है।

किसी भी शुल्क का उद्देश्य राजस्व जुटाना अथवा अर्थव्यवस्था की कार्य–प्रणाली में सुधार लाना अथवा इन दोनों का एक सम्मिश्रण हो सकता है। बहुधा सरकार की प्राथमिकता कई उद्देश्यों के सम्मिश्रण के लिए रहती है।

प्रत्यक्ष कर वे कर हैं जिन्हें व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से अदा करता है तथा उनका भार उस पर ही पड़ता है, किसी अन्य व्यक्ति पर इनका भार नहीं पड़ता।

अप्रत्यक्ष कर वे कर हैं जिनका प्रारंभिक भार एक व्यक्ति पर पड़ता है, परंतु उस भार को वह दूसरों पर टालने में सफल हो जाता है। जैसे–बिक्री कर, उत्पादन कर, सीमा शुल्क, आदि अप्रत्यक्ष करों के ही उदाहरण हैं।

1.11 मुख्य शब्दावली

- **सार्वजनिक वित्त** : सरकार के आय एवं व्यय से संबंधित है।
- **प्राथमिक वस्तुएं** : प्राथमिक वस्तुएं वे वस्तुएं हैं जिनके उपभोग से न केवल उपभोक्ता बल्कि गैर–उपभोक्ता भी लाभान्वित होते हैं।
- **सार्वजनिक वस्तुएं** : सार्वजनिक वस्तुएं वे वस्तुएं होती हैं जिन पर सारे समाज का साझा स्वामित्व होता है और सभी लोग उनका उपयोग भी करते हैं।

टिप्पणी

- **निजी वस्तुएं** : निजी वस्तुएं वे वस्तुएं होती हैं जिनका उत्पादन तथा उपभोग निजी तौर पर किया जाता है।
- **कर** : सरकार को दिया गया अनिवार्य अंशदान जिसके बदले करदाता को कोई प्रत्यक्ष लाभ सरकार से नहीं मिलता है।
- **गैर कर राजस्व** : प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों के अतिरिक्त अन्य स्रोतों से सरकार की प्राप्तियां।

1.12 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. सार्वजनिक वित्त का अर्थ एवं परिभाषा को स्पष्ट कीजिए।
2. राजकोषीय नीति से आप क्या समझते हैं?
3. सार्वजनिक, निजी एवं प्राथमिक वस्तुओं को समझाइए।
4. प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष करों को समझाते हुए इसके गुण व दोषों को बताइए।
5. वस्तु एवं सेवा कर (जीएसटी) से आप क्या समझते हैं?
6. कर देय क्षमता पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. सार्वजनिक वित्त को समझाते हुए इसकी विषयवस्तु की विवेचना कीजिए।
2. राजकोषीय नीति के विभिन्न कार्यों की समीक्षा कीजिए।
3. सार्वजनिक क्षेत्र के वित्त और निजी क्षेत्र के वित्त में तुलनात्मक विवेचना कीजिए।
4. अधिकतम सामाजिक लाभ सिद्धांत अपनाने में व्यावहारिक स्तर पर किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है? वर्णन कीजिए।
5. जीएसटी की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
6. कर देय क्षमता के कर सिद्धांत पर एक व्याख्यात्मक निबंध लिखिए।

1.13 सहायक पाठ्य सामग्री

Tyagi, B. P. 1975. *Public Finance*. Meerut: Jai Prakash Nath and Co.

Sundaram and Sundaram. 1995. *Public Finance*. New Delhi: Sultan Chand & Sons.

Huge Dalton. 2013. *Principles of Public Finance*. New Delhi: Routledge.

Houghton, E. W. 1998. *Public Finance*. Baltimore: Penguin.

Gupta, S. B. 1994. *Monetary Economics*. New Delhi: S.Chand & Company.

इकाई 2 बजट

टिप्पणी

संरचना

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 बजट की परिभाषा और निर्माण
  2.2.1 बजट का अर्थ एवं परिभाषाएं
  2.2.2 बजट की विशेषताएं
  2.2.3 बजट के कार्य
  2.2.4 बजट निर्माण की प्रक्रिया
2.3 राजकोषीय घाटा
2.4 राजकोषीय नीति
2.5 हीनार्थ प्रबंधन
2.6 केंद्र–राज्य वित्तीय संबंध
2.7 नवीनतम वित्त आयोग की अनुशंसाएं
2.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.9 सारांश
2.10 मुख्य शब्दावली
2.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.12 सहायक पाठ्य सामग्री

2.0 परिचय

किसी भी अर्थव्यवस्था के लिए बजट वह व्यवस्था है जिसके द्वारा देश में उत्पादन, आय-व्यय, वित्त प्रबंध आदि को देखा जाता है। बजट से ही सरकार की वित्तीय नीतियों की योजना, समीक्षा एवं मूल्यांकन किया जाता है। बजट आंकड़े देश की योजना एवं कार्यक्रम के अनुमान की मदें हैं। बजट देश की आर्थिक स्थिति का ब्यौरा है। बजट को कार्यपालिका में प्रस्तुत किया जाता है। बजट प्रक्रिया के कुछ सिद्धांत हैं जिनके आधार पर एक अच्छा बजट तैयार हो सकता है।

बजट शब्द की व्युत्पत्ति फ्रांसीसी शब्द Bougette से हुई है। सामान्य रूप से बजट एक अर्थव्यवस्था के कुशल एवं नियंत्रित संचालन का एक महत्वपूर्ण उपकरण है। इसके अभाव में किसी अर्थव्यवस्था के निहितार्थों एवं उद्देश्यों को प्राप्त करना संभव नहीं हो सकता है। बजट सरकार की आय-व्यय का विवरण प्रस्तुत करने के साथ उस देश की वास्तविक आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति का आइना प्रस्तुत करता है जिसके आधार पर उस देश की अर्थव्यवस्था की वास्तविक स्थिति तक पहुंचा जा सकता है। इस प्रकार बजट देश के वित्तीय प्रवाहों का उल्लेख है जो नीतियों एवं कार्यक्रमों की सफलता के लिए अत्यंत ही आवश्यक समझा जाता है। यह एक सरकारी प्रपत्र होता है जिसमें सार्वजनिक कार्यक्रमों को संचालित करने के लिए आवश्यक कार्यों की पूर्ति करने के स्रोत एवं मात्रा के साथ संबंधित मदों का पूर्ण विवरण होता है जिसका संबंध किसी एक निश्चित

समयावधि से होता है। इस प्रकार बजट सरकार के अर्थपूर्ण प्रशासन एवं कुशलता का प्रतीक माना गया है।

टिप्पणी

बजट निर्माण या बजटिंग का उद्देश्य देश का विकास है और भारत एक कल्याणकारी राज्य है जिसमें जनता की भलाई के लिए सार्वजनिक क्षेत्र कार्य करता है। अतः सार्वजनिक क्षेत्र का विकास एक महत्वपूर्ण पहलू है। सापेक्ष अर्थ में भी सार्वजनिक क्षेत्र के विकास में मदद की। वैगनर ने बताया कि आर्थिक विकास के साथ सार्वजनिक क्षेत्र भी विकासित होता है और आर्थिक विकास के साथ सार्वजनिक व्यय में भी वृद्धि होती है। पारंपरिक कार्यों के साथ प्रशासनिक कार्यों में वृद्धि, जनता की सरकार से अधिक अपेक्षा, अधिक निवेश आदि सार्वजनिक व्यय में वृद्धि करते हैं।

इस इकाई में बजट की परिभाषा और निर्माण, राजकोषीय घाटा, राजकोषीय नीति, हीनार्थ प्रबंधन, केन्द्र-राज्य वित्तीय संबंध तथा नवीनतम वित्त आयोग की अनुशंसाएं को समझाया गया है।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- बजट की परिभाषा और बजट निर्माण प्रक्रिया से परिचित हो सकेंगे;
- राजकोषीय घाटे को समझ पाएंगे;
- राजकोषीय नीति की विवेचना कर पाएंगे;
- हीनार्थ प्रबंधन को जान पाएंगे;
- केंद्र–राज्य वित्तीय संबंधों का आकलन कर पाएंगे;
- नवीनतम वित्त आयोग की अनुशंसाओं का विश्लेषण कर पाएंगे।

2.2 बजट की परिभाषा और निर्माण

सामान्यतः एक वर्ष की अवधि के लिए बनाए गए वित्त विवरण को बजट कहा जाता है। बजट राजस्व तथा व्ययों का ब्यौरा होता है। बजट वित्तीय विवरण यह भी बताता है कि सरकार की वित्तीय नीतियां एव महत्वाकांक्षाएं क्या है? देश के आर्थिक विकास के संबंध में सरकार के क्या विचार है।

बजट के अर्थ पर विचार करें तो बजट का संबध किसी अवधि के वित्तीय प्रबंध से, साथ ही बजट में इसका उल्लेख किया जाता है कि सरकारी उपयोग के लिए दुर्लभ-साधनों को प्राप्त करने के लिए क्या नीतियां अपनाई जाएंगी। हालांकि बजट में केवल किसी वर्ष में सरकार की आय एवं व्यय का ब्योरा ही रहता है। बजट एक प्रक्रिया का परिणाम है जिसमें देश के आर्थिक विकास के लिए वित्तीय योजना की तैयारी, विधानपालिका द्वारा योजना की समीक्षा, परिणामें का मूल्यांकन और उनकी सार्वजनिक रिपोर्टिंग शामिल की जाती है। जिससे देश की अर्थव्यवस्था के संबंध में सरकार के विचार सामने आ सकें।

2.2.1 बजट का अर्थ एवं परिभाषाएं

टिप्पणी

किंग के अनुसार- "बजट एक प्रशुल्क योजना है, जिसके द्वारा व्यय को आय से संतुलित किया जाता है।"

पी.एफ. टेलर के शब्दों में- "बजट सरकार की मास्टर वित्तीय योजना है। यह आगामी आय के अनुमान तथा बजट के प्रस्तावित व्ययों के अनुमान साथ-साथ प्रदान करता है।

गैस्टन जेज के अनुसार- "एक आधुनिक राज्य में बजट एक पूर्व कल्पना तथा सार्वजनिक आय एवं व्यय का अनुमान है तथा कुछ विशिष्ट व्ययों को करने व आय को प्राप्त करने का अधिकार है।"

शिराज के अनुसार- "बजट आय तथा व्यय का विवरण है। यह सरकार द्वारा अनुमानित व्यय को पूरा करने के लिए बनाया जाता है। इसमें सामान्यत: दो वित्तीय अवधियां होती है- समाप्त होने वाली अवधि तथा आगामी अवधि। बजट में पिछले वर्ष के आय-व्यय का अनुमान तथा घाटों को पूरा करने और बचत को वितरित करने के प्रस्ताव होते है।"

डॉल्टन के अनुसार- "संतुलित बजट की सामान्य विचारधारा यह है कि समयावधि में आय बढ़ती है या व्यय से कम नहीं रहती है।"

डब्ल्यू.पी. विलोबी के अनुसार- "बजट एक साथ एक रिपोर्ट, एक अनुमान तथा एक प्रस्ताव है। यह एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा वित्तीय प्रशासन की सभी विधियों को संबंधित किया जाता है उसकी तुलना की जाती है उसमें समन्वय स्थापित किया जाता है।"

पी.एल. बिल्यू के अनुसार- यह एक निश्चित अवधि की अनुमानित आय एवं व्ययों का विवरण है, यह तुलनात्मक तालिका है जिसमें प्राप्त होने वाली आय तथा किये जाने वाले व्ययों की राशियों को दिखाया जाता है।"

जी. एस. लाल के अनुसार, ''बजट-संपूर्ण सरकारी प्राप्तियों तथा खर्चों का एक पूर्वानुमान तथा अनुमान है। और कुछ प्राप्तियों के संग्रह करने तथा कुछ खर्चों को करने का एक आदेश या प्राधिकरण है।''

जी. एस. लाल ने अपनी परिभाषा में बजट का अर्थ व्यक्त करने के साथ उन दूसरे पहलुओं को भी शामिल किया है जो देश की आर्थिक नीति को स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार ''विशेष रूप से बजट शब्द से हमारा अभिप्राय निम्न प्रलेखों का समूह है जो कि इस प्रकार हैं–

1. बजट में पिछली अवधि के खर्च, प्राप्त राजस्व तथा अन्य वित्तीय मामलों की समीक्षा की जाती है।
2. यह अनुमान लगाना कि आगामी वित्त वर्ष में कितना व्यय होंगा तथा उन्हें पूरा करने के लिए उपलब्ध साधनों का मूल्यांकन करना एवं नए यह देखना कि क्या कुल व्यय राशि करों की वर्तमान दर पर पूरी की जा सकती है।
3. व्यय को संतुलित करने के लिए करों में परिवर्तन, नए करों को लगाने के लिए प्रस्ताव।

टिप्पणी

जी.एस. लाल ने बजट के संबंध में जो पक्ष रखे हैं तथा उन्हें हम बजट के निम्न गुणों की व्याख्या की सहायता से स्पष्ट कर सकते है:

1. बजट एक देश की योजना अथवा कार्यक्रम है जिसमें यह देखा जाता है कि पिछले अनुभवों के आधार पर वर्तमान अवधि के लिए, सुव्यवस्थित ढंग से क्रियान्वयन के लिए निर्धारित नीतियां उचित हैं या नहीं। यह योजना अथवा कार्यक्रम देश के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक ढांचे पर आधारित होता है।
2. बजट में जो आंकड़े दिए जाते हैं वे केवल अनुमान होते हैं; वास्तविक नहीं।
3. बजट कार्यक्रम की एक व्यापक योजना होती है। जिसमें सरकार की सभी आवश्यकताओं, आय अथवा व्यय का वर्णन करने के साथ देश की आर्थिक-स्थिति का पूर्ण वर्णन होता है और इसकी व्यापकता है।
4. बजट साधारणतया वार्षिक ही होता है। आवश्यकता पड़ने पर अनुपूरक बजट की व्यवस्था की जाती है।
5. बजट निश्चय ही कार्यपालिका द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।
6. बजट को सरकार की आर्थिक नीतियों का केवल प्रारंभिक प्रस्ताव नहीं कहा जा सकता बल्कि यह क्रिया करने की योजना है। जो बजट प्रस्तुत किया जाता है, यह अनिवार्य नहीं है कि उसे ही पारित किया जाए, आवश्यकतानुरूप संशोधन भी किए जाते हैं।

बजट के गुणों को ध्यान में रखते हुए हम जी. एस. लाल के शब्दों में बजट की निम्नलिखित परिभाषा दे सकते हैं कि ''बजट वह व्यापक योजना अथवा कार्यक्रम होता है, जो क्रियान्वयन के लिए तैयार किया जाता है, इसमें एक निश्चित अवधि के लिए, जो प्राय: एक वर्ष की होती है, व्यय तथा राजस्व के अनुमान होते हैं, जिन्हें कार्यपालिका द्वारा विधानपालिका के मत के लिए तैयार तथा प्रस्तुत किया जाता है।''

2.2.2 बजट की विशेषताएं

बजट की विशेषताओं को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है-

1. **कार्यपालिका का दायित्व:** कार्यपालिका देश के प्रशासनिक कार्यों का उत्तरदायित्व निभाती है क्योंकि कार्यपालिका संपूर्ण देश की वित्तीय स्थिति का सही आकलन कर पाती है। इसलिए बजट-निर्माण का कार्यभार कार्यपालिका को ही सौंपा गया है। कार्यपालिका बजट निर्माण की जिम्मेदारी को विशेषज्ञ-निकायों के परामर्श से पूरा करती है।

   उदाहरण के लिए भार में केंद्रीय तथा राज्य वित्त विभाग आय तथा व्यय के प्राक्कलन तैयार करने कार्यपालिका को परामर्श देकर उसकी मदद करते है। इस बजट निर्माण के लिए कार्यपालिका ही उत्तरदायी होती है।
2. **बजट संतुलित होना चाहिए:** बजट देश के आर्थिक विकास में मदद करता है अत: बजट का संतुलित होना जरूरी है। बजट में आय तथा व्यय की राशि बराबर होनी चाहिए। यदि आय, व्यय से अधिक हो तो इसे लाभ का बजट कहा जाता है। और यदि इसके विपरीत हो तो इसे हानि का बजट कहा जाता है।

टिप्पणी

3. **प्राक्कलन नकद आधार पर तैयार किए जाएं:** बजट बनाते समय यह ध्यान रखने योग्य है कि बजट को निर्धारित वित्तीय वर्ष की वास्तविक आय तथा व्यय के आधार पर ही तैयार किया जाना चाहिए। क्योंकि जिस आय की प्राप्ति किसी और वर्ष होनी हो उसका ब्यौरा इस वित्तीय-वर्ष में नहीं होना चाहिए अन्यथा अनुमान गलत परिणाम भी दे सकते हैं।
4. **बजट वार्षिक आधार पर बनाया जाना चाहिए:** कार्यपालिका से उम्मीद की जाती है वह केवल एक वर्ष के लिए ही प्राक्कलन प्रस्तुत करे। वित्तीय कार्यक्रमों का क्रियान्वयन एक वर्ष की अवधि में उचित रूप से पूर्ण किया जा सकता है। साथ ही लंबी अवधि के लिए तो योजनाएं बनाई जाती हैं; बजट नहीं क्योंकि आय व्यय में स्थितियों के अनुसार परिवर्तन आता रहता है।
5. **बजट व्ययगमन (Lapse) के नियमानुसार होना चाहिए:** यह बजट निर्माण का महत्वपूर्ण सिद्धांत है। इससे अभिप्राय है कि एक वर्ष के लिए जितना वित्त स्वीकार किया गया हो उसे उसी वर्ष में खर्च किया जाना चाहिए और जो वित्त खर्च न हो सके उसका व्ययगमन होना चाहिए यानी उन्हें उस वित्तीय अवधि में निरस्त माना जाना चाहिए यदि आवश्यकता हो तो पुन: अगले वर्ष के लिए प्राक्कलन बनाए जाने चाहिए और उस वित्त का प्राक्कलनों में उल्लेख किया जाना चाहिए तथा वित्त पालिका द्वारा उसकी पुन: स्वीकृति ली जानी चाहिए। ऐसा न करने से वित्त का दुरुपयोग हो सकता है और महत्वपूर्ण योजनाएं छूट सकती हैं।
6. **बजट एकता पर आधारित होना चाहिए:** बजट से सारे देश की वित्तीय-स्थिति का ब्यौरा होता है। अत: यदि प्रत्येक विभाग अपना बजट अपने-अपने ढंग से बनाए तो किसी विभाग का बजट घाटे का तो किसी का लाभ का बजट होगा। इससे वित्तीय अराजकता फैल जाएगी। इससे किस क्षेत्र में कितनी मात्रा में कर लगाए जाएं यह निश्चित करना कठिन हो जाएगा। इसलिए सामूहिक रूप से तैयार किया गया बजट देश की आर्थिक स्थिति को स्वस्थ रखने के लिए बहुत आवश्यक होता है।
7. **बजट का प्रचार किया जाना चाहिए:** बजट पूरे वर्ष की सार्वजनिक आय-व्यय का ब्यौरा देता है और जनता के लिए ही बनाया जाता है इसलिए जनता के बीच इसका प्रचार किया जाना चाहिए। इससे बजट के बारे में जनता की राय मिलने के साथ जनता की जरूरतों का सही आकलन भी हो सकता है।

   सभी विभाग भी बजट निर्माण में सर्वमान्य निर्देश अपनाएं। यदि आवश्यक हो तो जनता की राय के अनुरूप बजट में संशोधन किया जाए।

2.2.3 बजट के कार्य

बजट की भूमिका व्यापक है। यह आर्थिक कार्यक्रमों का क्रियान्वयन करने, आय तथा व्यय ब्यौरा देने के साथ-साथ और बहुत से कार्य करता है तथा अनेक अन्य उद्देश्यों की पूर्ति भी करता है। इसलिए बजट की भूमिका, उद्देश्यों तथा कार्यों को समझना जरूरी है। ये कार्य इस प्रकार हैं–

टिप्पणी

1. **उत्तरदायित्व तथा नियंत्रण के उपकरण के रूप में:** उत्तरदायित्व तथा नियंत्रण के क्षेत्र में एक शक्तिशाली उपकरण का कार्य करता है। क्योंकि बजट निर्माण के समय हर विभाग अपने विभाग के आय-व्यय प्राक्कलन बनाता है। वित्त-विभाग इन सभी प्राक्कलनों को समेकित करता है और उन्हें समीक्षा/मूल्यांकन के लिए फिर विधानपालिका के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।

   विधानपालिका बजट के माध्यम से और भी कई प्रकार से नियंत्रण करती है। बजट पास करते समय विधान पालिका को अधिकार है वह इस बात की जांच करे कि बजट कार्यक्रमों तथा नीतियों के अनुसार है या नहीं। क्योंकि इसे प्रस्तुत करने वाले लोग जनता का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। और जनता के हितों को पूरा करना और उनकी रक्षा जनप्रतिनिधियों का कर्त्तव्य है। वे जनता पर कम से कम करों का बोझ बजट के द्वारा आसानी से कर सकते हैं। विधानपालिका बजट द्वारा देश के वित्त पर अपनी विभिन्न समितियों द्वारा नियंत्रण करती है, जैसे- लेखा-परीक्षा।

2. **प्रबंध के उपकरण के रूप में:** अनेक प्रक्रियाएं तथा गतिविधियां बजट-निर्माण तथा क्रियान्वयन के समय अपनाई जाती हैं। ये सभी प्रबंध का एक सशक्त माध्यम बनती हैं। इन्हें निम्नलिखित रूपों में समझा जा सकता है:

   (1) बजट किसी विभाग के कार्यरत कर्मचारियों एवं अधिकारियों की संख्या और वेतन को निर्धारित करने के कार्य के रूप में प्रबंधकीय भूमिका निभाती है।

   (2) बजट द्वारा ही यह पता चलता है कि कर्मचारियों ने जिन कार्यक्रमों को पूरा किया है, उन पर कितना वित्त व्यय हुआ है।

   (3) इससे विभिन्न कार्यक्रमों की अवधि तथा वित्त-वितरण की पद्धति का विवरण भी प्राप्त होता है।

   (4) बजट से प्रशासन के उद्देश्य लक्षित होते हैं।

   (5) बजट का यह एक महती कार्य है कि वह किसी व्यय की दो बार गणना को कम करता है, जिससे अपव्यय नहीं होता है।

   (6) वित्त का लेखा रखना बजट की एक संबंधित क्रिया है। बजट द्वारा प्राप्त लेखा किसी संस्थान प्रबंधकों के हाथ में संस्था का उचित प्रबंध करने के लिए एक शक्तिशाली माध्यम है।

3. **आर्थिक-विकास के उपकरण के रूप में:** बजट राष्ट्र के विकास का नियोजक होने के कारण बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। बजट नियोजन का एक महत्वपूर्ण साधन है। आज दुनिया के समस्त विकसित तथा विकासशील देश बजट द्वारा ही अपना विकास कर रहे हैं। बजट बनाते समय इस पक्ष को ध्यान में रखना अनिवार्य है कि वह पंचवर्षीय योजना से मेल खाए तथा पंचवर्षीय उद्देश्यों को पूरा करने में योगदान करने वाला हो।

   निष्कर्षत: कह सकते हैं कि बजट एक आर्थिक-विकास के उपकरण के रूप में एक संगठित तथा सुव्यवस्थित आर्थिक-विकास के लिए मार्ग प्रशस्त करता है तथा आर्थिक-विकास में सहायता करता है। बजट द्वारा देश की राजस्व संबंधी नीतियों

का निर्धारण किया जाता है और इसी के द्वारा राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था सुदृढ़ बनती है।

टिप्पणी

बजट के प्रकार

बजट के प्रकार को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

• पारंपरिक बजट

सार्वजनिक बजटिंग की अवधारणा को पारंपरिक बजटिंग से जाना जाता है। इसके अंतर्गत उन विधियों, व्ययों तथा मदों को सामान्य रूप से शामिल किया जाता है जिन्हें विगत वर्षों या समयावधियों में महत्व दिया जाता है। इस प्रकार से परंपरागत बजटिंग से हमारा तात्पर्य एक ऐसे बजट से है जो एक लंबे समय से एक परंपरागत रूप में निर्मित व क्रियान्वित किया जा रहा है। बजट के आवंटन में भी परंपरागत मदों को ही आधार बनाया जाता रहा है। पारंपरिक बजट को अर्थपूर्ण बनाने एवं इसको प्रभावी ढंग से क्रियान्वित करने के लिए इसमें दो मुख्य आयामों को समाहित किया गया है– पहला बजट का राजस्व खाता और दूसरा बजट का पूंजी खाता।

बजट के परंपरागत राजस्व खाते के अंतर्गत किसी आर्थिक इकाई को चालू व्यय मदों की वित्त पूर्ति वर्तमान आय से ही की जाती है। इसकी वित्तपूर्ति के लिए परिसंपत्तियों में नहीं की जाती है तथा इसके साथ सरकार की देयदाताओं में भी वृद्धि नहीं की जाती है।

पूंजी खाते के अंतर्गत वे प्राप्तियां शामिल की जाती है जिसके संबंध–निवेश राशियों से होता है तथा सरकार की देयताओं में वृद्धि होती है। पारंपरिक बजटिंग के अंतर्गत चालू खाता तथा पूंजी खाते को संतुलित बनाये रखा जाता है।

पारंपरिक बजटिंग की विशेषताएं

पारंपरिक बजटिंग की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

1. पारंपरिक बजट को संतुलित बनाये रखने के लिए अर्थव्यवस्था को आवश्यक माना जाता है। क्योंकि अर्थशास्त्रियों का कहना था कि संतुलित बजट सरकार की अपव्यय करने की प्रवृत्ति पर नियंत्रण रखता है।
2. यह बजट सामान्य रूप से अधिकांश देशों द्वारा अपनाया जाता रहा है।
3. यह बजट अर्थव्यवस्था के अंतर्गत आने वाले आर्थिक चक्रों/व्यापारिक चक्रों को नियंत्रित करने एवं रोकने के लिए उपयोगी है।
4. पारंपरिक बजट संतुलित बजट के मुख्य आयाम पर आधारित किया गया है।
5. पारंपरिक बजट चालू खाता तथा पूंजी खाते में विभाजित होता है जिन्हें बजट के मुख्य भागों के रूप में देखा जाता है।

पारंपरिक बजट की कमियां

बजट किसी राष्ट्रीय-अर्थव्यवस्था का महत्वपूर्ण दस्तावेज है। अतः यह जरूरी है कि बजट में लोक-व्यय एवं राजस्व के आंकड़ों को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाए कि उनका समस्त आर्थिक महत्व स्पष्ट हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पारंपरिक बजट की कमियों

को जानना तथा उसके स्थान पर प्रोग्राम तथा निष्पादन-वर्गीकरण को बजट की जगह अपनाने की आवश्यकता को समझना जरूरी है।

टिप्पणी

अर्थव्यवस्था की जरूरतों के अनुरूप बजट-नवप्रवर्तन को समझने के लिए यह जरूरी है कि पारंपरिक बजट के दोषों को जान लें। यह दोष निम्नलिखित हैं:

1. नियंत्रण तथा उत्तरदायित्व की प्रमुखमता

पारंपरिक बजट में इस पर ध्यान नहीं दिया जाता कि राष्ट्रीय आर्थिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए प्रोगामों तथा प्रोजेक्टों पर सार्वजनिक क्षेत्र में सीमित-साधनों का आबंटन किस प्रकार किया गया है। इसमें मुख्यत:

(i) बजट की संरचना इस प्रकार बनाई जाती है कि इससे वेतन, यात्रा, फर्नीचर जैसे व्ययों के विषय से संबंधित अर्थव्यवस्था पर बजट के प्रभाव विश्लेषण संभव नहीं है।

(ii) अर्थव्यवस्था के विकास के लिए जरूरी है संसाधनों का उचित आबंटन। इसमें प्रोग्राम समन्वय महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है परंतु हमारी बजट संरचना में इसकी उपेक्षा की जाती है।

(iii) व्यय के मूल्यांकन की उपेक्षा की जाती है, जो एक महत्वपूर्ण कारक है क्योंकि अनुचित व्यय देश की अर्थव्यवस्था पर बोझ डालते हैं।

(iv) पारंपरिक-बजट को संपूर्ण मानकर उसमें किसी भी प्रकार के परिवर्तन का विरोध किया जाता है।

(v) व्यय के परिणाम तथा लाभों का निर्धारण कठिन हो जाता है क्योंकि प्रोग्राम के निष्पादन की जांच केवल मौखिक रूप में की जाती है।

(vi) यह अनुमान नहीं लगाया जाता कि चालू व्ययों के बारे में लिए गए निर्णय भविष्य में क्या परिणाम देंगे।

2. बजट अपखंडन

प्राय: विकासशील देशों में, बजट में, सार्वजनिक क्षेत्र के सभी व्ययों को सभी सार्वजनिक क्रियायों को शामिल नहीं किया जाता, जिससे इसके अंतर्गत वैकल्पिक प्रोग्रामों के बीच चयन के अवसर कम हो जाते हैं।

3. निष्पादन माप का अभाव

पारंपरिक बजट में निष्पादन की माप केवल वित्तीय रूप में ही होती है, भौतिक रूप में नहीं।

4. प्रोग्राम विश्लेषण की अनुपस्थिति

पारंपरिक-बजट में अनुमानों को कार्य के भौतिक प्रोग्राम के रूप में नहीं दिखाया जाता।

उपर्युक्त विवेचन से पता चलता है पारंपरिक बजट की प्रणाली में अनेक कमियां हैं जिन्हें दूर कर नव-प्रवर्तन को अपनाने की आवश्यकता है। जॉन बेयर का कहना है कि पारंपरिक बजट में नव-प्रवर्तन का निर्माण तीन आधारों पर होना चाहिए–

(i) व्यवहार में बजट सरकार के विकास प्रोग्राम तथा नीति-संबंधी निर्णयों की मूल-अभिव्यक्ति है।

(ii) आर्थिक-योजना की सफलता एक ऐसी बजट व्यवस्था पर निर्भर करती है जो योजना-संबंधी निर्णयों को प्रभावी ढंग से वास्तविकता में बदल दें।

(iii) दीर्घकालीन व्यापक योजना की प्रभावकारिता को सीमित करने वाले अवरोधों को हटाने के लिए बजट यंत्र हमें संभावनाएं प्रदान करता है।

टिप्पणी

बजट में नवप्रवर्तन के परिणामों को पारंपरिक बजट द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता और यह महसूस किया गया कि बजट-प्रक्रिया के लिए एक नए दृष्टिकोण की आवश्यकता है और इसी कारण प्रोग्राम एवं निष्पादन बजट-व्यवस्था को अपनाने पर बल दिया गया।

- **प्रोग्राम एवं निष्पादन बजट–व्यवस्था** (PPBS)

हूवर-आयोग ने अमरीका में 1949 में सर्वप्रथम निष्पादन बजट शब्द का प्रयोग उन सिफारिशों के अंतर्गत किया कि कार्यों, प्रोग्रामों तथा क्रियाओं पर आधारित बजट पद्धति को अपनाना चाहिए। इस पद्धति में दो प्रमुख बातें थीं। जो इस प्रकार हैं–

1. बजट तैयार करते समय कार्यों को आधार बनाया जाए न कि व्यय के विषय को।
2. क्रियाओं का निष्पादन कुशल हो इसके निष्पादन के लिए कार्यों की लागत की माप करना।

PPBS की मूल धारणा यह है कि बजट में व्यय के विषय के स्थान पर कार्यों, प्रोग्रामों, क्रियाओं तथा परियोजनाओं पर बल दिया जाए। सरकारी बजट प्रक्रिया में यह प्रबंधकीय दृष्टिकोण को अपनाता है।

1950 के दशक के बीच में द्वितीय हूवर-आयोग आया जिसने प्रोग्राम बजटिंग की अवधारणा दी। यह नया दृष्टिकोण योजनाकरण, प्रोग्रामिंग तथा बजटिंग-व्यवस्था के रूप में मान्यता दी गई और इसे अमेरिकी प्रतिरक्षा विभाग ने अपनाया। PPBS नीति-निर्धारण को विवेकपूर्ण बनाने के उद्देश्य को लेकर कार्य करता है। सरल शब्दों में प्रोग्राम दीर्घकालीन उद्देश्यों के प्रकाश में समस्त प्रोग्राम प्रबंध की आवश्यकता पर बल देती है। दूसरी ओर, निष्पादन बजटिंग किसी वर्ष संपादित कार्य तथा इसकी लागत के आधार पर आंतरिक प्रबंध में सुधार को स्तर को केंद्र में चलती है। PPBS की उपर्युक्त धारणाओं के उपयोग को लेकर लेखक एक मत नहीं है। बर्कहेड का मानना है कि निष्पादन बजटिंग की कोई सुनिश्चित परिभाषा नहीं है तथा अलग-अलग क्षेत्रों में इसे अलग-अलग अर्थ में प्रयोग किया गया है।

के. एल. हांडा ने निष्पादन तथा प्रोग्राम बजटिंग के अंतर को निम्न रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया है–

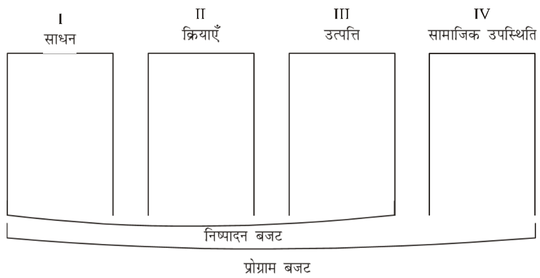

रेखाचित्र

उपरोक्त रेखाचित्र के अनुसार वेक्टर-I अर्थव्यवस्था में साधनों का उपयोग किया जाता है जिसमें वैक्टर-II में क्रियाओं का सृजन होता है और वेक्टर रूप में प्राप्त उत्पत्ति इन्हीं क्रियाओं का परिणाम है। यह भी कह सकते हैं कि साधन-क्रिया-उत्तत्ति क्रम ही निष्पादन बजट का विषय है। प्रोग्राम बजट में की चौथी स्थिति है सामाजिक स्थिति जिसे प्रथम तीनों चरणों यानी साधन-क्रिया उत्पत्ति है। सामाजिक स्थिति के अंतर्गत आर्थिक विकास, वितरण की समानता, आदि विषय आते हैं जिन्हें बजट के तथा योजना के माध्यम से प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है।

प्रोग्राम वर्गीकरण को वर्णित करते हुए संयुक्तराष्ट्र के बुलेटिन का मानना है कि समग्र उत्पादन कार्य को बड़े एवं छोटे रूप तथा संगत इकाइयों में विभाजित कर दिया जाता है। इसका कारण है कि प्रशासन के विभिन्न स्तरों पर निर्णय-लेने तथा बजट के कार्यान्वयन में सुविधा हो। प्रोग्राम-वर्गीकरण की संरचना इस प्रकार तैयार की जाती है कि उसमें कार्य, प्रोग्राम तथा परियोजना और क्रियाएं सभी संमिलित हों। पहले कार्य को प्रोग्रामों में बांटा जाता है। अगले चरण में प्रोग्राम को परियोजनाओं में तथा परियाजनाओं को क्रियाओं में विभाजित किया जाता है। इस प्रकार के विभाजन के बाद योजना बजट के निर्माण, प्रबंध तथा विश्लेषण के लिए सुविधाजनक परिचालन इकाइयां प्रदान करती है। कार्यभारत के आंकड़े, मानवीय एवं भौतिक साधनों के इस्तेमाल के प्रतिमान तथा वित्तीय व्यय के मध्य संबंध स्थापित करने के लिए यह व्यवस्था सरल एवं उपयुक्त है। निष्पादन वर्गीकरण प्राप्त करने के लिए सभी तत्वों के साथ परिचालन को जोड़ा जाता है। निष्पादन वर्गीकरण से आर्थिक कार्यक्षमता के निर्धारण में सहायता मिलती। साथ ही इससे यह भी ज्ञात होता है कि सार्वजनिक परियोजनाओं के क्रियान्वयन की कार्यक्षमता का स्तर क्या है। सारी व्यवस्था में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि प्रोग्राम बजट के लिए निष्पादन बजट अनिवार्य है।

(क) प्रोग्राम एवं बजट निष्पादन व्यवस्था (PPBS) की मान्यताएं

PPBS की मान्यताओं को हम निम्नलिखित बिंदुओं के रूप में समझ सकते हैं–

1. जब यह ज्ञात हो कि क्या प्राप्त करना है, यानी उद्देश्य स्पष्ट हो तो निर्णय लेने में सुविधा रहती है।
2. निर्णय इस तथ्य पर भी निर्भर करता है कि वर्तमान स्थिति में साधनों का उपयोग उचित किस तरह किया जा रहा है और यह विवेकपूर्ण है या नहीं।
3. उचित निर्णय के लिए वर्तमान प्रोग्राम की प्रभावकारिता का मूल्यांकन करना आवश्यक है।
4. योजना के क्रियान्वयन में उद्देश्य प्राप्ति मुख्य तरीके के साथ वैकल्पिक तरीकों पर विचार करे और उनका विश्लेषण करके भी सही निर्णय लिया जा सकता है।
5. विभाग द्वारा भावी योजना निश्चित कर लेनी चाहिए।
6. निर्णय लेने के संबंध में क्रमबद्ध होना उचित है। योजना किए जाने वाले परिवर्तनों के अनुरूप बजट तथा अधिमानों में परिवर्तन करना भी जरूरी है।

टिप्पणी

(ख) निष्पादन के चरण

निष्पादन बजट का क्रियान्वयन निम्नलिखित चरणों से होकर गुजरता है–

1. **उद्देश्य–** व्यक्तिगत प्रोग्रामों के उद्देश्यों का वर्णन करते समय उसके परिणामात्मक एवं मानवीय तथ्य बताने चाहिए। ये प्रोग्राम सरकार के दीर्घकालीन लक्ष्यों के संदर्भ में देखे जाने चाहिए।
2. **विश्लेषण–** दीर्घकालीन व्यूह रचना तथा अल्पकालिक युक्ति के उद्देश्यों को प्राप्त करने के तरीकों पर विचार करने के साथ सभी संभव वैकल्पिक प्रोग्रामों की पहचान होनी चाहिए। प्रोग्रामों के चयन में वैकल्पिक प्रोग्रामों की लागत-लाभ विश्लेषण प्रोग्रामों के चयन का एक प्रमुख कारक है।
3. **बजट-वर्गीकरण–** क्रियान्वयन के लिए चुने गए प्रोग्रामों को साधनों के उचित आबंटन के लिए वर्गीकृत करना चाहिए।
4. **संगठन–** विभिन्न संगठन विशिष्ट उद्देश्यों को प्राप्त करने में अपनी निर्धारित भूमिका निभाते हैं। तथा वित्तीय नियमों एवं लेखा व्यवस्था को प्रोग्राम के प्रभावी क्रियान्वयन के अनुरूप बना लेते हैं।
5. **मूल्यांकन–** जब प्रोग्रामों का क्रियान्वयन उद्देश्य के अनुसार हो जाता है, तब उसके बाद मूल्यांकन को मॉनीटर किया जाता है इसके एवं पूरा होने पर मूल्यांकन को वित्तीय, भौतिक तथा आर्थिक आंकड़ों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक कदम उठाए जाते हैं।

PPBS में निष्पादन-बजट की प्रमुख विशेषताओं को निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है–

(i) साधनों की अपेक्षा प्रोग्राम पर बल देकर उद्देश्य प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है।

(ii) चुने गए वैकल्पिक प्रोग्रामों की परस्पर तुलना की जाती है।

(iii) निष्पादन बजट के सफल क्रियान्वयन के लिए लंबी दूरी तथा मध्यम दूरी के प्रक्षेपण किए जाते हैं।

(iv) निष्पादन की माप की जाती है।

(v) पूरक रिपोर्टिंग कर निष्पादन का स्तर देखा जाता है।

PPBS आज एक ऐसी प्रक्रिया है जिसे अनेक देशों ने किसी न किसी रूप में अपनाया है। अमरीका सरकार ने भी PPBS को अपनाया परंतु अपने वादे के अनुसार अर्थव्यवस्था में परिवर्तन नहीं ला पाई।

1965 में इसे लागू करते समय अमेरिका के राष्ट्रपति ने दावा किया था कि यह एक अत्यधिक नई तथा बहुत क्रांतिकारी व्यवस्था है। परंतु वृहत् दृष्टिकोण एवं परिणाम देखकर कहा जा सकता है कि PPBS के अनुभव निराशाजनक रहे।

(ग) PPBS की असफलता के कारण

1. प्रोग्राम को परिभाषित कर उसे राष्ट्रीय उद्देश्यों के साथ जोड़ना कठिन प्रमाणित हुआ है।

2. प्रत्येक देश के प्रमुख पारंपरिक कार्यों कानून और व्यवस्था, प्रतिरक्ष विदेशी संबंध की उत्पत्ति की माप को प्राप्त कर पाना असंभव है।
3. प्रोग्राम के लिए तैयार वैकल्पिक तरीकों की अपनी एक सीमा जिससे उनके विस्तृत क्षेत्र पर विचार करना संभव नहीं है।

टिप्पणी

निष्पादन माप और लेखा-परीक्षा में सुधार हुआ है। पिछले कुछ समय में यह भी देखा गया है कि योजना और बजट की प्रक्रिया में अनेक विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था ह्रान्सोन्मुखी रही है। आर्थिक ढांचे का अभाव, अपर्याप्त मूल लेखा, असमन्वित निर्णय, बजट पर मुद्रा-स्फीति को प्रभाव का अनुमान नहीं लगाना आदि आदि कारणों से यह ह्रास की स्थिति उत्पन्न हुई। यानी यदि अर्थव्यवस्था को विकास की ओर ले जाना है तो इन समस्याओं को सही रूप में समझकर उनमें सुधार करना होगा। इसके बाद शून्य-आधार बजट को व्यवहार में लाया गया।

• **शून्य आधार बजट** (ZBB)

शून्य बजट एक काफी पहले से प्रचलित व्यवस्था है। शून्य-आधार बजट इस सूत्र पर काम करता है कि बजट का निर्माण करते समय व्यय के मौजूदा स्तर को माना जाए बल्कि इसकी जांच की जानी चाहिए। अत: यह देखना होता है कि इस प्रोग्राम को जारी रखा जाए या नहीं अर्थात यह कार्यक्रम कहां तक अर्थव्यवस्था में सुधार लाएगा। ब्रिटिश लेखक हिल्टन चंग ने अपने लेखन में शून्य आधार बजट (ZBB) का संकेत दिया। उन्होंने बजट प्रोग्रामों के वार्षिक औचित्य पर बल दिया। हालांकि शून्य आधार बजट (ZBB) का जनक पीटर पायर को माना जाता है।

ZBB के कार्यान्वयन की कठिनाइयां PPBS को लागू करने में प्राप्त अनुभव तथा सभी देशों के सरकारी व्यय पर नियंत्रण रखने की अनिवार्यता का महसूस करने से कम हो गई। प्रत्येक प्रोग्राम के न्यूनतम स्तर को निर्धारित करने पर बल दिया जाता है। यह सतर सामान्यत: शून्य से अधिक किंतु मौजूदा-स्तर से कम होगा। व्यय की प्रत्येक मद का मूल्यांकन उसके गुण तथा वांछनीय के आधार पर करना शून्य आधार बजट प्रक्रिया में हैं।

शून्य आधार बजट की प्रमुख विशेषताएं

शून्य आधार बजट की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

1. विभिन्न स्तरों पर साधनों के आबंटन तथा निष्पादन के प्रोग्रामों की जांच की जाती है।
2. सरकार की प्रत्येक एजेंसी कुछ निर्धारित उद्देश्यों के लिए कार्य करती है।
3. प्रत्येक एजेंसी की क्रियाओं को निर्णय पैकेज में रूपांतरित किया जाता है।
4. निर्धारित प्रोग्रामों के लिए न्यूनतम स्तर से अधिक की जरूरत को जानने के लिए निर्णय-पैकेज का मूल्यांकन किया जाता है तथा योग्यतानुसार प्रबंध के प्रत्येक-स्तर को क्रमबद्ध किया जाता है।

शून्य आधार-बजट को छोटे पैमाने पर लागू करना अधिक उपयोगी होता है शून्य आधार बजट व्यय-संबंधी कुछ प्रोग्रामों में वृद्धि या कमी करने तथा इनके मध्य प्राथमिकता निर्धारण करने की धारणा में कुछ गुण अवश्य है।

कायडेन तथा विल्डेवस्की ने लगातार बजटिंग की धारणा को विकासशील देशों के लिए उपयुक्त माना है। विकासशील देशों की समस्या है कि बड़े पैमाने पर अनिश्तिता का सामना करना वार्षिक बजटों के बारे में विश्वसनीय भविष्यवाणी नहीं कर पाने के कारण वार्षिक बजट-अभ्यास को अर्थव्यवस्था में अधिक महत्व नहीं देना चाहिए। इसके विपरीत यह व्यवस्था करनी चाहिए कि विभागों को यह अधिकार हो कि वे वर्ष में किसी समय अधिकृत व्यय में वृद्धि के लिए अनुरोध कर सकें। वित्त-मंत्रालयों को अनुरोधों का मूल्यांकन करना चाहिए। वित्त मंत्रालय मूल्यांकन के आधार पर व्यय में वृद्धि या कटौती का प्रस्ताव कर सकता है। इस व्यवस्था को अपनाने से प्रत्येक प्रोग्राम के लिए बजट की अवधि छोटी हो जाएगी।

ZBB तथा निष्पादन बजटिंग एवं PPBS के मध्य की सामान्य विशेषताएं हैं। किंतु, इसकी कुछ ऐसी खूबियां हैं जिन पर बल देना चाहिए। शून्य आधार प्रक्रिया से साधनों की बदलती हुई स्थिति के साथ समायोजन किया जा सकता है। लेकिन कुछ आलोचकं ZBB को संस्थागत वृद्धि का ही एक रूप मानते हैं क्योंकि उनका मानना है कि बजट में वृद्धि नहीं करने पर जोर देने के कारवा सरकारी विभाग-वित्तीय सुरक्षा की कोशिश कर सकते हैं। शून्य आधार बजट की प्रक्रिया हस्तांतरण भुगतान को रोकने में कोई योगदान देने में सक्षम नहीं है इसलिए यह पारंपरिक बजटिंग के दोषों को दूर करने के लिए उपयुक्त प्रक्रिया नहीं है।

भारत में शून्य–आधार बजट

शून्य आधार बजट की विशेषताओं को देखते हुए भारत में भी शून्य आधार बजट को अपनाने में रुचि दिखाई गई। भारत के आर्थिक सर्वेक्षण में कहा गया कि सरकार ने सिद्धांत रूप में यह स्वीकार कर लिया है कि केंद्रीय सरकार के विभाग शून्य आधार बजट को अपनाएं। इसके लिए निम्न कदम उठाना आवश्यक है:

(i) सबसे पहले उन उद्देश्यों की पहचान की जाए जिन्हें देश की अर्थव्यवस्था में अपनाना जरूरी हैं।

(ii) सरकारी विभाग एक तरह के कार्यों को करने के लिए विभिन्न विकल्पों की जांच करें। इससे बजट व्यय का मूल्यांकन हो सकेगा।

(iii) लागत-लाभ विश्लेषण का कार्य भी सरकार के व्ययों में कटौती या वृद्धि की जांच के लिए जरूरी है।

(iv) यह निर्धारित करना कि किन उद्देश्यों को क्रियाओं को पहले किया जाए या बाद में यानी उद्दश्यों एवं क्रियाओं की प्राथमिकता निर्धारित करना।

(v) जो क्रियाएं अनावश्यक हैं उनकी पहचान कर उन्हें प्रोग्राम से बाहर करना।

(vi) निर्णय-संबंधी पैकेज का डिजाइन तैयार करना तथा उसे क्रमबद्ध करना।

शून्य-आधार बजट को विभिन्न विभागों में कई चरणों में अपनाने का प्रस्ताव रखा गया है। लोक-व्यय पर नियंत्रण लगा सके, यही इस बजट व्यवस्था को अपनाने का प्रमुख उद्देश्य है। यह प्रयास भी किया गया है कि परियोजनाओं पर कार्य प्रारंभ हो गया है वे वित्त की कमी के कारण रुकनी नहीं चाहिए।

भारत सरकार के वित्त-मंत्रालय के वार्षिक-प्रतिवेदन में यह प्रस्ताव लाया गया है कि शून्य-आधार बजट तकनीक अपनाकर सभी मंत्रालय/विभाग अपनी कार्य प्रणाली पर फिर से विचार करें तथा कार्यों की प्राथमिकता निर्धारित करने।

टिप्पणी

इसे अनेक चरणों में किया जा रहा है।

केंद्रीय बजट 2001-02 में, सभी मौजूदा कार्यक्रमों पर शून्य आधारित बजट व्यवस्था लागू की गई जिससे लोक व्यय की गुणवत्ता को सुधारा जा सके जो पर शून्य आधारित बजट व्यवस्था लागू की गई जिससे लोक व्यय की गुणवत्ता को सुधारा जा सके तथा केवल उन्हीं कार्यक्रमों को आगे बढ़ाया जाए जो स्पष्ट और अनिवार्य हों।

2.2.4 बजट निर्माण की प्रक्रिया

बजट, संबंधित वर्ष के आय-व्यय के विवरण होने के साथ एक राजनैतिक दस्तावेज भी होता है। सरकार की नीतियों, योजनाओं, प्रबंधकीय-क्रियाओं, सामाजिक विचारधारा तथा देश की अर्थव्यवस्था का चित्रण भी बजट द्वारा होता है। सन् 1960 में भारत में बजट व्यवस्था शुरू हुई। इसकी शुरुआत वायसरॉय की परिषद के पहले वित्त-सदस्य सर-जेम्स बिलसन द्वारा पहला बजट प्रस्तुत करने से हुई थी। आधुनिक भारत में बजट-निर्माण को एक वैधानिक आवश्यकता माना गया है। अत: इसके निर्माण में संविधान के बहुत से अनुच्छेदों द्वारा व्यवस्था की गई है तथा संवैधानिक रूप से बजट-निर्माण कार्य-संचालन नियमावलियों के अनुसार होता है। बजट संबंधी प्रावधान भारतीय संविधान के अनुच्छेद 102 से 117, 202 से 206 तथा 266 व 267 के अंतर्गत किए गए हैं। संसद में बजट प्रस्तुत करने का उत्तरदायित्व राष्ट्रपति का होता है। केंद्रीय-बजट को दो भागों में प्रस्तुत किया गया है–

1. सामान्य-बजट 2. रेलवे-बजट।

भारत में वित्त मंत्रालय राष्ट्रपति कोष का संरक्षण तथा देश की वित्तीय नीतियों का कर्णधार है अत: बजट निर्माण का उत्तरदायित्व वित्त मंत्रालय का है। उसका कर्त्तव्य है कि राष्ट्रीय वित्त का उपयोग समझदारी तथा कुशलता से किया जाए।

भारत में वित्त वर्ष की अवधि 1 अप्रैल से 31 मार्च तक होती है।

भारत में वित्त-मंत्रालय, प्रशासकीय मंत्रालय, योजना-आयोग तथा लेखा-नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक बजट अनुमानों की तैयारी में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

भारत में बजट–निर्माण प्रक्रिया की अवस्थाएं

1. अनुमानों की तैयारी

बजट-अनुमानों की तैयारी आगामी वित्तीय वर्ष के आरंभ होने के कुछ महीने पहले जुलाई-अगस्त के महीने से ही शुरू हो जाती है। अनुमानों की तैयारी के लिए निश्चित रूपरेखा फार्म या प्रपत्र को वितरण-अधिकारियों अथवा स्थानीय कार्यालयों के अध्यक्ष के पास उसके आधार पर प्रारंभिक प्राक्कलन बनाकर वित्त कार्यालय में भेजे जाते हैं।

प्रत्येक प्रपत्र के कुछ निश्चित मानदंड होते हैं जिसमें निम्नलिखित स्तंभ होते हैं–

(i) पिछले वर्ष के आय-व्यय को आंकड़ों की यथार्थ स्थिति

(ii) चालू वर्ष के लिए व्यय के स्वीकृत अनुमानों का पूर्ण विवरण।

(iii) चालू वर्ष के लिए किए गए अनुमानों में संशोधन का विवरण

(iv) आगामी वर्ष के बजट प्राक्कलन।

(v) वृद्धि या कमी का पूरा विवरण।

प्राक्कलन की तैयारी दो भागों में जाती है। पहले भाग में राजस्व तथा स्थायी प्रभारों (Charges) का उल्लेख किया जाता है। दूसरे भाग को पुनः दो प्रवर्गों में विभाजित किया जाता है। पहले प्रवर्ग में प्रतिवर्ष निरंतर चलने वाले विषयों को शामिल किया जाता है। दूसरे प्रवर्ग में पूर्णतः नवीन विषय होते हैं। दोनों वर्गों के प्राक्कलनों को पुनः विभाग के अध्यक्ष के पास विचार-विमर्श एवं मूल्यांकन के लिए भेजा जाता है।

2. विभागों द्वारा छानबीन

विभागों के अध्यक्ष द्वारा इन प्राक्कलनों की समीक्षा की जाती है जिसमें संबंधित विभाग के वित्तीय सलाहकार इस समीक्षा में उनकी सहायता करते हैं। प्राक्कलनों में आवश्यकता के अनुरूप संशोधित किया जाता है। प्राक्कलन में प्रत्येक विभाग के लिए किए गए अनुमानों का समाकलन किया जाता है। विभिन्न वित्त नीति के के संदर्भ में इन प्राक्कलनों का निरीक्षण किया जाता है। यह तथ्य ध्यान में रखने योग्य है कि प्रशासनिक मंत्रालयों के निरीक्षण के बाद ही इन अनुमानों को बजट में रखने के लिए प्रशासकीय स्वीकृति मिल पाती है। इसके पश्चात अनुमानों की एक प्रति महालेखाकार को उसकी संस्तुति और निरीक्षण के लिए भेज दी जाती है।

3. वित्त-मंत्रालय द्वारा संशोधन

अंत में सभी अनुमान वित्त मंत्रालय को भेजे जाते हैं। वित्त मंत्रालय का बजट-संभाग विभागाध्यक्षों द्वारा प्रस्तुत प्राक्कलनों की सूक्ष्मता से समीक्षा करते हैं और इस तथ्य को ध्यान में रखा जाता है कि अनुमानों का निरीक्षण नितव्ययिता के दृष्टिकोण से हो। प्रत्येक विभाग कुछ नए व्ययों का अनुमान लगाता है। अतः वित्त-विभाग नए व्ययों के संबंध में निम्नलिखित प्रकार के प्रश्न पूछता है–

- प्रस्तावित व्यय वास्तव में किस हद तक आवश्यक है?
- आवश्यक अनुमानित नए व्यय की पूर्ति के लिए अन्य क्या विकल्प हो सकता था?
- इसकी आवश्यकता के मुख्य कारण क्या हैं?
- कुल व्यय कितना होगा और इसके लिए वित्त प्राप्ति का साधन क्या होगा?
- किस विभाग/संभाग से धन की कटौती की जाएगी।
- क्या नवीन विकास इसको आवश्यक बनाते हैं?

जब तक वित्त मंत्रालय स्वीकृति नहीं देगा किसी विभाग के बढ़े हुए अथवा व्यय-संबंधी प्रस्ताव बजट में शामिल नहीं किए जा सकते। वित्त मंत्रालय यह जांचता है कि व्यय किस सीमा तक उचित है। उसी के अनुसार प्रत्येक मंत्रालय अथवा विभाग के लिए एक राशि निश्चित की जाती। इसी परिप्रेक्ष्य में 10 अगस्त 1956 को वित्त-मंत्रालय ने व्यय-वित्त समिति का गठन किया जिसका कार्य नई योजनाओं को बजट में शामिल करना है। व्यय सचिव इस समिति का अध्यक्ष होता है। व्यय वित्त समिति वित्त मंत्रालय को 2 करोड़ से

लेकर 10 करोड़ तक के व्यय के प्रस्तावों के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने का सुअवसर प्रदान करती है। पर्याप्त विचार-विमर्श एवं संतुष्टि के बाद ही इन परियोजनाओं को औपचारिक स्वीकृति दी जाती है।

टिप्पणी

बजट निर्माण की प्रक्रिया में वित्त विभाग को बहुत से महत्वपूर्ण निर्णय लेने पड़ते हैं। सबसे पहले बजट के आकार का निर्धारण किया जाता है। यह देखा जाता है कि बजट में कुल कितनी आय तथा व्यय का निर्धारण हो। आय-व्यय के स्तर का निर्धारण यह निर्णय भी देश की वर्तमान आर्थिक स्थिति को देखकर किया जाता है। इसका निर्णय विभिन्न उद्देश्यों के लिए स्रोतों के उचित सही आबंटन से संबंधित है। देश की आर्थिक-नीति के अनुसार ही संसाधनों का आबंटन किया जाता है। कुछ व्यय ऐसे होते हैं, जिनमें परिवर्तन की गुंजाइश कम ही होती हैं, जैसे ऋण की अदायगी, ब्याज की अदायगी, सुरक्षा, वेतन, खाद्य-सहायताएं आदि। कुछ ऐसी चालू योजनाएं होती हैं जिन्हें बंद नहीं किया जा सकता। सरकार बजट की इन राशियों पर खर्च करने के लिए वचनबद्ध होती है। यह वचनबद्ध व्यय एक वर्ष के बजट का लगभग 75 प्रतिशत भाग होता है। अत: वित्त विभाग के पास 25 प्रतिशत भाग नए व्यय का होता है और उसे यह ध्यान रखना होता है कि इन नए व्ययों के कारण अनिवार्य व्यय एवं चल रही परियोजनाएं बाधित न हों।

4. महालेखापाल द्वारा केंद्रीय राजस्व की छानबीन

महालेखापाल देश की वित्तीय स्थिति की जांच का सबसे बड़ा अधिकारी है। इसीलिए बजट के विभागीय प्राक्कलनों की एक प्रति महालेखापाल को भेज जाती है। महालेखापाल प्राक्कलनों में यह जांच करता है कि प्राक्कलन में केवल स्वीकृत व्यय ही शामिल हों। कहीं कोई अस्वीकृति व्यय इनमें शामिल तो नहीं किए गए हैं। वह यह भी जांचता है कि विभिन्न मदों लेखा-वर्गीकरण उचित है या नहीं। इसके अलावा महालेखापाल पेशन, ऋण या अन्य इसी प्रकार की जनकार्यों से संबंधित सरकारी प्राक्कलनों का भी जांच अधिकारी है। क्योंकि इस संबंध में उसके पास सभी सूचनाएं होती हैं। यदि महालेखापाल किसी प्राक्कलित व्यय में परिवर्तन का सुझाव दें तो संबंधित प्रशासकीय मंत्रालय/विभाग की राय के बाद ही स्वीकृति दी जाती है। सुझाव के लिए वह अपनी टिप्पणियां वित्त-मंत्रालय को भोजता है। अधिकांश मामलों में महालेखापाल की टिप्पणियों को स्वीकार कर लिया जाता है क्योंकि सरकार इन प्रभारों का उत्तरदायित्व पहले ही स्वीकार कर चुकी होती है।

5. राजस्व का प्राक्कलन

वित्त-मंत्रालय को राजस्व के प्राक्कलन की जिम्मेदारी भी निभानी पड़ती है। वित्त मंत्रालय के राजस्व प्राक्कथन में प्रत्यक्ष करों के केंद्रीय-बोर्ड, अप्रत्यक्ष करों के केंद्रीय-बोर्ड, आयकर तथा केंद्रीय आबकारी एवं शुल्क-विभागों सहायता करते हैं। राजस्व का पूर्वानुमान लगाते समय यह देखा जाता है कि करों की वर्तमान दर क्या है। करों की दरों में कमी अथवा बढ़ोतरी की जाती है। कुछ नए-कर लगाए जाते हैं तथा पुराने कर समाप्त कर दिए जाते हैं। कर संबंधी परिवर्तनों के प्रस्ताव को एक विधेयक के रूप में संसद के सामने प्रस्तुत करना अनिवार्य है। इन्हें गुप्त रखना पड़ता है जिससे कि राजस्व पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। इसे भी ध्यान में रखना जरूरी है। इस चरण के बाद बजट-निर्माण की तैयारी पूरी मान ली जाती है और वित्तमंत्री द्वारा संसद में बजट प्रस्तुत किया जाता है।

रक्षा बजट का निर्माण

रक्षा संबंध वित्त पर रक्षा-मंत्रालय का वित्त खंड, नियंत्रण रखता है। वित्त-खंड की अनेक शाखाएं होती है। प्रत्येक शाखा का कार्यभार प्रधान स्टॉफ अधिकारी संभालता है। ये शाखाएं अपने-अपने व्यय अनुमान तैयार करती हैं जिन्हें रक्षा-मंत्रालय को भेजा जाता है। रक्षा-मंत्रालय द्वारा इन अनुमानों को वित्तीय सलाहकार तथा उसके बाद सचिव के पास भेजा जाता है। इस स्तर पर भी नीति-संबंधी निर्णय लिए जाते हैं। अंत में रक्षा बजट कैबिनेट की रक्षा-समिति के पास स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। रक्षा समिति की स्वीकृति के बाद वित्त-मंत्रालय के पास इन को उसके अपने अनुमानों में सम्मिलित करने के लिए भेज दिया जाता है।

रेलवे–बजट का निर्माण

रेलवे भारत के विभागी व्यापारिक उद्योग के रूप में कार्य करता है। इसलिए बजट-निर्माण में भी ये भिन्न पद्धति को अपनाता है।

रेलवे के बजट के व्यय को निम्न पांच भागों में बांटा जा सकता है:

पहले भाग में– प्रशासकीय अधिकारियों, लेखा भंडार आदि पर व्यय की जाने वाली राशि

दूसरे भाग में– मरम्मत तथा भरण-पोषण

तीसरे भाग में– परिचाल व्यय, इनमें परिचालन से संबंधित कर्मचारियों के वेतन एवं अन्य सुविधाएं ईंधन, उपभोग योग्य भंडार आदि की कीमत शामिल होती है।

चौथे भाग में– सेवा-निवृत्त के लाभ चिकित्सा सहायता, स्टॉफ कोष में अंशदान आदि को शामिल किया जाता है।

पांचवें भाग में– उन छोटे-छोटे कार्यों को शामिल किया जाता है जिनकी पूर्ति राजस्व से की जाती है।

रेल-विभाग अनेक मंडलों में बंटा है तथा प्रत्येक मंडल अपने व्यय के अनुमान रेलवे-बोर्ड को भेजता है। रेलवे बोर्ड इन अनुमानों को रेलवे-बजट में समेकित करता है।

आलोचना

अमरीकी विद्वान पॉल एच. एपलबी ने भारत में बजट बनाने की पद्धति पर अपनी प्रतिक्रिया को निम्नलिखित बिंदुओं में व्यक्त किया है:

(i) **वर्तमान प्रणाली के अधीन पूरे वर्ष की विभिन्न परियोजनाएं तथा योजनाएं–** वित्त-मंत्रालय के सामने पूरे वर्ष की विभिन्न परियोजनओं और योजनाओं की जानकारी प्रस्तुत की जाती हैं। इनमें से कुछ परियोजनाएं ऐसी होती हैं जिनका संबंध निधियों के बंटवारे से होता है और कुछ बाद के बजटों के बंधक के रूप में होती हैं। जिन्हें प्राय: नीति संबंधी विचारों से अधिक नहीं माना जा सकता। इसलिए इनकी आलोचना करते हुए कहा गया है कि इन नीतियों द्वारा गंभीरता से विचारणीय प्रशासकीय तथा व्यय संबंधी परिवर्तन नहीं किए जा सकते। इनका मुख्य दोष विलंब तथा भ्रम संबंधी होना है। इसके लिए वित्त-मंत्रालय को ही दोषी ठहराया जाता है।

टिप्पणी

(ii) बजट निर्माण की अवधि निकट आने पर इन सभी योजनाओं की जांच की जाती है तथा इनमें से कुछ को चुन कर बजट में शामिल कर लिया जाता है। परंतु उन योजनाओं पर कोई विचार नहीं किया जाता जो वास्तव में बजट में शामिल नहीं की जाती है। लेकिन किसी आगामी वर्ष में या वर्ष के भीतर किसी भी समय उन पर विचार किया जा सकता है। इसी कारण अनुमान अनुपयोगी हैं या योजनाएं अनुपयोगी हैं उन पर विचार क्यों किया जाए। भारत में आलोचना की गई कि प्रारंभिक सामान्य अनुमान या योजना के महत्वपूर्ण तत्व ऐसी योजना के अनुपयोगी होने के कारण यह कम व्यय वाले अनुमानों तथा घटिया बजट रचना का एक नमूना उपस्थित करती है।

(iii) भारत में ब्रिटिश सरकार के समय से ही वित्त-विभाग द्वारा विभागों के व्यय में एकमुश्त कटौतियां (Lum-Sum Cuts) की जाती हैं। वित्त-विभाग विभिन्न विभागों के बजट में कांट-छांट करते समय एकमुश्त कटौती कर देता है। परंतु वित्त विभाग इन कटौतियों के समय कोई तर्कसंगत योजना अथवा प्रबंधकीय तकनीकों को नहीं अपनाता। जिससे वित्तीय छानबीन में वैज्ञानिक मापदंडों तथा स्तरों की कमी झलकती है और प्रशासकीय विभाग अधिक से अधिक धन लेने के लिए तरह-तरह की उचित-अनुचित नीतियां अपनाते हैं।

(iv) अशोक-चंदा का विचार है कि योजनाओं के परिपक्व हो जाने तथा क्रियान्वयन के लिए तैयार हो जाने पर अनुपूरक मांगें प्रस्तुत करनी चाहिए और इनको पूरा करने के लिए सोच-समझकर उचित अनुपात में धनराशि मांगी जानी चाहिए। लेकिन कुछ विद्वान अनुपूरक मांगों का विरोध करते हैं। इनका कहना है कि अनुपूरक मांगों से देश की आर्थिक-स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. "बजट एक प्रशुल्क योजना है जिसके द्वारा व्यय को आय से संतुलित किया जाता है।" यह कथन किस अर्थशास्त्री का है?

   (क) प्रो. गैस्टन (ख) प्रो. किंग

   (ग) प्रो. मार्शल (घ) प्रो. हिक्स

2. अमेरिका में सन् 1949 में सर्वप्रथम निष्पादन बजट शब्द का प्रयोग किस आयोग ने किया?

   (क) वित्त आयोग (ख) योजना आयोग

   (ग) हूवर आयोग (घ) नीति आयोग

3. भारत में बजट प्रक्रिया कब प्रारंभ की गई

   (क) सन् 1960 में (ख) सन् 1965 में

   (ग) सन् 1970 में (घ) सन् 1975 में

2.3 राजकोषीय घाटा

टिप्पणी

सरकार की कुल आय और व्यय के अंतर को राजकोषीय घाटा कहा जाता है। इससे पता चलता है कि सरकार को कामकाज चलाने के लिये कितनी उधारी की ज़रूरत होगी। कुल राजस्व का हिसाब–किताब लगाने में उधारी को शामिल नहीं किया जाता है। राजकोषीय घाटा आमतौर पर राजस्व में कमी या पूंजीगत व्यय में अत्यधिक वृद्धि के कारण होता है।

आर्थिक साहित्य में तथा, भारत को छोड़कर, कई देशों में 'बजटीय घाटे' और 'राजकोषीय घाटे' को समानार्थक माना जाता है। सामान्य तर्काधार पर यह माना जाता है कि बजटीय घाटे (अथवा राजकोषीय घाटे) का अर्थ (कुल व्यय) – (कुल राजस्व प्राप्तियां) अर्थात (total expenditure minus total revenue) लिया जाएगा, तथा इस बजटीय घाटे का अर्थ सरकार के व्यय का वह भाग होगा जिसके वित्त–पोषण के लिए यह

(क) उधार ले;

(ख) अपनी जमा रोकड़ में कमी करे;

(ग) सरकारी मुद्रा का नव–सृजन करे;

(घ) अपनी परिसंपत्तियों को बेचे; अथवा

(ङ) विदेशों से अनुदान ले।

स्पष्ट है कि किसी विचाराधीन वर्ष में होने वाले बजटीय/राजकोषीय घाटे की मात्रा उपर्युक्त चारों मदों में निवल वृद्धि के जोड़ के बराबर होती है।

बजट घाटा : राजकोषीय घाटा एक बहु-आयामी अवधारणा है। इसका तात्पर्य समूचा घाटा, राजकोषीय घाटे, राजस्व घाटे, प्राथमिक घाटे, मुद्राभूत घाटे अथवा सरकार की प्राप्तियों व व्यय के मध्य किसी अन्य कुमेल से हो सकता है। भारत में राजकोषीय घाटा नामक शब्द-समूह का प्रयोग केंद्र सरकार की वित्तीय स्थिति के संसूचकों के रूप में किया जाता है।

i. समूचा घाटा (बजटरी घाटा)- बजट घाटे द्वारा राजस्व एवं पूंजी दोनों की संयुक्त प्राप्तियों पर संयुक्त वितरण का अतिरेक प्रदर्शित होता है। अन्य शब्दों में इससे सरकार की कुल प्राप्तियों व कुल वितरणों में अंतराल प्रदर्शित होता है।

समूचा बजट घाटा = संयुक्त वितरण-संयुक्त प्राप्तियां

ii. राजकोषीय घाटा- राजकोषीय घाटे से कुल राजस्व प्राप्तियों धन गैर ऋण पूंजी प्राप्तियों पर पुनर्भुगतानों के कुल ऋणों धन पूंजी व राजस्व दोनों समस्त व्ययों का अतिरेक प्रदर्शित होता है।

राजकोषीय घाटा = कुल व्यय- (राजस्व प्राप्तियां + ऋणों की उगाहियां + अन्य प्राप्तियां)

iii. राजस्व घाटा- राजस्व घाटे का आशय कुल राजस्व प्राप्तियों पर कुल राजस्व व्यय का अतिरेक है। इसका तात्पर्य सरकारी खाते पर बचतहीनता से एवं उपभोग व्यय

के भाग में वित्त-पोषण हेतु अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों की बचतों का प्रयोग किये जाने से है।

राजस्व घाटा = कुल राजस्व व्यय-कुल राजस्व प्राप्तियां

टिप्पणी

4. **प्राथमिक घाटा–** प्राथमिक घाटे की अवधारणा उस परिशुद्ध विस्तार को दर्शाती है जिसमें वर्तमान राजकोषीय कार्य केंद्र सरकार की ऋणविहीनता को प्रभावित करता है। इसका मापन राजकोषीय घाटे से ब्याज भुगतानों को काट कर किया जाता है।

   प्राथमिक घाटा = राजकोषीय घाटा - ब्याज भुगतान

5. **मुद्राभूत घाटा**- इस घाटे का मापन सरकार में कुल आरबीआई क्रेडिट में वृद्धि द्वारा किया जाता है जो कि केंद्र सरकार dated प्रतिभूतियों की आर.बी.आई (RBIs) धार्यता में वृद्धि का कुलयोग है। आरबीआई के साथ केंद्र के नगद संतुलन में परिवर्तनों हेतु ट्रेज़री बिल्स एवं ऋणों व अग्रिम (एडवांसेस) का समायोजन किया जाता है।

भारत में स्थिति– भारत सरकार द्वारा अपनाई गई बजटीय घाटे की परिभाषा सर्वस्वीकार्य बजटीय अथवा राजकोषीय घाटे से भिन्न और निम्नलिखित है–

बजटीय घाटा = (भारतीय रिजर्व बैंक से 91–दिवसीय *तदर्थ* राजकोषीय हुंडियों द्वारा लिया गया उधार + जमा रोकड़ में निवल कमी)

(Loan from the RBI through 91-day *ad hoc* treasury bills *plus* drawing down of cash balances)

स्पष्ट है कि यह परिभाषा पूर्वोक्त परिभाषा से काफी भिन्न एवं संकीर्ण है। इसमें न तो सभी उधारों को जोड़ा गया है तथा न ही परिसंपत्तियों को बेचकर किए गए व्यय को। और यदि वर्षभर में जमा रोकड़ में निवल कमी लगभग शून्य–तुल्य हो तो इस घाटे को "रिजर्व बैंक से 91–दिवसीय तदर्थ राजकोषीय हुंडियों द्वारा लिए गए उधार" के बराबर भी माना जा सकता है। ध्यानयोग्य है कि उपर्युक्त हुंडियां वे हैं जिन्हें रिजर्व बैंक किसी अन्य पार्टी को नहीं बेच सकता।

सरकार का तर्क– इस संकीर्ण परिभाषा के पक्ष में सरकार का तर्क यह है कि बजटीय घाटे की परिभाषा वह होनी चाहिए जो आर्थिक नीति की संरचना में सहायक हो सके। सरकार के मतानुसार बजटीय घाटे के प्रमापन से यह पता चलना चाहिए कि इसके कारण देश में करेंसी की प्रचलित मात्रा में कितनी वृद्धि हुई, क्योंकि इस वृद्धि का सीधा प्रभाव देश में सकल प्रभावी मांग और कीमतों पर पड़ता है। सरकार के मतानुसार राजकोषीय गतिविधियों में से केवल दो के द्वारा ही करेंसी की प्रचलित मात्रा में बढ़ोतरी होती है– प्रथम, सरकार का भारतीय रिजर्व बैंक से 91–दिवसीय तदर्थ राजकोषीय हुंडियों द्वारा लिया गया उधार तथा द्वितीय, सरकार की जमा रोकड़ में निवल कमी।

परंतु सरकार के इस तर्क की त्रुटियां स्वस्पष्ट हैं–

- सरकार रिजर्व बैंक से कई प्रकार के ऋण लेती है, जिनमें से अधिकतर करेंसी की प्रचलित मात्रा में वृद्धि का कारण बनते हैं। परंतु इस परिभाषा में केवल एक प्रकार के उधार को ही लिया गया है।

- सरकार द्वारा रिजर्व बैंक के अतिरिक्त अन्य स्रोतों से लिए गए उधार (विशेषकर जिन्हें प्रशासनिक भाषा में 'बाजार–उधार' अर्थात market borrowings कहा जाता है) भी मांग और कीमतों पर दबाव डाल सकते हैं। कारण यह है कि जब सरकार बाजार–उधार लेकर उसे व्यय करती है तो मांग और पूर्ति का संतुलन पूर्ववत् नहीं रह पाता। उदाहरणार्थ यदि सरकार उधार राशियों का निवेश पूंजी–प्रधान परियोजनाओं में करे, तो उपभोग की वस्तुओं में वृद्धि होने में तो समय लगता है परंतु उनकी मांग एकदम बढ़ जाती है, क्योंकि इससे मौद्रिक आयों में तत्काल वृद्धि हो जाती है। इसी प्रकार जब सरकार उधार लेकर समाज कल्याण तथा ऐसी ही अन्य स्कीमों पर व्यय करे, तो विविध प्रकार से हितकर होते हुए भी कीमतों को बढ़ावा मिलता है।

आंशिक सुधार–चक्रवर्ती कमेटी ने सरकार द्वारा प्रयुक्त 'बजटीय घाटे' की परिभाषा की त्रुटियों को उभारते हुए कुछ सिफारिशें कीं। इनमें से एक सिफारिश यह थी कि सरकार को अपने बजटीय घाटे के अनुमान में रिजर्व बैंक से लिए गए सभी उधारों को शामिल करना चाहिए। परिणामस्वरूप सरकार 'बजटीय घाटे' के अतिरिक्त 'मुद्राकृत घाटे' का प्रमापन भी प्रकाशित करने लगी। साथ ही कुछ अन्य "घाटा परिमापनों" को भी अनुमानित किया जाने लगा, जैसे कि "राजकोषीय घाटा", "मूल घाटा", "राजस्व खाते का घाटा" तथा "पूंजी खाते का घाटा" आदि। भारत सरकार ने सितम्बर 1996 से तदर्थ राजकोषीय हुंडियों द्वारा निवल उधार न लेने का निर्णय लिया। इस कारण अब केंद्रीय बजट में परंपरागत "बजटीय घाटे" की अवधारणा निरर्थक हो गई है।

राजकोषीय घाटे पर भारत की भूमिका

राजकोषीय घाटे पर भारत की भूमिका को निम्न प्रकार से समझाया गया है।

आँकड़ों के मुताबिक मिश्रित घाटा, वर्ष 1980 के दशक की शुरुआत में जीडीपी के 6 फीसदी से बढ़कर दशक के मध्य तक 8 फीसदी और सन 1990–91 तक 8–9 फीसदी के स्तर पर आ गया। राजकोषीय असंतुलन बढ़ा। केंद्र सरकार को अक्सर सन 1991 के भुगतान संतुलन के संकट के लिये प्रमुख तौर पर ज़िम्मेदार माना जाता है। पिछले वर्षों की ढीली राजकोषीय नीति उक्त संकट के लिये उत्तरदायी मानी जाती है।

इस संकट ने केंद्र सरकार को राजकोषीय समावेशन की शुरुआत करने के लिये प्रेरित किया और मिश्रित घाटे को सन 1990–91 के 9 फीसदी से अधिक के स्तर से घटाकर वर्ष 1996–97 में 6 फीसदी तक करने में सफलता मिली। लेकिन यह स्थिति बहुत लंबे समय तक नहीं बनी रही। वर्ष 1996–97 के बाद के पाँच सालों में संयुक्त राजकोषीय घाटा दोबारा 9.6 फीसदी के स्तर तक पहुँच गया।

वर्ष 2002–03 से लेकर अगले पाँच साल में इसमें भरी कमी देखी गई और यह 9.3 फीसदी से घटकर 4.7 फीसदी पर आ गया। इस दौरान राज्य और केंद्र दोनों ही स्तरों पर सकारात्मक प्रयास किये जा रहे थे। संसद ने राजकोषीय जवाबदेही एवं बजट प्रबंधन कानून को 2003 में पारित कर दिया था और सन 2004 में इसकी अधिसूचना भी जारी कर दी गई थी।

टिप्पणी

वर्ष 2004 में 12वें वित्त आयोग की अनुशंसा के बाद ऋण राहत को राज्यों से जोड़ दिया गया, लगभग सभी राज्यों ने यही किया। राज्यों के बिक्री कर को राज्य मूल्यवर्द्धित कर में तब्दील कर दिया गया और केंद्र के सेवा कर दायरे का भी समुचित विस्तार हुआ। राजकोषीय घाटा कम होने से ब्याज दर कम होती गई। इससे निवेश और वृद्धि को बल मिला। इसका असर राजस्व पर पड़ा और घाटा आगे चलकर और कम हो गया।

राजकोषीय घाटे की भरपाई के लिये आमतौर पर सरकार भारतीय रिज़र्व बैंक से उधार लेती है या फिर छोटी और लंबी अवधि के बॉन्ड जारी कर पूंजी बाजार से फंड जुटाती है लेकिन इससे मुद्रास्फीति बढ़ने का खतरा रहता है। इसीलिये अर्थशास्त्री, राजकोषीय घाटे को बिलकुल नहीं या फिर कम से कम रखने पर जोर देते हैं। कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार सरकार को राजकोषीय घाटे को पूरा करने के लिये अधिक उधार लेने की बजाय विनिवेश की राह पर चलना चाहिये। सार्वजनिक उपक्रमों में सरकारी हिस्सेदारी कम करने या बेचने की प्रक्रिया शुरू करनी चाहिये तथा देशी और विदेशी दोनों ही निवेशकों को इस ओर आकर्षित करना चाहिये।

बीते 35 सालों में देश में केंद्र और राज्यों का मिलाजुला राजकोषीय घाटा औसतन सकल घरेलू उत्पाद का 7.7 फीसदी रहा है। केवल वर्ष 2007–08 के दौरान यह पाँच फीसदी से नीचे आया था। वर्ष 2015 में जब हमारा घाटा जीडीपी के 7.5 फीसदी था तब यूरो क्षेत्र का घाटा औसतन 2 फीसदी था। विकसित जी–20 देशों में यह 3 फीसदी और उभरते जी–20 देशों में यह 4.4 फीसदी था। विदित हो कि दुनिया का कोई भी अन्य देश हमारे इस शिथिल आंकड़े के आसपास नहीं है। पिछले कुछ समय से जहाँ राजकोषीय मोर्चे पर सुधार देखने को मिला है वहीं राज्यों के स्तर पर हमें शिथिलता का सामना करना पड़ा है लेकिन सुधारों का संघर्ष जारी है।

अपनी प्रगति जांचिए

4. राजकोषीय घाटे में से ब्याज भुगतान की राशि घटाने पर क्या प्राप्त होता है?
   (क) बजटीय घाटा (ख) प्राथमिक घाटा
   (ग) राजस्व घाटा (घ) वित्तीय घाटा
5. राजकोषीय घाटे की भरपाई आमतौर पर किससे उधार लेकर की जाती है?
   (क) सरकार से (ख) जनता से
   (ग) भारतीय रिजर्व बैंक से (घ) सहकारी बैंक से
6. भारत सरकार के बजट घाटे में निम्न में से किसका अंश सबसे अधिक है?
   (क) बजट घाटा (ख) राजस्व घाटा
   (ग) राजकोषीय घाटा (घ) प्राथमिक घाटा

2.4 राजकोषीय नीति

टिप्पणी

राजकोषीय नीति से अभिप्राय स्थिरीकरण या वृद्धि के लिए सरकार द्वारा कराधान और सार्वजनिक व्यय का प्रयोग है। प्रत्येक देश की सरकार को बहुत बड़े पैमाने पर लेन-देन का कार्य करना पड़ता है। उसको देश की व्यवस्था, विकास कार्य तथा सुरक्षा के लिए पैसा वसूल करना पड़ता है और उस एकत्र हुई राशि को सरकार विभिन्न मदों पर नियमित रूप से व्यय करती है। इसलिए सरकार यह प्रयत्न करती है कि उसका बजट संतुलित बना रहे परंतु कई बार ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं जबकि आय कम रह जाती है और व्यय ज्यादा हो जाता है। अधिक व्यय को पूरा करने के लिए उसे देश और विदेशों से ऋण लेना पड़ता है अथवा वह घाटे की पूर्ति नये नोट छापकर करती है। इस प्रकार कर लगाने, ऋण लेने अथवा घाटे की पूर्ति पत्र मुद्रा निर्गमन द्वारा करने की रीतियों को सामूहिक रूप में राजकोषीय नीति कहते हैं।

योजना आयोग ने सातवीं पंचवर्षीय योजना में कहा है कि, 'इस नीति (राजकोषीय नीति) के द्वारा सरकार सार्वजनिक अर्थव्यवस्था जिसमें सार्वजनिक सेवाएं एवं सार्वजनिक निवेश आते हैं, का सृजन करती है और उसे बनाए रखती है। इसके साथ-साथ यह राष्ट्रीय प्राथमिकताओं के अनुसार संसाधनों के पुनः आवंटन, पुनर्वितरण निजी बचतों और निवेशों में प्रोत्साहन और स्थिरता बनाए रखने का उपकरण है।' आर्थिक स्थायित्व के साधन के रूप में विशेष रूप से 1929 की आर्थिक मंदी के पश्चात राजकोषीय नीति का महत्व बढ़ा है। इसके अनेक कारण हैं जैसे कि मौद्रिक नीति का सीमित प्रभाव, आर्थिक विश्लेषण में व्यापक अर्थशास्त्र का बढ़ता महत्व तथा सरकार के बजट में वृद्धि इत्यादि। आर्थर स्मिथीण ने कहा है कि - 'यह ऐसी नीति है जिसके अंतर्गत सरकार अपने व्यय तथा राजस्व कार्यक्रमों को राष्ट्रीय आय, उत्पादन तथा रोजगार पर अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न करने और अनपेक्षित प्रभाव रोकने के लिए प्रयोग करती है।'

केन्स का राजकोषीय नीति विश्लेषण विकसित एवं अल्पविकसित देशों में लागू होता है। उनके अनुसार विकसित देशों में राजकोषीय नीति का उद्देश्य आर्थिक विकास की दर को स्थिर रखना है तथा अल्पविकसित देशों में इसका उद्देश्य सबको पूंजी निर्माण की दर में वृद्धि करके आर्थिक विकास को गति प्रदान करना है।

20वीं शताब्दी के पांचवें दशक में राजकोषीय नीति को साधारण भूमिका प्रदान की गई थी परंतु आज विभिन्न देशों की सरकारें इस नीति का व्यापक रूप में उपयोग करके अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार प्राप्त करने, मुद्रा स्फीति पर नियंत्रण करने तथा आर्थिक विकास को प्रोत्साहन प्रदान करने का सफल प्रयास कर रही है। अर्थव्यवस्था में कुल राष्ट्रीय उत्पादन, रोजगार, औद्योगिक एवं कृषि उत्पादक, मूल्यों आदि को प्रभावित करने हेतु समष्टि आर्थिक नीति के महत्वपूर्ण उपकरण के रूप में राजकोषीय नीति आज विभिन्न देशों की सरकारों में बहुत लोकप्रिय हो गई है। राजकोषीय नीति के अंतर्गत मुख्य रूप से चार बातों को सम्मिलित किया जाता है–

1. सरकार की करारोपण नीति
2. सरकार की ऋण नीति
3. सरकार की व्यय नीति
4. सरकार की बजट नीति

टिप्पणी

सरकार की साधारण आर्थिक नीति में राजकोषीय नीति एक महत्वपूर्ण साधन है। इसका संबंध सामूहिक स्तर पर अर्थव्यवस्था में आर्थिक गतिविधियों को प्रभावित करने के सरकार के करारोपण व व्यय अधिकारों के प्रयोग से है। इसका संबंध फेडरल पोलाइटी में सरकार की विभिन्न पंक्तियों के मध्य वित्तीय संबंधों से भी है। बजट के माध्यम के द्वारा सरकारी व्यय, उधारी लेने की आवश्यकताओं का निर्धारण होता है एवं नयी मुद्रा जारी की जाती है। मूलभूत बजट वह प्रलेख (दस्तावेज) है जिसे 'वार्षिक वित्तीय विवरण' कहा जाता है। संविधान के अनुच्छेद 112 (2) के तहत सरकार के बजट में अन्य व्ययों से राजस्व भाग में व्यय को भिन्न करना होता है। बजट को दो भागों में प्रस्तुत किया जाता है: राजस्व बजट एवं पूंजी बजट।

1. **राजस्व बजट–** राजस्व बजट में सरकार की राजस्व प्राप्तियां एवं इस राजस्व से किए जाने वाले व्यय प्रदर्शित हैं। इस प्रकार इसमें राजस्व प्राप्तियां एवं राजस्व व्यय सम्मिलित हैं।

   i. **राजस्व प्राप्तियां:** सरकार की उन सभी प्राप्तियों को राजस्व प्राप्तियां कहा जा सकता है जो अप्रतिदेय हों। इन प्राप्तियों को दो मदों में विभाजित किया गया है– कर राजस्व एवं गैर कर राजस्व।

      - **कर राजस्व**- इसमें केंद्र द्वारा उगाहे गए करों व अन्य चुंगियों से होने वाली आय सम्मिलित है। सरकार द्वारा लगाए जाने वाले भांति-भांति के करों के माध्यम से यह उसे देय होता है।
      - **गैर राजस्व कर**- इसे तीन मदों में वर्गीकृत किया गया है- ब्याज प्राप्ति, लाभांश लाभ एवं अन्य गैर कर राजस्व।

   ii. **राजस्व व्यय:** राजस्व व्यय का संबंध सरकारी विभागों एवं विभिन्न सेवाओं के सामान्य कामकाज, सरकार द्वारा वहन ऋणों पर ब्याज खर्चों एवं राज्य सरकारों व अन्य पक्षों को दिए जाने वाले अनुदानों से है। कुल राजस्व व्यय को दो वर्गों में वगीकृत किया जाता है- राजस्व योजना व्यय एवं राजस्व गैर योजना व्यय।

      - **राजस्व योजना व्यय**- राजस्व योजना व्यय का संबंध केंद्रीय योजना एवं राज्य व संघशासित क्षेत्र योजना हेतु केंद्रीय सहायता से है। वर्ष 2010-2011 के लिए राजस्व योजना व्यय का अंश 315125 करोड़ रुपए (32.9 प्रतिशत) था।
      - **राजस्व गैर योजना व्यय**- राजस्व गैर योजना व्यय के अंतर्गत सरकार की भांति-भांति की साधारण, सामाजिक एवं आर्थिक सेवाएं सम्मिलित हैं। सन् 2010-2011 के लिए राजस्व गैर योजना व्यय 643599 करोड़ रुपए (67.1 प्रतिशत) था।

2. **पूंजी बजट–** पूंजी बजट के अंतर्गत सरकार की पूंजी प्राप्तियां एवं पूंजी व्यय समाहित है। इससे सरकार की पूंजी आवश्यकताएं व उनके वित्तीय प्रारूप प्रदर्शित होते हैं। इस प्रकार इसमें पूंजी प्राप्तियां एवं पूंजी व्यय सम्मिलित है।

- **पूंजी प्राप्तियां :** सरकार की उन प्राप्तियों को पूंजी प्राप्तियां कह सकते हैं जिनसे देयता निर्मित होती हो अथवा वित्तीय संपत्तियां घटती हों। ऐसी प्राप्तियों के प्रमुख अवयव विभिन्न प्रकारों की उधारियां एवं ऋणों के पुनर्भुगतान हैं।

- **पूंजी व्यय :** सरकार के उन व्ययों को पूंजी व्यय कहा जाता है जिनसे भौतिक अथवा वित्तीय संपत्तियों का सृजन होता है अथवा वित्तीय देयताओं की बारंबारता घटती है। ऐसे व्ययों का संबंध अग्रिम (एडवांस) एवं ऋण के अंश पर भू-खंड, भवन व उपकरण निवेश जैसी संपत्तियों अधिग्रहण पर भुगतानों से है। कुल पूंजी व्यय को दो वर्गों में विभाजित किया गया है: पूंजी योजना व्यय एवं पूंजी गैर योजना व्यय।

राजकोषीय नीति के उद्देश्य

अल्प विकसित देशों में राजकोषीय नीति का प्रमुख उद्देश्य विकास के लिए पर्याप्त मात्रा में धन की व्यवस्था करना व विकास की गति को तेज करना है। N Report of Taxes - Fiscal Policy के अनुसार 'राजकोषीय नीति का बड़ा काम यह है कि अल्पविकसित देशों की दयनीय रूप से निम्न उत्पादन परियोजनाओं में से अधिक विकास वित्त प्रबंधन के लिए काफी बचतें बलपूर्वक प्राप्त करे तथा अधिक प्रबल नीति तथा सार्वजनिक निवेश के लिए रंगमंच बनाए।' इनके मुख्य उद्देश्य निम्न हैं–

1. **आय तथा धन की असमानताओं को कम करना–** आय तथा धन की असमानओं को कम करने के लिए राजकोषीय नीति के दो महत्वपूर्ण यंत्र हैं - 1. करारोपण 2. सार्वजनिक व्यय। आय तथा धन की असमानता सामयिक एवं आर्थिक एवं राजनैतिक अस्थिरता उत्पन्न करती है। जिससे विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। धनी व्यक्तियों पर अधिक दर से प्रगतिशील आयकर लगाकर, धनी वर्ग द्वारा उपयोग की जाने वाली आयातित वस्तुओं पर अधिक दर से आयात कर लगाकर तथा विलासिता की वस्तुओं पर अप्रत्यक्ष कर लगाकर असमानता को कम कर सकते हैं।

   दूसरे असमानता को कम करने के लिए सरकार सार्वजनिक व्यय, विधि के माध्यम से गरीबों को अधिक लाभ दे सकती है। गरीबों को राशनिंग के माध्यम से सस्ती भोजन सामग्री की सुविधा प्रदान की जा सकती है। इससे अतिरिक्त चिकित्सा सुविधा, सस्ती आवास व्यवस्था, मनोरंजन सुविधाएं आदि का लाभ गरीबों को दिया जा सकता है जो असमानता को कम करने में सहायक बनेगा।

2. **उत्पादक साधनों की क्षमता में वृद्धि–** उत्पादकों की कार्य क्षमता बढ़ाने के लिए सामाजिक कल्याण एवं सुरक्षा पर अधिक व्यय किया जाना चाहिए। जिससे उत्पादन में वृद्धि हो और देश के आर्थिक विकास में सहायता मिले।

3. **राष्ट्रीय आय में वृद्धि–** राष्ट्रीय आय में वृद्धि भी राजकोषीय नीति का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य है। सरकार को बचत के लिए हमेशा इस बात से सजग रहना चाहिए कि करों से प्राप्त बचतों को तुरंत उत्पादक दिशाओं में लगाया जाए। सार्वजनिक व्यय और सार्वजनिक ऋणों की अधिकांश मात्रा नये निवेशों तथा विकास कार्यों में लगाई जानी चाहिए।

टिप्पणी

4. **कीमत स्थिरता–** कीमतों की अस्थिरता आर्थिक क्रियाओं में भी उतार-चढ़ाव ला देती है। आजकल सरकार आवश्यक वस्तुओं जैसे खाद्यान्न को खरीदकर उनका संग्रह करना तथा जब उसकी कीमतों में वृद्धि हो उस समय उचित दर पर बेचने देती है।

5. **निवेश की दर में वृद्धि–** अल्पविकसित देशों में प्रति व्यक्ति आय कम होने के कारण बचत कम हो पाती है। इसलिए पूंजी निवेश भी कम हो पाता है। राजकोषीय नीति का उद्देश्य है कि अर्थव्यवस्था के निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्रों में निवेश की दर में वृद्धि की जाए। निवेश में वृद्धि के लक्ष्य को वास्तविक तथा संभावित उपयोग को कम करके और सीमित बचत प्रवृत्ति में वृद्धि करके प्राप्त किया जा सकता है। अल्पविकसित देशों में उपभोग प्रवृत्ति अधिक होती है, इसलिए राजकोषीय नीति के माध्यम से चालू उपभोग को कम करके बचत प्रवृत्ति में वृद्धि की जा सकती है जिससे पूंजी निर्माण एवं निवेश दर दोनों में वृद्धि होगी।

6. **रोजगार के अवसरों में वृद्धि–** इस नीति का उद्देश्य है देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न करके उसे स्थिर बनाये रखा जाए। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री कहते थे कि सरकार को न तो घाटे का बजट बनाना चाहिए और न ही आधिक्य का क्योंकि करों के फलस्वरूप साधनों का गलत दिशा में प्रवाह होने लगता है, परंतु केन्स का कहना था कि मंदी को दूर करने के लिए सार्वजनिक व्यय में वृद्धि का सर्मथन किया जाए ताकि विनियोग में वृद्धि की जा सके और पूर्ण रोजगार के स्तर को प्राप्त किया जा सकें सामाजिक एवं आर्थिक कार्यों पर व्यय करने से रोजगार के अवसरों में वृद्धि होती है और दीर्घकाल में अर्थव्यवस्था की उत्पादन कुशलता बढ़ती है। सरकार को बेरोजगारी दूर करने के लिए श्रम प्रधान योजनाओं पर ध्यान देना चाहिए।

7. **मुद्रा स्फीति को नियंत्रित करना–** विकासशील देशों में साधनों की मांग तथा पूर्ति के बीच सदा असंतुलन रहता है। मुद्रा में स्फीति के कारण व्यक्तियों की क्रय शक्ति बढ़ने से मांग बढ़ जाती है परंतु बाजार में पूर्ति उस अनुपात में नहीं बढ़ पाती है, इसलिए वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतें बढ़ जाती हैं। कीमत वृद्धि से अधिक मजदूरी की मांग होती है। परिणामस्वरूप लागतें बढ़ जाती हैं जो कीमतों में और अधिक वृद्धि कर देती हैं।

   इस स्फीतिक दबाव को कम करने के लिए अतिरिक्त क्रय शक्ति को प्रगतिशील प्रत्यक्ष करों, वस्तु करों अनिवार्य बचतों तथा सार्वजनिक ऋणों द्वारा कम किया जाए। इस नीति का उद्देश्य स्फीति दबावों को कम करने के साथ-साथ सामान्य कीमत स्तर में स्थिरता लाना भी है।

राजकोषीय नीति के अंग

इसके विभिन्न अंग निम्न हैं-

1. करारोपण– किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिए आय का होना आवश्यक है और आय प्राप्ति का महत्वपूर्ण साधन है कर। इसके लिए सरकार प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष कर लगाती है। प्रत्यक्ष कर आय कर, संपत्ति कर, उपहार कर, पूंजी लाभकर तथा अप्रत्यक्ष कर सभी वस्तुओं पर लगाए जाते हैं। प्रत्यक्ष कर का भार धनी व्यक्तियों पर पड़ता है। विकास कार्यों के लिए सरकार सामान्य उपभोग वस्तुओं पर भी कर लगाती है लेकिन इन करों का भार मध्यम एवं निर्धन वर्ग पर ज्यादा पड़ता है।

टिप्पणी

सरकार जो भी कर लगाती है उनका प्रभाव समाज के विभिन्न वर्गों पर एक समान नहीं पड़ता है जैसे-जैसे करों में वृद्धि होती है वैसे-वैसे ही उपभोग, उत्पादन बचत एवं विनियोग कम हो जाते हैं क्योंकि उपभोग योग्य आय का अधिक भाग कर के रूप में चला जाता है। ऊंचे कर औद्योगिक उत्पादन को भी प्रभावित करते हैं जिससे बेरोजगारी बढ़ने की आशंका रहती है। वस्तुओं के दामों में वृद्धि के कारण विदेशों को निर्यात कम हो जाता है और अपनी मुद्रा की विनिमय दर गिरने लगती है। उद्योगपतियों को नई औद्योगिक इकाइयां लगाने और पुरानी को विकसित करने का जोश नहीं रहता है।

इसके विपरीत यदि करों की मात्रा को कम कर दिया जाता है तो क्रय शक्ति में वृद्धि, उत्पादन में वृद्धि, बचत तथा विनियोग में वृद्धि को प्रोत्साहन मिलता है, इसलिए प्रजातांत्रिक अर्थव्यवस्था में देश की उन्नति के लिए करों को सीमित मात्रा में ही रखना चाहिए। कर नीति सरल एवं समझने में सुविधा जनक होनी चाहिए जिससे करों को वसूलने में कठिनाई न हो तथा बेईमानी से बचा जा सकें समाजवादी अर्थव्यवस्था में प्रायः कर नीति 'एक से छीनकर दूसरे को देने' (to Rob Peter to pay saul) की होती है, परंतु उद्योगपति मूल्य प्रणाली में इस प्रकार का सामंजस्य कर लेते हैं कि कर का भार अधिकांशतः गरीब और मध्यम वर्ग पर अधिक पड़ता है जिससे उनकी स्थिति सुधरने की बजाय और बिगड़ने लगती है।

अतः संतुलित विकास करने के लिए यह आवश्यक है कि कर नीति लोचदार तथा व्यावहारिक होने के साथ-साथ उसका संचालन सुव्यवस्थित एवं दृढ़तापूर्वक होना चाहिए अन्यथा सरकार अपने उद्देश्यों में सफल नहीं हो पाएगी।

2. सार्वजनिक व्यय– संसद सरकार की व्यय मदें स्वीकृत करती हैं तथा उनकी मात्रा आय की तुलना में ज्यादा रखी जाती है। प्रजातंत्रीय अर्थव्यवस्था में सरकार को अपना हर व्यय इस प्रकार करना होता है जिससे जनता अधिक से अधिक लाभ प्राप्त कर सकें सार्वजनिक व्यय करने की रीति बहुत सख्त होनी चाहिए तथा ईमानदारी से व्यय होना चाहिए। कुशलतापूर्वक क्षेत्रों का विकास होना चाहिए अथवा ऐसे समुचित क्षेत्रों में व्यय हो सकता है जिसका लाभ ही नहीं प्राप्त होता है।

अल्पविकसित देशों में सरकार को अपनी आय का अधिकांश भाग सड़क निर्माण, रेलवे, सिंचाई योजनाएं, संचार, व्यवस्था, परिवहन, विद्युत, कोयला खानों, सामान्य एवं तकनीकी शिक्षा पर व्यय करना चाहिए। ऐसा करने पर विकास की गति तेज हो जाएगी। देश के आर्थिक विकास के लिए आधारभूत उद्योगों की स्थापना पर भी व्यय करना आवश्यक है। श्रमिकों की उत्पादकता को बढ़ाने के लिए सरकार को श्रम तथा सामाजिक कल्याण कार्यक्रमों पर भी व्यय करना आवश्यक है।

3. सार्वजनिक ऋण– देश का आर्थिक विकास करने के लिए सरकार के द्वारा जो करारोपण किया जाता है उससे प्राप्त आय पर्याप्त नहीं होती है क्योंकि सरकार के खर्च आय से ज्यादा होते हैं। अतः उनको पूरा करने के लिए उसे दीर्घकालीन एवं अल्पकालीन ऋणों का सहारा लेना पड़ता है क्योंकि करों में वृद्धि की जाती है तो जनता उसका विरोध करती है परंतु सार्वजनिक ऋण पर ब्याज का भुगतान किया जाता है इसलिए कोई विरोध नहीं होता। यदि सरकार इन ऋणों का प्रयोग उत्पादक परियोजनाओं के लिए करती है तो इससे पूंजी निर्माण में सहायता मिलती है जो कि लाभदायक होते हैं। विकासशील देशों में पूंजी तथा बचत का अभाव होता है तथा इन देशों को विकास की अधिक आवश्यकता

टिप्पणी

होती है। अतः सार्वजनिक ऋण इनके लिए रामबाण होते हैं। ये ऋण देश में ऐच्छिक या बलात हो सकते हैं या फिर विदेशी सरकारों या अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के माध्यम से लिए जा सकते हैं। जब आंतरिक ऋण पर्याप्त नहीं होते हैं तभी सरकार बाहरी या विदेशी ऋणों का सहारा लेती है।

4. घाटे की अर्थव्यवस्था– घाटे की वित व्यवस्था राजकोषीय नीति का एक महत्वपूर्ण यंत्र है। सरकारी बजट में व्यय आय से अधिक होता है। अल्पविकसित देशों में घाटे की वित्त व्यवस्था एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में काम आ रही है। आधुनिक समय में बहुत से विकासशील देश अपने आर्थिक विकास की वित्त व्यवस्था के साधन के रूप में घाटे की वित्त व्यवस्था तकनीक का प्रयोग कर रहे हैं।

घाटे की पूर्ति नोट निर्गमन से अथवा मुद्रा प्रति द्वारा की जाती है। दोनो विधियां परस्पर विरोधी हैं और दोनों के प्रभाव सर्वथा उल्टे होते हैं। अगर सरकार 'नोट निर्गमन द्वारा घाटा पूरा करने की नीति को अपनाती है तो उससे मुद्रा स्फीति का डर बना रहता है क्योंकि यह खर्च प्रायः सामाजिक हित के कार्यो जैसे सड़क निर्माण, पुल, बैंक, रेल, नहरें आदि पर होता है जिसका प्रतिफल लंबे समय के बाद प्राप्त होता है। इससे मुद्रा तो चलन में ज्यादा आ जाती है और उत्पादन में उस अनुपात में वृद्धि न होने के कारण मुद्रा स्फीति हो जाती है। इसके विपरीत यदि सरकार उन उद्योगों पर व्यय करे जिसका प्रतिफल तुरंत मिल जाए तो स्फीति के डर से बचा जा सकता है, क्योंकि बढ़ी हुई मुद्रा बढ़े हुए उत्पादन के साथ पूरी मिल जाती है।

राजकोषीय नीति एवं आर्थिक विकास

राजकोषीय नीति अल्पविकसित देशों में आर्थिक विकास को गति प्रदान करने का एक महत्वपूर्ण साधन है। इस देश के विकास के लिए राजकोषीय नीति का उचित होना आवश्यक है। अल्पविकसित देश भूमि, वन, श्रम, खनिज पदार्थ आदि के धनी होते हैं लेकिन बाजार का आकार छोटा होना, पूंजी की कमी, तकनीकी ज्ञान की कमी, बाजार अपूर्णताएं, संरचनात्मक कठोरताएं एवं अड़चनों के कारण देश इन साधनों का उचित विदोहन नहीं कर पाते हैं। वित्तीय अभाव के कारण इन देशों में इन साधनों को आर्थिक विकास हेतु गतिशील नहीं किया जा सकता है। अतः आर्थिक विकास की प्राप्ति हेतु राजकोषीय नीति के सभी यंत्रों जैसे करारोपण, सार्वजनिक व्यय, सार्वजनिक ऋण और घाटे की वित्त व्यवस्था का प्रयोग करना पड़ता है।

पिछले पचास वर्षों से अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार एवं कीमत स्थिरता लाने के लिए राजकोषीय नीति प्रयोग में आ रही है। इस नीति के प्रयोग में आने वाले तीन कारण हैं–

(1) 20वीं शताब्दी में 1930 की महान आर्थिक मंदी के समय बेरोजगारी को दूर करने के लिए राजकोषीय नीति अपनाई गई लेकिन वह कारगर सिद्ध नहीं हुई।

(2) 1930 में केन्स के नवीन अर्थशास्त्र (New Economics) को जन्म दिया।

(3) राष्ट्रीय आय एवं उत्पादन में सरकारी व्यय एवं कर नीतियों का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया था।

आर्थिक स्थिरता के साथ आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देने हेतु राजकोषीय नीति का उपयोग ऐसे होना चाहिए कि कुल उपयोग एवं निवेश के द्वारा देश के साधनों के इष्टतम उपयोग वाले स्तर को बढ़ाने के साथ मुद्रा स्फीति पर भी अंकुश लगाया जा सकें आर्थिक

विकास की गति को तेज करने तथा बढ़ाने के लिए साधनों का प्रयोग उन क्षेत्रों में करना चाहिए जो अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता को बढ़ाते हैं। सरकारी कर प्रणाली के माध्यम द्वारा राजकोषीय नीति को उपभोग को हतोत्साहित करने के साथ-साथ निवेश को प्रोत्साहित करना चाहिए ताकि उत्पादन में वृद्धि हो सकें इसके अतिरिक्त वैयक्तिक आय पर भी आयकर की दरों में कमी करके पूंजी निर्माण की दर में वृद्धि की जानी चाहिए।

टिप्पणी

आधुनिक समय में राजकोषीय नीति आर्थिक विकास का एक महत्वपूर्ण साधन है। ये आर्थिक विकास को इस प्रकार से प्रभावित करती है-

(1) पूंजी निर्माण की दर में वृद्धि करके प्रभावित करना।

(2) मुद्रा प्रसार नियंत्रण के द्वारा प्रभावित करना।

(3) साधनों के आवंटन को प्रभावित करना।

(4) आय के वितरण में परिवर्तन करके प्रभावित करना।

जब सरकार द्वारा अर्थव्यवस्था के किसी क्षेत्र पर व्यय किया जाता है तो उस क्षेत्र के संसाधनों को विकसित होने का अवसर प्राप्त होता है परंतु जब किसी क्षेत्र पर कर लगाये जाते हैं तो उसके संसाधनों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है अर्थात सार्वजनिक आय, एवं व्यय संसाधनों के आवंटन को प्रभावित करता है या प्रतिकूल और अनुकूल प्रभाव डालता है। उदाहरणार्थ-सरकार उद्योगों पर व्यय करती है, निर्यात को प्रोत्साहन देती है तो उत्पत्ति के साधन उन क्षेत्रों की ओर आकर्षित होंगे या फिर किसी विशेष उद्योग में कर की दर कम है तो विनियोग उधर की तरफ आर्कषित होने लगेगा।

राजकोषीय नीति आय के वितरण को भी प्रभावित करती है जैसे सरकार शिक्षा एवं चिकित्सा सुविधाओं, पार्को आदि पर व्यय करती है तो इससे व्यावसायिक गतिशीलता बढ़ती है। इससे श्रमिकों की आर्थिक स्थिति में भी सुधार आता है। कर प्रणाली के अंतर्गत कर यदि प्रगतिशील करों की प्रणाली को ध्यान में रखकर लगाये जाते हैं तो आय के वितरण में समानता लाई जा सकती है।

राजकोषीय नीति मुद्रा प्रसार, मुद्रा संकुचन एवं पूंजी निर्माण को नियंत्रित करने में सहायक है। पूंजी निर्माण आर्थिक विकास को प्रभावित करता है। पूंजी निर्माण दो प्रकार से हो सकता है या तो निजी विनियोग द्वारा या फिर सार्वजनिक विनियोग द्वारा। निजी विनियोग तभी संभव है जबकि बचतें ज्यादा हो परंतु विकासशील देशों में बचत कम होने के कारण पूंजी निर्माण करने का दायित्व सरकार पर ही आ जाता है। इसके विपरीत सार्वजनिक विनियोग के अंतर्गत वित्तीय व्यवस्था करों से प्राप्त आय सार्वजनिक ऋणों द्वारा या घाटे की वित व्यवस्था द्वारा किया जाता है।

राजकोषीय नीति की सीमाएं

राजकोषीय नीति की सीमाएं इस प्रकार हैं–

1. **देर से प्रभाव दृष्टिगोचर–** इस नीति के प्रभाव तुरंत दृष्टिगोचर नहीं होते हैं बल्कि कर, व्यय, ऋण आदि के प्रभाव विलंब से सामने आते हैं। अतः आय, उत्पादन एवं रोजगार पर वांछनीय प्रभाव तुरंत न मिलकर कुछ समय पश्चात सामने आते हैं।

टिप्पणी

2. **बेरोजगारी–** सरकार द्वारा बेकारी को दूर करने के लिए प्रयुक्त राजकोषीय उपाय उपयुक्त परिणाम नहीं देते। यदि बेकारी प्रभावपूर्ण मांग की कमी के अलावा अन्य कारणों जैसे तकनीकी, संरचनात्मक, घर्षणात्मक तथा मौसमी कारणों से उत्पन्न होती है तो उसका हल राजकोषीय नीति नहीं कर पाती है।
3. **अमौद्रिक क्षेत्र–** अल्पविकसित देशों में अमौद्रिक क्षेत्र का भाग अधिक होता है जिसमें वस्तु विनिमय प्रचलित होने के कारण राजकोषीय नीति प्रभावी नहीं होती है।
4. **कानूनी स्वीकृति–** राजकोषीय नीति के अंतर्गत करों के ढांचे में परिवर्तन करने के लिए अथवा सार्वजनिक व्यय की स्वीकृति लेने के लिए संसद विधान सभा की कानूनी स्वीकृति लेना आवश्यक होता है जिसमें कई प्रशासनात्मक कठिनाइयां एवं विलंब आते हैं। उसके फलस्वरूप लगता है कि राजकोषीय नीति को न्यायोचित करने में कठिनाई होती है।
5. **अपर्याप्त समंक–** ऐसे देशों में पर्याप्त समंकों या आंकड़ों के अभाव होने के कारण आय-व्यय संबंधी तथ्यों की पूर्ण जानकारी नहीं हो पाती है।
6. **मुद्रा स्फीतिक दबाव–** जब सरकार अत्यधिक मुद्रा स्फीतिक दबावों को नियंत्रित करने के लिए राजकोषीय उपायों का प्रयोग करती है अर्थात अत्यधिक करारोपण करती है तथा सार्वजनिक निवेश में कमी करती है तो इसके परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था मंदी की ओर अग्रसर होती है।
7. **निजी विनियोग पर प्रभाव–** राजकोषीय नीति के माध्यम से सार्वजनिक विनियोग में वृद्धि की जाती है, यह संभव है कि उसका निजी विनियोग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े। यदि सरकार द्वारा श्रम एवं कच्चे माल की मांग के कारण निजी क्षेत्र से प्रतियोगिता होती है तो कीमत में एवं लागत में वृद्धि के कारण निजी विनियोग पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।
8. **भुगतान शेष–** बेरोजगारी को खत्म करने के लिए अगर राजकोषीय नीतियों का प्रयोग किया जाता है तो खुली अर्थव्यवस्था में भुगतान शेष की कठिनाइयां उपस्थित होने की संभावना बनी रहती है क्योंकि नई क्रय-शक्ति का प्रयोग वस्तुओं के आयात हेतु किया जा सकता है।
9. **बेलोच व्यय–** यदि सरकार मुद्रा प्रसार की स्थिति में सार्वजनिक परियोजनाओं पर व्यय कर घटाना चाहती है तथा मुद्रा संकुचन की स्थिति में बढ़ाना चाहती है तो सदैव ऐसा करना सही नहीं है क्योंकि इस प्रकार का भय कई आर्थिक एवं सामयिक कारणों द्वारा निर्देशित होता है।

मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों में अंतर

मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों में अंतर निम्न प्रकार से हैं–

1. **स्वतंत्रता का अधिकार–** राजकोषीय नीति के अंतर्गत सरकार स्वतंत्र नहीं होती है। उस पर संसद का अंकुश रहता है क्योंकि बजट में प्रत्येक मद की राशि पर संसद की अनुमति आवश्यक है। इसके विपरीत केंद्रीय बैंक मौद्रिक नीति के

लिए स्वतंत्र होता है। इस नीति में कितनी मुद्रा या साख का प्रसार या संकुचन करना है यह सब केंद्रीय बैंक के निर्णय पर ही निर्भर होता है। मौद्रिक नीति में केवल मूल नीतियों के संबंध में या तो सरकार द्वारा बनाए गए कानूनों के तहत कार्य करना होता है या फिर वित्त विभाग से पहले परामर्श करना होता है।

टिप्पणी

2. **व्यापकता का अंतर–** मौद्रिक नीति, राजकोषीय नीति की अपेक्षा अधिक व्यापक है। इस नीति के अंतर्गत सरकार विभिन्न वर्गों के तथा विभिन्न क्षेत्रों के अनुसार कर मात्रा का निर्धारण करती है तथा उससे प्राप्त होने वाली आय भी उसी प्रकार व्यय की जाती है, परंतु राजकोषीय नीति का प्रभाव तथा लाभ सभी वर्गों पर समान नहीं रहता है।

3. **जनता पर प्रभाव–** सरकार की राजकोषीय नीति से जनता प्रत्यक्ष रूप में प्रभावित होती है। सरकार द्वारा जब अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जनता पर कर लगाये जाते हैं तो उससे विनियोग कम हो जाता है, वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो जाती है, उपभोक्ताओं की अप्रत्यक्ष रूप में आय कम हो जाती है, जिसका प्रभाव मांग पर पड़ता है। अत: मांग भी कम हो जाती है। इसी प्रकार सरकार की ऋण नीति राष्ट्रीय बचत तथा बैंक जमाओं को प्रभावित करती है। बैंक दर में हुई वृद्धि, प्रतिभूतियां खरीदने या बेचने आदि से पूंजी विनियोग तथा बचत पर केवल अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। इसका कारण यह है कि सरकार जनता से प्रत्यक्ष सौदे करती है जबकि केंद्रीय बैंक की सभी क्रियाएं व्यापारिक बैंकों द्वारा संपन्न होती हैं।

4. **राजकोषीय नीति से उत्पन्न मौद्रिक समस्याएं–** राजकोषीय नीति दो प्रकार की मौद्रिक समस्याएं उत्पन्न करती है-

   1. बजट घाटे की पूर्ति केसे हो या आधिक्य का प्रयोग किस प्रकार किया जाए।
   2. सार्वजनिक गुणों द्वारा जनता को प्रभावित करना।

   अगर सरकार घाटे की वित व्यवस्था को अपनाती है तो पहले समस्या आती है कि मौद्रिक प्रभावों से कैसे निबटा जाए और दूसरे वर्तमान ऋणों की वृद्धि का भविष्य में क्या प्रभाव होगा?

5. **राजनीतिक प्रभाव–** राजकोषीय नीति राजनैतिक तत्वों से प्रभावित होती है। अधिकांश देश प्रजातांत्रिक सरकारों वाले हैं और प्रजातंत्र में बहुमत रखने वाले राजनैतिक दल के प्रभावशाली नेताओं की व्यक्तिगत भावनाओं अथवा आवश्यकताओं का ध्यान रखना आवश्यक होता है, परंतु मौद्रिक नीति इन राजनीतिक प्रभावों से आजाद होती है। वित्त मंत्री और केंद्रीय बैंक के गवर्नर में मतभेद होने पर वित्त मंत्री के मत का ही प्रभुत्व रहता है परंतु मौद्रिक नीति की कुछ इस प्रकार की परंपराएं स्थापित हो चुकी हैं कि उन पर व्यक्तिगत विचारों का बहुत प्रभाव नहीं डाला जा सकता है।

मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियां परस्पर पूरक हैं– सरकार की आर्थिक नीति के उपकरणों के रूप में मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियां परस्पर पूरक हैं जबकि मौद्रिक नीति मुद्रा के परिणाम एवं बैंकों से प्राप्त होने वाले ऋणों की ब्याज दर (साख मुद्रा की लागत) में परिवर्तनों के द्वारा अर्थव्यवस्था में कुल आय एवं व्यय के स्तरों को प्रभावित करती है। राजकोषीय नीति सरकारी व्यय एवं आय के आकार, संरचना एवं समय निर्धारण के द्वारा अर्थव्यवस्था में कुल आय एवं व्यय को प्रभावित करती है। आर्थिक विकास के लिए

टिप्पणी

मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों का प्रयोग आवश्यक है। प्रो. मुंडेल के अनुसार, 'राजकोषीय नीति का प्रयोग आंतरिक स्थिरता तथा मौद्रिक नीति का प्रयोग बाहरी स्थिरता के लिए किया जाना चाहिए। दोनों नीतियां एक दूसरे की पूरक हैं, इसलिए अर्थव्यवस्था में आर्थिक विकास एवं आर्थिक स्थिरता को प्राप्त करने के लिए इन दोनों स्थिरीकरण यंत्रों के बीच समन्वय स्थापित करना आवश्यक है।

मुद्रा स्फीति के समय में आर्थिक स्थिरता की प्राप्ति प्रभावी ढंग से एवं तात्कालिक रूप में तभी की जा सकती है जब वेशी वाले सरकारी बजट की नीति महंगी मुद्रा की नीति के साथ-साथ प्रयुक्त की जाती है। इसके विपरीत मंदी के समय में अर्थव्यवस्था में तात्कालिक सुधार हेतु घाटे के बजट एवं सस्ती मुद्रा नीति का संयोग होना चाहिए। इस प्रकार तात्कालिक आर्थिक स्थिरता की प्राप्ति के लिए दोनों स्थिर कारक उपकरणों का प्रभावी समायोजन आवश्यक है। अमेरिका में आर्थिक विकास समिति के प्रतिनिधि जे केमरन टॉम्सन ने डगलस उपसमिति के समक्ष अपनी गवाही में आर्थिक स्थिरता को प्राप्त करने हेतू मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों के महत्व को अग्रलिखित शब्दों में व्यक्त किया था – 'राजकोषीय मौद्रिक एवं ऋण नीतियां किसी भी उक्त अर्थव्यवस्था में अस्थिरता की समस्या का निदान करने हेतू उपयुक्त साधन है। आर्थिक स्थिरता की समस्या मूलतः उन शक्तियों की समस्या है जो अर्थव्यवस्था के सभी परिवारों को प्रभावित करती है। समस्या का प्रारंभ तब होता है जब अर्थव्यवस्था में करोड़ों मजदूर एक साथ बेरोजगार हो जाते हैं अथवा जब सामान्यतः (संघीय असमान रूप में) अधिकांश कीमतों में वृद्धि हो जाती है। राजकोषीय, मौद्रिक एवं ऋण नीतियों का यह लाभ है कि ये सरकार का सभी शक्तियों, विशेष रूप से कुल मांग के स्तर को अर्थव्यवस्था के विशेष अंगों को नियंत्रित किये बिना ही प्रभावित करने का अवसर प्रदान करती है। ये शक्तियां अर्थव्यवस्था में स्थिरता का निर्धारण करती है। ये समस्त उपाय विभिन्न शक्तियों तथा व्यवसायों को पृथक रूप में प्रभावित करेंगे, परंतु इन अंतरों का निर्धारण राज्य के द्वारा किया जाता है।

उपचारात्मक उपाय

सरकार ने विकट राजकोषीय स्थिति से उबरने के लिए अनेक उपाय अपनाए तथा उसने प्रभावी राजकोष प्रणाली विकसित की–

1. **प्रगति के लिए संकट प्रबंधन :** प्रारंभिक चरण में जब जुलाई 1991 में देश भुगतानों में असंतुलन के अभूतपूर्व संकट से जूझ रहा था, तब वर्ष 1991-92 का बजट-निर्धारण अपने आप में एक बहुत बड़े युद्ध-रक्षात्मक कार्य जितना था। मूल्य अत्यधिक घटाने के अतिरिक्त बजट में बड़े आर्थिक स्थिरीकरण उपाय अपनाए गए तथा औद्योगिक एवं व्यापार नीतियों में संरचनात्मक सुधार किये गए। सरकार द्वारा भारत विकास बॉण्ड्स लाए गए जिनका लक्ष्य निधियों के स्रोत जुटाना था। द्वितीय चरण में सरकार ने कर-सुधार की प्रक्रिया शुरु की एवं वह राजकोषीय संतुलन की ओर बढ़ा। रुपया को आंशिकरूपेण परिवर्तनीय बनाया गया। लगभग सभी आयातों को अनुज्ञप्तिविहीन (डिलायसेन्स्ड) कर दिया गया। तृतीय चरण में दो महत्वपूर्ण पद उठाए गए- रुपया को व्यापार के लिए पूर्णतया परिवर्तनीय बना दिया गया एवं परोक्ष कर में भारी कटौती की गई। चतुर्थ चरण में कॉर्पोरेट क्षेत्र के लिए कर-दरें घटा दी गईं। पूंजी उत्पादों के निर्यात से सीमा-शुल्क भी घटाये

गए। चालू (करेंट) खाते पर रुपया को पूर्णतः परिवर्तनीय कर दिया गया। अर्थव्यवस्था को प्रगति-पथ पर लाने के लिए इन उपायों की अपेक्षा थी।

टिप्पणी

2. **व्यय घटाना :** व्यय को घटाने के भी प्रयास किये गए। परिणामतया कुछ सुधार आया। सकल घरेलू उत्पाद के अनुपात में कुल व्यय सन् 1990 के आरंभ में 16 प्रतिशत से आने वाले वर्ष में 15 प्रतिशत हो गया। कुल व्यय के दो अवयवों गैर योजना व्यय एवं योजना व्यय में से गैर योजना व्यय में कोई कमी नहीं दिखी, वह सन् 1990 के आरंभ से सकल घरेलू उत्पाद के लगभग 11 प्रतिशत पर रहा। वैसे इससे इस व्यय के 90 प्रतिशत भाग पर दबाव पड़ रहा था, यह ऐसी पूर्व-प्रतिबद्ध वस्तुओं पर रक्षात्मक कठोर व्यय बना रहा, जैसे- आंतरिक सुरक्षा, वेतल पेंशन इत्यादि। इसीलिए गैर वेतन वस्तुओं को घटाने के प्रयास किये गए। इन प्रयासों से कुछ ही समय बाद परिणाम दिखेंगे।
3. **राजस्व बढ़ाना :** घाटों को घटाने के लिए व्यय में धीमी वृद्धि करने के अतिरिक्त प्रयासों का लक्ष्य राजस्व के क्षेत्र में सरकार की आय बढ़ाना है। इस निमित्त कर-राजस्व के लिए कर आधार बढ़ाने के प्रयास किये गए। एक उपाय के अंतर्गत छोटे दुकानदारों व अन्य खुदरा व्यापारियों द्वारा भुगतान-योग्य प्रकल्पित (अनुमानित) कर आजमाया गया। अन्य उपाय का लक्ष्य शहरों में करदाता लोगों में कर-आधार बढ़ाना था, जिनके पास टेलिफोन, फ्लैट, चौपहिया वाहन इत्यादि हों। फिर अगले उपाय में टेलिफोन, दलाली (ब्रोकरेज) इत्यादि जैसी सेवाओं पर कर लगाया गया (वर्ष 1994-95 के आरंभ में)। इन प्रयासों को करने के अतिरिक्त कर-दरों को घटाते हुए करों के भुगतान के प्रति लोगों को प्रेरित भी किया गया था।

उपायों के लाभ/प्रभाव

राजकोषीय नीति के कामों को निम्न प्रकार से समझाया गया है-

- जुलाई 1991 से अपनाए गए राजकोषीय उपायों से कुछ महत्वपूर्ण संदर्भों में अर्थव्यवस्था को लाभ पहुंचने की संभावना थी। यह अपेक्षा मुख्यरूपेण मुद्रा स्फीति, भुगतानों के संतुलन, उन्नति व रोजगार के परिदृश्य में होगी। कीमत की स्थिति पर अनुकूल प्रभाव तो पड़ना ही था। आयात शुल्कों में बड़ी कटौतियों एवं उत्पादन-शुल्क वसूलियों से भी मुद्रा स्फीति की दर घटी। परिणाम में वृद्धि हुई, मुद्रा स्फीति की दर घटने के लिए उदारीकरण की नीति उत्तरदायी है। मुद्रा स्फीति की दर (जो दो अंकों के स्तर पर थी) एक अंक पर आ गई तथा कुछ वर्षों के लिए 3 प्रतिशत के स्तर पर रही।
- ऊपर बताए राजकोषीय उपायों से भी तात्कालिक रूप से एवं उसके अनेक वर्षों बाद भुगतानों के संतुलन में घाटा घटा। अल्पावधि में ऐसा अधिक हुआ क्योंकि आयातों में वृद्धि-दर में कमी आयी। शासकीय व्यय में धीमी वृद्धि से भी अर्थव्यवस्था में संयुक्त मांग घटी।
- रुपया का मूल्य घटने एवं बाजार में विदेशी मुद्राओं की वर्तमान उच्च विनिमय दर से रुपयों में आयात महंगा हो गया एवं आयातों की वृद्धि कम हुई।

- अधिक विदेशी विनिमय की उपलब्धता के कारण भी भुगतान का घाटा संतुलन घट गया। निवेश के लिए विदेशी निधियों के सरल प्रवेश से भी बाहर से निवासी भारतीयों को विदेशी विनिमय (धनप्रेषण) के संदर्भ में नियमों का शिथिलन होने से विदेशी विनिमय की आपूर्ति बढ़ी। इसी प्रकार अनेक प्रोत्साहनों सहित भारत विकास बॉण्ड्स के इश्यू ने अनिवासी भारतीयों से विदेशी विनिमय को काफी आकर्षित किया।

राजकोषीय नीति सुधार

बड़ी आर्थिक स्थिरता के साथ 8–10 प्रतिशत की टिकाऊ वार्षिक बढ़त पाने के लिए नीति ढांचे में राजकोषीय नीति एक निर्णायक अवयव है। उच्च घाटे, अनुत्पादक व्यय एवं कर विरूपण ने अर्थव्यवस्था की पूर्ण वृद्धि संभावना को निखरने से रोक लिया। गत दशक में भारत ने सार्वजनिक वित्त के मध्यकालिक नियंत्रण में मुख्य परिवर्तन देखे हुए हैं। वैसे प्रगति एकरूप नहीं रही तथा हाल ही में मध्यकालिक लक्ष्यों से कुछ विचलन हुआ है।

राजकोषीय समेकन

उच्च एवं बढ़ते सार्वजनिक ऋण से प्रतिक्रिया करते हुए राजकोषीय दायित्व एवं बजट प्रबंधन अधिनियम (FRBMA) को सन् 2003 में लाया गया। 5 जुलाई 2004 को अधिनियम प्रभाव में आया। इस अधिनियम की मुख्य विशेषताएं निम्नांकित हैं–

- इस अधिनियम के तहत राजकोषीय घाटे व राजस्व घाटे, आकस्मिक देयताओं व कुल देयताओं की कटौती के वार्षिक लक्ष्य निर्धारित करने के लिए नियम बनाए जाने थे।
- राजस्व घाटा एवं राजकोषीय घाटा नियमों में प्रदर्शित लक्ष्यों से केवल राष्ट्रीय सुरक्षा अथवा राष्ट्रीय आपदा अथवा ऐसे अन्य अपवादात्मक आधारों पर ही बढ़ सकता है जिन्हें कि केंद्र सरकार द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है।
- भारतीय रिजर्व बैंक केंद्र सरकार की वर्ष 2006–07 की मूल प्रतिभूतियों का अनुमोदन नहीं करेगा।
- केंद्र सरकार द्वारा हर वित्तवर्ष संसद के दोनों सदनों से पूर्व जनसाधारण में ये तीन विवरण रखे जाने हैं- मध्यकालिक राजकोषीय नीति विवरण, राजकोषीय नीति रणनीति विवरण एवं बृहत् आर्थिक ढांचागत विवरण; ये विवरण वार्षिक वित्तीय विवरण एवं अनुदानों हेतु मांगों के अतिरिक्त हैं।
- केंद्र सरकार भारतीय रिज़र्व बैंक से उधारी नहीं करेगा, अपवादस्वरूप नगद प्राप्तियों के नगद संवितरणों की अस्थायी अति की पूर्ति के लिए अग्रिम (एड्वांसेस) के अतिरिक्त।
- केंद्र सरकार उपयुक्त उपाय अपनाएगा ताकि उसके राजकोषीय कार्यकलापों में अधिक पारदर्शिता सुनिश्चित हो।

इस अधिनियम में बजट घाटे की विभिन्न अवधारणाओं के लिए लक्ष्यनिर्धारण की क्रियाविधि का उल्लेख है तथा अपनी राजकोषीय नीति को सार्वजनिक करने के लिए संसद में दस्तावेजों की शृंखला प्रस्तुत किये जानी की आवश्यकता सरकार को है एवं साथ ही

टिप्पणी

वार्षिक लक्ष्य-पूर्ति में हुई प्रगति की समीक्षा की त्रैमासिक रिपोर्ट भी प्रस्तुत की जानी है। अधिनियम में उल्लेख है कि केंद्र सरकार की बजटरी प्रक्रिया में दो मुख्य अवधारणाओं के लिए लक्ष्यों को निर्धारित किया जाना है: राजस्व घाटा एवं सकल राजकोषीय घाटा। अधिनियम में एकमात्र उल्लिखित लक्ष्य यह था कि मार्च 2008 तक राजस्व घाटे को समाप्त कर दिया जाए तथा तदुपरांत पर्याप्त राजस्व अधिशेष तैयार किया जाए। घाटे में कमी के लिए सरकार ने वार्षिक पथ निर्धारित करते हुए विनियम जारी किया है।

वार्षिक लक्ष्यों को निर्धारित करने व राजकोषीय नीतियों का ढांचा बनाने के लिए केंद्र सरकार द्वारा विजय केल्कर की अगुआई में एक कार्यबल गठित किया गया। क्रियान्वयन किये गए कुछ महत्वपूर्ण राजकोषीय उपाय रहे : सीमा-शुल्कों की शीर्ष-दरों को घटाना; विसंगतियों को सुधारना; नॉन-कास्केडिंग करने के लिए राज्यस्तरीय VAT लाना; स्व-प्रवर्तनी एवं समंजित वस्तु कराधान प्रणाली।

राजकोषीय दायित्व एवं बजट प्रबंधन अधिनियम (FRBMA) के तहत राजकोषीय नीति का जोर राजस्व वाले राजकोषीय समेकन पर रहा, व्यय परिणामों को बेहतर करने, विडंबनाओं को हटाने के लिए कर-व्यवस्था को तर्कसंगत बनाने, वैश्वीकृत आर्थिक परिवेश में घरेलू उत्पादों व सेवाओं की द्वंद्विता उन्नत करने पर ध्यान केंद्रित किया गया। FRBM नियमों में बताए अनुसार राजकोषीय समेकन की दिशा में केंद्र सरकार बढ़ता रहा; केंद्र सरकार के इन प्रयासों को राज्यों द्वारा संपूरित किया गया जिससे बारहवें वित्त आयोग अनुमोदन की दिशा में समेकन की प्रक्रिया शुरु हुई। FRBMA के प्रारंभिक चार वर्षों के दौरान महत्वपूर्ण प्रगति हुई- राजस्व घाटा सकल घरेलू उत्पाद का 0.6 प्रतिशत घट गया। सन् 2010-2011 बजट में केंद्र सरकार का राजस्व घाटा 2,76,512 करोड़ पर था जो कि सकल घरेलू उत्पाद का 4.9 प्रतिशत था। ज्यों ही पूंजी परिव्यय एवं शासकीय वित्तपोषण सकल घरेलू उत्पाद से थोड़ा बढ़ा, त्यों ही राजकोषीय घाटा नीचे आ गया एवं सकल घरेलू उत्पाद का ढाई प्रतिशत हो गया, जो कि अधिनियम के मूल लक्ष्य के निकट था।

FRBMA को लाए जाने के अगले वर्ष में अधिकांश राज्य सरकारों ने राजकोषीय दायित्व विधि (कानून) का निर्माण किया जिनसे उनका घाटा 'सकल राज्य उत्पाद' (GSP) के 3 प्रतिशत तक घट गया। राज्यों में औसत सकल राजकोषीय घाटा सन् 2002 में 2.9 प्रतिशत से घटकर सन् 2007 में सकल राज्य उत्पाद के 1.7 प्रतिशत पर आ गया। सरकार के दोनों स्तरों का समूचा घाटा सन् 2007 में सकल घरेलू उत्पाद के 5 प्रतिशत पर आ गया। यह केंद्र एवं राज्य सरकारों के घाटों के लिए एक संयुक्त लक्ष्य था। सन् 2002 व 2007 के मध्य घाटे में कमी प्रमुखत: कॉर्पोरेट क्षेत्र के विस्तार के कारण आयी, जिससे कॉर्पोरेट कर प्राप्तियां बढ़ीं व सेवाओं पर नये कर लगाए गए, इनसे भी कर आधार बढ़ा। FRBMA के आने के बाद केंद्र सरकार के घाटों में हुए परिवर्तन अग्रांकित सारणी में प्रदर्शित हैं–

टिप्पणी

केंद्र सरकार के घाटों में परिवर्तन

वर्ष	राजस्व घाटा	प्राथमिक घाटा	राजकोषीय घाटा
2003-04	3.6	0.0	4.5
2004-05	2.5	-0.1	3.9
2005-06	2.6	0.4	4.0
2006-07	1.9	-0.2	3.3
2007-08	1.1	-0.9	2.5
2008-09	4.5	2.6	6.0
2009-10	5.1	3.1	6.3
2010-11	4.0	1.7	4.8

राजकोषीय संयम की अवधि का समापन सन् 2008 में किया गया। वैश्विक उन्नति से ऊर्जा व वस्तु कीमतें बढ़ने के कारण घरेलू कारणों से भारत सरकार ने सार्वजनिक व्यय को स्पष्टतया बढ़ा लिया। दिसंबर 2008 में निर्माण–उत्पादों पर परोक्ष कर–दर 16 प्रतिशत से घटकर 12 प्रतिशत पर आ गई। तत्पश्चात सन् 2009 में उसमें दो प्रतिशत बिंदुओं की और कटौती हुई तथा सेवा कर भी दो प्रतिशत बिंदु घटा दिया गया था, दोनों 10 प्रतिशत पर आ गए। इन दो कटौतियों ने सकल घरेलू उत्पाद के डेढ़ प्रतिशत को घटा दिया। सन् 2009 में केंद्र सरकार घाटे को सकल घरेलू उत्पाद के लगभग 8 प्रतिशत तक लाने के लिए संयुक्त प्रयास किये गए। सार्वजनिक व्यय को भी वर्ष 2009 व 2010 में राज्य स्तर पर लाया गया। व्यय में वृद्धि काफी मद्धम रही एवं समेकित राज्य सकल राजकोषीय घाटा सकल घरेलू उत्पाद के 3 प्रतिशत पर सकल घरेलू उत्पाद का डेढ़ प्रतिशत ही बढ़ा। संयुक्त केंद्र एवं राज्य सरकार घाटा सन् 2009 में समूचे सकल घरेलू उत्पाद के 11 प्रतिशत पर पहुंचा।

घाटा घटाने की नयी शुरुआत : सन् 2010 में सरकार ने राजकोषीय समेकन को पुनः शुरू करने एवं सन् 2014 तक सकल घरेलू उत्पाद के ढाई प्रतिशत तक केंद्र सरकार सकल राजकोषीय घाटे को घटाने के अपने इरादे की घोषणा की। उसने यह भी घोषणा की कि उसका उद्देश्य अनुदानों हेतु भुगतान करने के लिए ऑफ–बजट वित्तपोषण के प्रयोग को समाप्त करना है। सन् 2010 के लिए सरकार ने अनुदानों के संबंध में कठोर नीति सहित सिविल सेवकों को बकाया वेतन के भुगतान के अभाव पर आधारित सकल घरेलू उत्पाद के 1.75 प्रतिशत तक व्यय घटाने की योजना बनायी। सकल घरेलू उत्पाद से आपेक्षिकरूपेण कर राजस्व के काफी स्थिर रहने की प्रत्याशा थी किंतु वायरलेस स्पेक्ट्रम की बिक्री बंद करके कमी पूरी की गई। इन कारकों के एक साथ होने से सकल घरेलू उत्पाद के 3 प्रतिशत तक सकल राजकोषीय घाटा घट जाने की प्रत्याशा की गई।

सन् 2011 के लिए सरकार द्वारा सकल घरेलू उत्पाद के 4.6 प्रतिशत तक घाटे में और कटौती करने की योजना बनायी जा रही है। इसने वर्ष 2012 एवं 2013 में सकल घरेलू उत्पाद के क्रमशः 4.1 प्रतिशत एवं 3.5 प्रतिशत का रोलिंग लक्ष्य भी निर्धारित किया है। सरकार को निकट भविष्य में सकल घरेलू उत्पाद से कुछ तीव्रता पर कर राजस्व बढ़ने की अपेक्षा है। केंद्रीय सीमा–शुल्क दर को 10 प्रतिशत पर रखा गया था। परोक्ष कर से छूट प्राप्त वस्तुओं की संख्या घटा दी गई। वर्तमान व्यय वृद्धि को 4 प्रतिशत तक स्पष्टतः मंद रखने की अपेक्षा है, मुद्रा स्फीति से सर्वथा संभवतया धीमी, बाद में सन् 2010 में वृद्धि 15 प्रतिशत की हुई।

नवीन राजकोषीय नीति

गंभीर बजटरी स्थितियों से जूझ रहे सरकार ने नवीन राजकोषीय नीति बनायी जो राजकोषीय असंतुलन से डट कर निपट सकती थी व बजटरी परिदृश्य को सुदृढ़ कर सकती थी। इस नवीन राजकोषीय नीति में दो मूलभूत अवयव हैं: निर्धारण एवं क्रियान्वयन के लिए उद्देश्य व उपाय।

टिप्पणी

निर्धारण एवं उद्देश्य

नवीन राजकोषीय नीति का उद्देश्य टिकाऊ साम्य लाना है जो अर्थव्यवस्था के बाजार-उन्मुखी विकास को प्रेरित करे।

1. **राजकोषीय साम्य की पुनर्स्थापना :** सरकारी प्रयासों की अतिमहत्तापूर्ण विशेषता पूंजी व्यय के लिए राजस्व भाग पर अधिशेष को सुरक्षित करने के अंतिम लक्ष्य के साथ राजस्व प्राप्तियों एवं राजस्व व्यय के मध्य मिलान करना है। इस छोर की ओर तीन प्रकारों के उपाय किये गए हैं—
   (क) गैर योजना व्यय को काफी सीमा तक काटा जाना है।
   (ख) व्यापक आधार पर कर की मध्यमरूपेण कम दरों द्वारा नीति अब बड़ी कर-प्राप्तियों की दिशा में जाएगी।
   (ग) सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र उपक्रम में लाभ बढ़ाने के लिए प्रयास किये हैं। घाटा उठा रहे उद्यमों को बहाल या बंद किया जाना है।
2. **कर-संरचना सुधार :** कर-चोरी घटाने की संभावना बढ़ाने व बेहतर अनुपालन सुनिश्चित करने के लिए सरकार ने प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों करों के संदर्भ में कर-दर घटायी है। कर के आधार को बढ़ाने के लिए भी उसी समय योजनाएं (स्कीम्स) लायी गई हैं। कर एवं कर के आधार को बढ़ाने से अधिक कर हो जाएंगे। अर्थव्यवस्था की आय एवं गतिविधियों में प्रगति के साथ कर-प्राप्तियों में वृद्धि होगी। नवीन कर-प्रणाली से घरेलू कर-दर एवं विदेशों में कर-दर के मध्य अंतर घटेगा। इससे वैश्विक अर्थव्यवस्था से भारतीय अर्थव्यवस्था को एकीकृत करने में सहायता हो जाएगी।
3. **सामाजिकरूपेण वांछनीय गतिविधियों को प्रेरित करना :** अपनी नवीन राजकोषीय नीति में सरकार ने सामाजिकरूपेण महत्वपूर्ण क्षेत्रों के विस्तार हेतु बड़े व्यय, कर रियायतें एवं अन्य प्रोत्साहन प्रदान किये हैं। अधोसंरचना का विकास सामान्यतः सरकार का दायित्व है। अधोसंरचनात्मक सेवा की आपूर्ति के पर्याप्त होने को सुनिश्चित करने के लिए विद्युत जैसे कुछ क्षेत्रों में निजी क्षेत्र-भागीदारी लाने के लिए अनेक प्रोत्साहन बढ़ाए गए हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य, जनसंख्या नियंत्रण, कौशल निर्माण इत्यादि के संदर्भ में सुविधाओं के विस्तार के माध्यम से मानव-पूंजी के उन्नयन के लिए बड़े परिमाण में संसाधनों को चिह्नित किया गया है। ग्राम्य विकास को भी उच्च प्राथमिकता दी गई है। सरकार ने राज्य-हस्तक्षेप के बड़े भाग को पहले से ही हटा दिया है एवं निजी क्षेत्र के लिए कार्यक्षेत्र को बढ़ा दिया है। निजी क्षेत्र में कर-रियायतों को लाकर व कर-दर घटाते हुए धन-प्रोत्साहन प्रदान करते हुए राजकोषीय नीति द्वारा इस

टिप्पणी

प्रक्रिया को आगे ले जाया जा रहा है। बाजार में आपूर्ति में बंधनों को भी अनेक राजकोषीय उपायों के द्वारा सरल कर लिया गया है। घरेलू उत्पादन को आधुनिकीकृत करने के लिए पूंजी उत्पादों के आयात पर सीमा-शुल्कों के कटौती ऐसा ही एक उपाय है जिससे उत्पादों व सेवाओं की आपूर्ति बढ़ायी जा सके। उपभोक्ता उत्पादों परोक्ष कर की दरों को घटाने से वृद्धि प्रारूप प्रोत्साहित होगा एवं उपभोक्ता उत्पाद उद्योग विस्तारित होंगे। परोक्ष कर घटाने के फलस्वरूप कीमत घटेगी एवं इससे मांग बढ़ेगी।

FRMBA की समाप्ति के साथ ही अब राजकोषीय नीति के नये ढांचागत कार्य की आवश्यकता है। केंद्र सरकार ने घोषणा की है कि इसका उद्देश्य सन् 2012 तक सकल घरेलू उत्पाद के 4.1 प्रतिशत तक एवं बाद के वर्ष में साढ़े तीन प्रतिशत तक उसके सकल राजकोषीय घाटे को घटाना है।

अपनी प्रगति जांचिए

7. निम्न में से कौन सी नीति से जनता प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होती है?

   (क) सरकार की मौद्रिक नीति (ख) सरकार की वाणिज्य नीति

   (ग) सरकार की मुद्रा बचत नीति (घ) सरकार की राजकोषीय नीति

8. भारत में कौन राजकोषीय नीति निर्धारित करता है?

   (क) योजना आयोग (ख) वित्त आयोग

   (ग) वित्त मंत्रालय (घ) भारतीय रिजर्व बैंक

9. निम्न में से कौन–सा उपकरण राजकोषीय नीति का नहीं है?

   (क) ब्याज दर (ख) करारोपण

   (ग) सार्वजनिक व्यय (घ) सार्वजनिक ऋण

2.5 हीनार्थ प्रबंधन

कोई सरकार जब अपने बजट में आमदनी से अधिक खर्च का प्रावधान करती है तो उसे हीनार्थ प्रबंधन यानी घाटे का बजट कहते हैं। जब सरकार के पास लोक कल्याणकारी कार्यों को बढ़ावा देने के लिए पर्याप्त धन नहीं होता है तो सरकार ऐसा ही बजट पेश करती है।

किसी भी देश का मुख्य उद्देश्य निरंतर विकास करना होता है। इसके लिए सबसे जरूरी संसाधनों का प्रबंधन करना होता है। लेकिन निजी क्षेत्र भारी खर्च करने से कतराती है, क्योंकि इनका मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना होता है।

भारत में घाटे का बजट पेश करने के कारण

भारत में घाटे के बजट को निम्न कारणों से पेश किया जाता है–

भारत एक कल्याणकारी राज्य है। यहां सरकार का मुख्य उद्देश्य हमेशा लोगों के कल्याण को बढ़ाना होता है, लेकिन भारत सरकार के पास कल्याणकारी योजनाओं को

टिप्पणी

शुरू करने और अच्छे बुनियादी ढांचे को विकसित करने के लिए प्रचुर मात्रा में पैसा नहीं है, ऐसी हालत में सरकार को घाटे की वित्त व्यवस्था का सहारा लेना पड़ता है।

1. **आर्थिक मंदी से निपटने के लिये** : सर्वप्रथम जे.एम. कीन्स ने मंदी के निपटने के लिये घाटे के वित्त का सुझाव दिया था। कीन्स का कथन था कि– "बेरोजगारी को समाप्त करने के लिये भी इसका उपयोग किया जाए तथा मंदी के समय काम नहीं होने पर भी सरकार लोगों से कुएं खोदने और उन्हें भरने का ही काम ले।"
2. लोक कल्याणकारी अवधारणा ने राज्य के ऊपर अनेक सामाजिक कार्यों का बोझ डाल दिया है जिसके लिये वित्तीय स्रोतों की भारी कमी है अतः घाटे के वित्त का सहारा लिया जाता है।
3. विकासशील देशों ने अपने आर्थिक विकास के लिये धन जुटाने के लिये घाटे के वित्त का बहुत अधिक इस्तेमाल किया है।
4. युद्ध, आतंकवाद, आदि से निपटने के लिये सरकारों के वित्तीय स्रोत कम पड़ जाते हैं जिसे घाटे के वित्त से ही पाटा जा सकता है।

समूचे बजट घाटे का मापन राजस्व व पूंजी खातों को एक साथ लेकर व्यय एवं प्राप्तियों के मध्य अंतराल द्वारा किया जाता है। हीनार्थ वित्त-पोषण द्वारा इस अंतराल को भरने के लिए भारत सरकार द्वारा ट्रेजरी बिल्स के इश्यू पर भारतीय रिज़र्व बैंक से उधार लिया जाता है। जब भारत सरकार भारतीय रिज़र्व बैंक से उधार लेता है तो भारतीय प्रतिभूतियों के आधार पर बैंक द्वारा अधिक नोट्स जारी किये जाते हैं एवं सरकार के पक्ष में उनका मुद्राचलन कर दिया जाता है।

विकासशील अर्थव्यवस्था में जब घरेलू व बाह्य स्रोतों से सार्वजनिक क्षेत्र योजना के लिए पर्याप्त संसाधनों को जुटाने में सरकार विफल रहता है तो घाटे से उबरने के लिए संसाधन आवश्यक हो जाते हैं। वैकल्पिकरूपेण सरकार द्वारा योजना के आकार को कम किया जा सकता है तथा उससे निवेश्य निधियों की मांग घट जाएगी। इससे उन्नति पर गंभीर प्रभाव पड़ेगा।

विकसित अर्थव्यवस्था में मंदी के दौर के दौरान हीनार्थ प्रबंधन उपयोगी भूमिका निभा सकता है। इस अवस्था के दौरान व्यय का स्तर बहुत निचले स्तर पर चले जाता है तथा बैंकों व जनसाधारण द्वारा निवेश का जोखिम उठाने की इच्छा नहीं जताई जाती। मशीनरी एवं उपकरण सबके होते हुए भी मांग में कमी के कारण उत्पादन स्तर बहुत कम रहता है। सरकार द्वारा यदि घाटे से उबरने के लिए वित्त-पोषण के माध्यम से अर्थव्यवस्था में अतिरिक्त क्रय-शक्ति का प्रयास किया जाए तो प्रभावी मांग का स्तर बढ़ता है। इस मांग की पूर्ति हेतु अब तक अनुपयोगी रखी मशीनरी एवं उपकरण संचालन में आ जाएंगे।

ये स्थितियां अविकसित देशों में भिन्न होती हैं। इन देशों में पूंजी व उपकरण नहीं हैं। नवनिर्मित धन-संपदा से जनता के हाथों की क्रय-शक्ति में तात्कालिक वृद्धि होती है किंतु उत्पादों के उत्पादन में उसी समय वृद्धि नहीं होती। अतिरिक्त क्रय-शक्ति की उत्पत्ति एवं अतिरिक्त उपभोक्ता उत्पादों की उपलब्धता के मध्य समय-अंतराल रहता है। इसके परिणामस्वरूप कीमत स्तर बढ़ता है। जन-समुदाय की निर्धनता के कारण उनके खाद्य उपभोग स्तर बहुत कम रहते हैं। आय के बढ़ने के सापेक्ष वे खाद्य

टिप्पणी

वस्तुओं पर अधिक व्यय करते हैं। वैसे अल्पकाल में खाद्य वस्तुओं की आपूर्ति में वृद्धि कठिन है। फलस्वरूप खाद्य वस्तु की कीमत बढ़ती है। विकासशील देशों में खाद्य वस्तुओं की कीमत दूसरे उत्पादों की कीमतों के लिए एक प्रकार का संकेत होती हैं जिससे उनकी कीमतें भी बढ़ने लगती हैं। वस्तुओं के उपभोग में रुझान बढ़ने से हीनार्थ प्रबंधन पर मुद्रा स्फीतिक प्रभाव पड़ता है क्योंकि बढ़ी आय के बहुत भाग को उपभोग पर व्यय कर दिया जाता है। इस प्रकार निकट भविष्य में उपभोक्ता उत्पादों में वृद्धि एवं मुद्रा स्फीति से अवश्यंभावी निश्चित परिणाम प्राप्त होंगे। अविकसित देशों में हीनार्थ प्रबंधन के सहयोग के समय कुछ अर्थवेत्ताओं का तर्क रहता है कि इन देशों में बड़े पैमाने पर बेरोजगारी के कारण हीनार्थ प्रबंधन से मुद्रा स्फीतिक प्रभाव पड़ने की संभावना नहीं रहती। कुछ अर्थ वेत्ताओं के अनुसार यदि हीनार्थ प्रबंधन से मुद्रा स्फीतिक प्रभाव पड़ रहा हो तो इसमें तब तक कोई ख़तरा नहीं जब तक कि मुद्रा स्फीतिक दबाव हल्के रहें। वास्तव में हल्की मुद्रा स्फीतिक परिस्थिति में लाभ बढ़ाने की अपेक्षा के साथ उत्पादकों के लिए प्रोत्साहन रहते हैं जिससे उत्पादन का स्तर बढ़ता है एवं अर्थव्यवस्था में निरर्थक रही पूंजी व श्रम का उपयोग होता है। इस परिस्थिति को 'कीमत में क्रियात्मक वृद्धि' कहते हैं, जो कि उत्पादन क्षेत्र में विस्तार को प्रेरित करने के लिए आवश्यक है।

भारत में हाल ही के वर्षों में अत्यधिक हीनार्थ प्रबंधन किया गया है क्योंकि सरकार ने बढ़ते सार्वजनिक व्यय की पूर्ति के लिए इसे अत्यंत सरल विधि समझा है- बस अधिक मुद्रा मुद्रित करों व उसे मुद्रा चलन में ले आओ। सन् 1980 में गैर विकास व्यय के बढ़ रहे बोझ के कारण राजकोषीय स्थिति बिगड़ती चली गई एवं वर्ष 1991-92 के आरंभ में संकट उत्पन्न हो गया। सन् 1980 में राजकोषीय असंतुलन के सभी मुख्य संसूचकों से यही स्पष्ट हुआ कि वह बढ़ रहा था। राजकोषीय स्थित पर पूरे दशक सन् 1980-81 से 1990-91 तक की दीर्घावधि दबाव बढ़ता रहा। इस अवधि में केंद्र सरकार का सकल राजकोषीय घाटा चिंताजनक रूप में बढ़ा। ऐसी परिस्थिति में आवश्यक तात्कालिक सुधारात्मक उपाय आजमाना जटिल हो गया था। संचित ऋणों पर ब्याज भुगतान केंद्र सरकार के कुल राजस्व व्यय का 29 प्रतिशत भाग है। वास्तव में सन् 1990-91 में ब्याज भुगतान के कारण केंद्र सरकार ने कुल राजस्व संग्रहण का 39.1 प्रतिशत खो दिया। राजकोषीय असंतुलन के मुख्य कारक है ब्याज भुगतान बढ़ना जारी रहे। इस परिस्थिति के कारण सरकार भविष्य में ऋण-जाल में फंस सकता है।

अपनी प्रगति जांचिए

10. हीनार्थ प्रबंधन का अर्थ है
    (क) विदेशी सहायता पर आश्रित   (ख) विदेशों से उधार लेकर व्यय करना
    (ग) आय से अधिक व्यय करना   (घ) इनमें से कोई नहीं
11. केंद्र सरकार ने सन् 1990–91 में ब्याज भुगतान के कारण कितने प्रतिशत कुल राजस्व संग्रहण खो दिया
    (क) 30.1 प्रतिशत   (ख) 32.5 प्रतिशत
    (ग) 39.1 प्रतिशत   (घ) 42.1 प्रतिशत

2.6 केंद्र–राज्य वित्तीय संबंध

टिप्पणी

एकात्मक अथवा संघीय सरकार व्यवस्था के आधार पर किसी देश की वित्त व्यवस्था के दो भाग हो सकते हैं–

1. एकात्मक वित्त
2. संघीय वित्त

एकात्मक तथा संघीय वित्त व्यवस्था मुख्यतः इस स्तर पर भिन्न है कि एकात्मक सरकार में केंद्र सरकार ही देश की अर्थव्यवस्था में सभी मदों पर व्यय का भार उठाती है तथा साधन व गैर-साधन आय भी उसी के पास आते हैं जबकि संघीय वित्त व्यवस्था में केंद्र तथा राज्य सरकारें आय तथा व्यय की मदें आपस में बांट लेती हैं। स्थानीय सरकार भी अपना दायित्व निभाती हैं। सरकार के तीनों स्तर स्वतंत्र रूप से अपना दायित्व निभाते हैं। सरकार के तीनों स्तर स्वतंत्र रूप से अपनी आय तथा व्यय की मदों के अनुसार कार्य करते हैं। भारत की वित्त व्यवस्था भी संघीय वित्त व्यवस्था है, जिसकी प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं–

1. सांविधानिक नियमों के अंतर्गत केंद्र, राज्यों एवं स्थानीय सरकारों के बीच व्यय की मदें तथा आय के साधन बांट दिए जाते हैं। संविधान में सभी सरकारों के कार्यक्षेत्र एवं अधिकार को भी स्पष्ट किया गया है।
2. केंद्र तथा राज्य अपने आय और व्यय के साधनों का अपनी स्थिति के अनुरूप प्रयोग करते हैं। राज्य अपनी आवश्यकतानुसार केंद्र सरकार से अनुदान के रूप में आर्थिक सहायता प्राप्त करते हैं।
3. राज्य सरकारें स्वतंत्र रूप से अपनी सरकार चलाती हैं परंतु केंद्र सरकार के दिशा निर्देशों के अनुसार राज्यों को यह स्वतंत्रता नहीं होती कि वे स्वेच्छा से केंद्र सरकार से अलग हो जाएं।
4. किसी विषय पर केंद्र तथा राज्य सरकार के बीच वित्तीय मतभेद की स्थिति आने पर सांविधानिक नियमों के तहत उसका समाधान किया जाता है।

संघीय वित्त के सिद्धांत

केंद्र तथा राज्य सरकारें जिन सिद्धांतों के अनुरूप परस्पर आय तथा व्यय के स्रोतों की व्यवस्था करती हैं, वे संघीय वित्त के सिद्धांत कहलाते हैं जिन्हें निम्नलिखित रूपों में समझा जा सकता है–

1. **स्वतंत्रता एवं उत्तरदायित्व का सिद्धांत :** प्रो. आडरकर का मानना है कि संघीय अर्थव्यवस्था वाली प्रत्येक सरकार को अपने आंतरिक वित्तीय मुद्दों को निपटाने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए अर्थात एक सरकार को दूसरी सरकार के मामले में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। अपनी कर नीति, ऋण नीति तथा आय नीति के संबंध में अपने उत्तरदायित्व का निर्वहन प्रत्येक सरकार का कर्त्तव्य है।
2. **पर्याप्तता तथा लोचशीलता का सिद्धांत :** यह सिद्धांत बताता है कि प्रत्येक सरकार को अपने कार्यों को पूर्ण करने के लिए पर्याप्त साधन प्राप्त हों। ये

टिप्पणी

साधन लोचदार होने चाहिए ताकि आवश्यकता पड़ने पर उनमें बदलाव किया जा सके।

3. **प्रशासनिक कुशलता का सिद्धांत :** प्रो. आडरकर के अनुसार यह सिद्धांत आय और व्यय के संतुलन, करों की प्रशासनिक चोरी न करने, कर संग्रह की क्षमता में वृद्धि तथा दोहरी कर व्यवस्था से बचने से संबद्ध है।
4. **एकरूपता का सिद्धांत :** यह सिद्धांत संकेत करता है कि राज्यों में आर्थिक भार तथा लाभ के बीच एकरूपता बनाए रखने के लिए केंद्र सरकार समृद्ध राज्यों से धन इकट्ठा कर निर्धन राज्यों के बीच बांट दे ताकि सभी नागरिकों के लिए न्यूनतम जीवन स्तर स्थापित हो सके।
5. **समता का सिद्धांत :** यह सिद्धांत बताता है कि लोगों के सीमांत त्याग समान न होने के कारण विभिन्न राज्यों के करों के भार के वित्तरण में भी विभिन्नता होती है, अतः केंद्र एवं राज्य सरकार के करों का भार नागरिकों पर समान करने के लिए केंद्र-राज्य करों में समन्वय करना आवश्यक है।
6. **समन्वय एवं परस्पर संबंधों का सिद्धांत :** यह सिद्धांत इस बात पर बल देता है कि विभिन्न सरकारों की वित्तीय व्यवस्था है। यह समन्वय करारोपण के साथ सार्वजनिक व्यय, वर्तमान बजट, पूंजीगत व्यय आदि क्षेत्रों में भी दिखना चाहिए।

भारत की संघीय वित्त व्यवस्था

भारत के संविधान में भारत को राज्यों का संघ कहा गया है तथा यहां की प्रशासनिक व्यवस्था त्रिस्तरीय है जो केंद्र, राज्य तथा स्थानीय स्तर पर कार्य करती है। भारत सरकार अधिनियम 1935 की विशेषताओं सहित संविधान में केंद्र एवं राज्य सरकारों के बीच वित्तीय साधनों का बंटवारा किया गया है।

केंद्र तथा राज्यों के बीच साधनों का बंटवारा : केंद्र सरकार तथा राज्य सरकारों को जो वित्तीय शक्तियां दी गई हैं उनके विभाजन का उल्लेख संविधान में किया गया है तथा करों का विभाजन तीन वर्गों में किया गया है और तीन सूचियों के अंतर्गत उन्हें रखा है, जो इस प्रकार है–

1. **केंद्रीय सूची–** इसमें राज्य सरकार द्वारा लगाए जाने वाले करों को शामिल किया गया है।
2. **राज्य सूची–** यह सूची राज्य सरकार द्वारा लगाए जा सकने वाले करों का उल्लेख करती है। परंतु कर प्राप्ति के स्रोत क्या होंगे, उनके बारे में सूची में उल्लेख नहीं है।
3. **समवर्ती सूची–** जिन विषयों पर संसद तथा राज्य विधानसभाओं को संयुक्त रूप से कानून बनाने का अधिकार है, उन्हें इस सूची में स्थान दिया गया है। केंद्र तथा राज्यों के कर साधनों का उल्लेख निम्नलिखित बिंदुओं के अंतर्गत है–
   - **केंद्रीय साधन :** संविधान में 12 साधनों या विषयों को केंद्र सरकार के लिए संरक्षित रखा गया है जिनसे प्राप्त आय केंद्र सरकार को प्राप्त होती है। ये साधन हैं– कृषि आय के अतिरिक्त अन्य आय का, सीमा शुल्क, उत्पादन कर, नशीली वस्तुओं के अतिरिक्त, निगम कर, संपत्ति कर, आस्ति

कर, संपत्ति के पूंजीगत मूल्य पर कर, यात्रियों एवं पदार्थों पर अंतिम कर, शेयर बाजार एवं सट्टा बाजार के सौदों पर प्राप्त कर, स्टांप शुल्क, विज्ञापन कर, अंतर्राज्ययी व्यापार कर, बिक्री कर।

टिप्पणी

उपर्युक्त विषयों व साधनों से जो आय प्राप्त होती है, वह केवल केंद्र सरकार के पास न रहकर, उसे चार वर्गों में विभाजित किया जाता है। ये चार वर्ग हैं–

(i) निगम कर, पूंजीगत मूल्य पर कर, आयात-निर्यात अथवा सीमा शुल्क के रूप में प्राप्त आय पर पूर्णतः केंद्र सरकार का अधिकार होता है।

(ii) आयकर एवं उत्पादन कर से आय तो केंद्र सरकार प्राप्त करती है परंतु उनका एक अंश राज्यों को देना अनिवार्य है।

(iii) संपत्ति कर, एवं आस्ति कर से प्राप्त आय केंद्र सरकार राज्यों को देती है।

(iv) स्टांप कर, दवाइयों एवं सौंदर्य प्रसाधनों पर केंद्र सरकार कर लगाती है और राज्य सरकार उन्हें एकत्र करती है।

- **राज्यों के साधन :** राज्य सरकार 19 साधनों से कर प्राप्त कर आय प्राप्त कर सकती है। ये मदें हैं– कृषि आयकर, सड़क परिवहन कर, कृषि भूमि पर उत्तराधिकार कर, मालगुजारी, आबकारी, भवन कर, भूमि पर आस्ति कर, स्टांप शुल्क, मोटरगाड़ियों पर कर, समाचार पत्रों के अलावा वस्तुओं पर बिक्री कर मनोरंजन कर आदि।
- **अति भार या सरचार्ज :** केंद्र सरकार की आय में वृद्धि करने हेतु संविधान की धारा 271 के अनुसार संसद को आयकर एवं उत्पादन कर सरचार्ज लगाने का अधिकार है।
- **व्यवसाय कर :** संविधान की धारा 275 राज्य सरकारों को आयकर की तरह व्यवसाय एवं रोजगार पर व्यवसाय कर लगाने का अधिकार देती है। इसकी सीमा 2500 रुपए प्रतिवर्ष अधिकतम है।
- **ऋण :** केंद्र सरकार को अपनी वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारत के समेकित कोष की जमानत पर ऋण प्राप्त करने का अधिकार दिया गया है जिसका उल्लेख संविधान की धारा 292 में है। राज्य सरकारें भी वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऋण ले सकती हैं जिसका उल्लेख संविधान की धारा 293 में है।
- **सहायता अनुदान :** पिछड़े राज्यों को विकास के अवसर देने एवं राजनैतिक तथा आर्थिक समानता लाने हेतु राज्यों को सहायता अनुदान देने की व्यवस्था की गई है।

ग्यारहवां वित्त आयोग

प्रोफेसर ए. एम. खुसरों की अध्यक्षता में सन् 1998 में ग्यारहवें वित्त आयोग का गठन किया गया। सन् 2000 से 2005 की अवधि के लिए इसने 7 जुलाई 2000 को अपनी सिफारिशें प्रस्तुत कीं। नौवीं पंचवर्षीय योजना के अंतिम दो वर्षों एवं दसवीं पंचवर्षीय

योजना की अवधि के लिए इस आयोग की सिफारिशें थीं। आयोग ने निम्नलिखित विषयों पर अपनी सिफारिशें प्रस्तुत कीं।

टिप्पणी

1. **आयकर :** विभिन्न राज्यों के बीच आयकर का वित्तरण किस प्रकार किया जाए, ग्यारहवें वित्त आयोग ने अपनी रिपोर्ट में इस संबंध में निम्नलिखित विवरण दिया–
   (i) राज्य की जनगणना के आधार पर 10 प्रतिशत (दसके आयोग ने इसे 20 प्रतिशत रखा था)
   (ii) तीन राज्यों पंजाब, महाराष्ट्र एवं गोवा की औसत आय के अंतर से गुणा के आधार पर 62.5 प्रतिशत।
   (iii) 7.5 प्रतिशत का आधार राज्यों का क्षेत्रफल होगा।
   (iv) 7.5 प्रतिशत का आधार अधिसंरचना का विकास होगा।
   (v) राज्यों के प्रयासों के आधार पर 5 प्रतिशत।
   (vi) राजकोषीय अनुशासन के आधार पर 7.5 प्रतिशत।
2. **वित्तरण योग्य केंद्रीय कर और शुल्क में राज्यों का हिस्सा :** आयोग ने सिफारिश की कि 2000 से 2005 की अवधि करों और शुल्कों का हिस्सेदारी योग्य अंश का 28% सभी राज्यों द्वारा एकत्र कर राशि के अनुसार बांटा जाएगा।
3. **अतिरिक्त उत्पादन कर :** आयोग की सिफारिश थी कि राज्यों को अतिरिक्त उत्पादन कर से 1.5 प्रतिशत हिस्सा दिया जाए।
4. **आधुनिकीकरण सहायता :** सभी राज्य अपनी विशेष समस्याओं से निपट सकें एवं आधुनिकीकरण कर सकें इसके लिए आयोग ने सिफारिश की कि राज्यों को 4972.63 करोड़ रुपए सहायता स्वरूप दिए जाए।
5. **सहायक अनुदान :** कुछ राज्य केंद्रीय करों से अपना हिस्सा प्राप्त करने के बाद भी घाटे की वित्त व्यवस्था में रहते हैं अत: संविधान के अनुच्छेद 275 के अंतर्गत आयोग ने ऐसे राज्यों को सहायक अनुदान के रूप में 35,359 करोड़ रुपए के सहायक अनुदान की सिफारिश की।
6. **स्थानीय संस्थाओं को सहायता :** आयोग ने पंचायतों एवं नगरपालिकाओं जैसी स्थानीय स्वशासन संस्थाओं की सहायता के लिए 10,000 करोड़ रुपए की सिफारिश की।
7. **आपदा राहत कोष :** आयोग ने 11,007 करोड़ रुपए 2000 से 2005 की अवधि के लिए आपदा राहत कोष में देने की सिफारिश की।
8. **कर वित्तरण की वैकल्पिक योजना :** ग्यारहवें वित्त आयोग ने कहा कि राज्यों को कुल केंद्रीय करों से 37.5% भाग दिया जाए। यह दसके वित्त आयोग की योजना का विस्तारीकरण था। आयोग ने लोक वित्त के नवीनीकरण के लिए भी सुझाव दिए जो काफी महत्वपूर्ण थे।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

12. किस अधिनियम के द्वारा संविधान में केंद्र एवं राज्य सरकारों के मध्य वित्तीय संसाधनों का बंटवारा किया गया?

    (क) अधिनियम 1930 (ख) अधिनियम 1935

    (ग) अधिनियम 1940 (घ) अधिनियम 1945

13. किस धारा के अंतर्गत संसद को केंद्र सरकार की आय वृद्धि करने हेतु आयकर एवं उत्पादन कर सरचार्ज लगाने का अधिकार है?

    (क) धारा 270 (ख) धारा 271

    (ग) धारा 273 (घ) धारा 275

2.7 नवीनतम वित्त आयोग की अनुशंसाएं

वित्त आयोग की नियुक्ति संविधान की धारा 280 के अंतर्गत की गई है। जिसका उत्तरदायित्व राष्ट्रपति पर है। वित्त आयोग केंद्र तथा राज्य के बीच धन के बंटवारे, अनुदान संबंधी सिद्धांत, केंद्र तथा राज्यों के बीच समझौतों तथा राष्ट्रपति द्वारा सूचित मामलों में वित्तीय हित पर विचार करने संबंधी कार्य करता है। इसका मुख्य उद्देश्य केंद्र तथा राज्यों के बीच वित्त की स्थिति को संतुलित बनाए रखना है ताकि किसी प्रकार का विवाद उत्पन्न न हो। वित्त आयोग केंद्र राज्यों की वित्तीय जटिलताओं के समाधान करने का कार्य भी करता है।

नवीनतम वित्त आयोग

भारतीय वित्त आयोग की स्थापना 1951 में की गयी थी। इसकी स्थापना का उद्देश्य भारत के केन्द्रीय सरकार एवं राज्य सरकारों के बीच वित्तीय सम्बन्धों को पारिषित करना था। वित्त आयोग प्रत्येक पाँच वर्ष बाद नियुक्त किया जाता है। अभी तक 15 वित्त आयोग नियुक्त किए जा चुके हैं। 2017 में नवीनतम वित्त आयोग एन के सिंह (भारतीय योजना आयोग के भूतपूर्व सदस्य) की अध्यक्षता में स्थापित किया गया था। वित्त आयोग का कार्यकाल 5 वर्ष होता है

राष्ट्रपति ने संविधान के अनुच्छेद 280 की धारा (1) तथा वित्त आयोग (विविध प्रावधान) अधिनियम, 1951 का उपयोग करते हुए 27 नवम्बर, 2017 को 15वें आयोग का गठन किया। आयोग को अपने कार्य क्षेत्र के आधार पर 1 अप्रैल, 2020 से प्रारंभ 5 वर्षों की अवधि के लिए 30 अक्टूबर, 2019 तक अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करनी थी।

केंद्र सरकार द्वारा पिछले 4 वर्षों में किए गए प्रमुख वित्तीय/बजट सुधारों को ध्यान में रखते हुए आयोग का गठन किया गया है। इन सुधारों में योजना आयोग को समाप्त करना और उसकी जगह नीति आयोग लाना, गैर योजना तथा योजना व्यय के बीच भेद को समाप्त करना, बजट कैलेंडर एक महीना आगे बढ़ाना और पहली

फरवरी को नया वित्त वर्ष प्रारंभ होने से पहले पूर्ण बजट पारित करना, जुलाई 2017 से वस्तु और सेवा कर (जीएसटी) लागू करना, उधारी तथा वित्तीय घाटा उपाय के साथ नया एफआरबीएम ढांचा बनाना शामिल है।

आयोग का कार्य क्षेत्र उपरोक्त वित्तीय / बजट सुधारों को ध्यान में रखता है। केंद्र तथा राज्य सरकारों की व्यय और प्राप्तियों के निर्धारण कार्य के आधार पर आयोग द्वारा सिफारिशें करने में समय लगेगा क्योंकि प्रारंभ से अंत तक डाटा की निरंतरता और डाटा सेटों की जांच चुनौतिपूर्ण हो जाती है।

15वें वित्त आयोग के गठन के बाद से ही कुछ राज्यों द्वारा इसके संदर्भ की शर्तों को "सहकारी संघवाद" की अवधारणा पर कुठाराघात माना गया और उत्तरी एवं दक्षिणी राज्यों के बीच जान बूझकर किये गए भेदभाव के रूप में मानते हुए इस मामले में गंभीर आपत्तियाँ जताई जा रही हैं। यहां पर वित्त आयोग के गठन, कार्य तथा 15वें वित्त आयोग से संबंधित प्रमुख चुनौतियों का उल्लेख किया गया है।

वित्त आयोग से संबंधित संवैधानिक प्रावधान

संवैधानिक प्रावधान	• वित्त आयोग के संबंध में भारतीय संविधान के अनुच्छेद 280 और 281 में उल्लेख किया गया है। • वित्त आयोग एक अर्द्धन्यायिक एवं सलाहकारी निकाय है।
संरचना / गठन	• अनुच्छेद 280(1) के तहत उपबंध है कि वित्त आयोग राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किये जाने वाले एक अध्यक्ष और चार अन्य सदस्यों से मिलकर बनेगा। • अनुच्छेद 280(1) के तहत उपबंध है कि वित्त आयोग राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किये जाने वाले एक अध्यक्ष और चार अन्य सदस्यों से मिलकर बनेगा। • अनुच्छेद 280(2) के तहत संसद को शक्ति प्राप्त है कि वह वित्त आयोग की निर्धारित करे। • संसद द्वारा वित्त आयोग के सदस्यों की अर्हताएँ निर्धारित करने हेतु वित्त आयोग (प्रकीर्ण उपबंध) अधिनियम,1951 पारित किया गया है इसके अंतर्गत निम्नलिखित अर्हताएँ हैं: – अध्यक्ष एक ऐसा व्यक्ति हो जो लोक मामलों का ज्ञाता हो। – अन्य चार सदस्यों में उच्च न्यायालय का न्यायाधीश बनने की अर्हता हो या उन्हें प्रशासन व वित्तीय मामलों का विशेष ज्ञान हो या अर्थशास्त्र का विशिष्ट ज्ञान हो।
कार्य	• भारत के राष्ट्रपति को यह सिफारिश करना कि संघ एवं राज्यों के बीच करों की शुद्ध प्राप्तियों को कैसे वितरित किया जाए एवं राज्यों के बीच ऐसे आगमों का आवंटन। • अनुच्छेद 275 के तहत संचित निधि में से राज्यों को अनुदानध्सहायता दिये जाना चाहिये। • राज्य वित्त आयोग द्वारा की गई सिफारिशों के आधार पर पंचायतों एवं नगरपालिकाओं के संसाधनों की आपूर्ति हेतु राज्य की संचित निधि में संवर्द्धन के लिये आवश्यक कदमों की सिफारिश करना। • राष्ट्रपति द्वारा प्रदत्त अन्य कोई विशिष्ट निर्देश, जो देश के सुदृढ़ वित्त के हित में हों।
शक्तियाँ	• आयोग अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति को सौंपता है, जिसे राष्ट्रपति संसद के दोनों सदनों के समक्ष रखवाता है। • प्रस्तुत सिफारिशों के साथ स्पष्टीकारक ज्ञापन भी रखवाना होता है ताकि प्रत्येक सिफारिश के संबंध में हुई कार्यवाही की जानकारी हो सके। • वित्त आयोग द्वारा की गई सिफारिशें सलाहकारी प्रवृति की होती हैं इसे मानना या न मानना सरकार पर निर्भर करता है।

वित्त आयोग की आवश्यकता

टिप्पणी

निम्न तथ्यों के कारण वित्त आयोग की आवश्यकता बढ़ी–

- भारत की संघीय प्रणाली केंद्र और राज्यों के बीच शक्ति और कार्यों के विभाजन की अनुमति देती है और इसी आधार पर कराधान की शक्तियों को भी केंद्र और राज्यों के बीच विभाजित किया जाता है।
- राज्य विधायिका को अधिकार है कि वह स्थानीय निकायों को अपनी कराधान शक्तियों में से कुछ अधिकार दे सकते हैं।
- केंद्र कर राजस्व का अधिकांश हिस्सा एकत्र करता है और कुछ निश्चित करों के संग्रह के माध्यम से बड़े पैमाने पर अर्थव्यवस्था में योगदान देता है।
- स्थानीय मुद्दों और ज़रूरतों को निकटता से जानने के कारण राज्यों की यह ज़िम्मेदारी है कि राज्य अपने क्षेत्रों में लोकहित का ध्यान रखें।
- हालाँकि इन सभी कारणों से कभी–कभी राज्य का खर्च उनको प्राप्त होने वाले राजस्व से कहीं अधिक हो जाता है।
- इसके अलावा, विशाल क्षेत्रीय असमानताओं के कारण कुछ राज्य दूसरों की तुलना में पर्याप्त संसाधनों का लाभ उठाने में असमर्थ हैं। इन असंतुलनों को दूर करने के लिये, वित्त आयोग राज्यों के साथ साझा किये जाने वाले केंद्रीय निधियों की सीमा की सिफारिश करता है।

वित्त आयोग की चुनौतियां

15वें वित्त आयोग के समक्ष निम्न चुनौतियां हैं–

- 15वें वित्त आयोग के विचार के लिये संदर्भ की शर्तों से केंद्र की सहकारी संघवाद पर संदेह जताया जा रहा है।
- 15वें वित्त आयोग द्वारा 2011 की जनगणना को ध्यान में रखते हुए राज्यों के बीच संसाधनों का आवंटन किये जाने की अनुशंसा की गई है (वर्तमान में इस हेतु 1971 की जनगणना का उपयोग किया जाता है)।
- हालाँकि, एक दृष्टि से नवीनतम जनगणना के आँकड़ों का प्रयोग किया जाना उचित प्रतीत होता है, किंतु इससे उत्तरी और दक्षिणी राज्यों के मध्य विवाद का एक सबसे गंभीर मुद्दा उभर रहा है।
- जनगणना आधार के बदलाव के कारण सामाजिक–राजनीतिक क्षेत्र में कई चुनौतियों का सामना करना पड़ सकता है।
- खासकर उन दक्षिणी राज्यों को नुकसान होने की ज्यादा संभावना है, जो दशकों से अपनी आबादी को नियंत्रित करने के लिये बेहतर प्रदर्शन कर रहे हैं, जबकि कम जनसंख्या वृद्धि स्वाभाविक रूप से 'कम प्रजनन दर' से जुड़ी हुई है, जो बेहतर शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं और विकास का एक परिणाम है।
- दक्षिणी राज्य जैसे– कर्नाटक, आंध्र प्रदेश, केरल और केंद्रशासित प्रदेश पांडुचेरी आदि तेज़ी से आगे बढ़ रहे हैं।

टिप्पणी

- उन्हें विकास संबंधी कार्यों में उनकी सफलता के कारण निधि आवंटन में नुकसान उठाना पड़ सकता है जिसे दंड की तरह माना जा रहा है।
- यही कारण है कि मुख्यतः दक्षिणी राज्य 15वें वित्त आयोग के संदर्भित शर्तों पर गंभीर आपत्ति जता रहे हैं।
- जनसंख्या नियंत्रण में प्रमुख भूमिका निभाने वाले इन प्रतियोगी राज्यों को देखें तो विशेष रूप से, दक्षिणी राज्यों को अधिक धनराशि का आवंटन हो सकता है क्योंकि उनके परिवार नियोजन पहल ने लगभग अपनी आबादी को स्थिर कर दिया है।
- यहाँ तक कि पश्चिम बंगाल और पूर्वोत्तर राज्यों में पूर्व स्थिति की अपेक्षा जनसंख्या नियंत्रण में काफी सफलता मिली है और नवीनतम जनगणना का आधार उनके आवंटन का हिस्सा कम कर सकता है।
- इसके विपरीत, कुछ उत्तरी राज्यों ने अपनी आबादी की बढ़ती प्रवृत्ति पर थोड़ा नियंत्रण जारी रखा है, अतः उनके लिये निधि आवंटन में वृद्धि भी हो सकती है।
- इस प्रकार यह स्थिति अंतर्राज्यीय तनाव पैदा कर रही है जो देश की अखंडता के लिये घातक है।

सहकारी संघवाद के विकास में हुई प्रमुख पहलें

- 14वें वित्त आयोग ने केंद्रीय कर में से राज्यों की हिस्सेदारी बढ़ाकर 32 प्रतिशत से 42 प्रतिशत तक हस्तांतरण के लिये सिफारिश की थी। जिससे "सहकारी संघवाद" की ओर एक सकारात्मक गति पैदा हुई थी।
- इसके अतिरिक्त, पूर्व योजना आयोग को एक केंद्रीय संस्था के रूप में देखा गया, जो राज्य सरकारों के लिये अनुत्तरदायी मानी गई अतः इसके स्थान पर सहयोगात्मक संघवाद पर आधारित नीति आयोग का गठन किया गया।
- इन सबके अलावा, जीएसटी अधिनियम द्वारा एक "जीएसटी कौंसिल" को एक संवैधानिक निकाय के रूप में स्थापित किया गया है जो अपने निर्णयों में राज्यों को उचित प्रतिनिधित्व प्रदान करती है।

सुझाव के बिंदु

- राज्यों में आबादी को नियंत्रित करने के प्रयासों को प्रोत्साहित करने के मामलों में प्रजनन दर अभी भी उच्च है ऐसे राज्यों के बीच तनाव कम करने के लिये रचनात्मक विकल्पों को अपनाए जाने की आवश्यकता है ।
- लगभग 6 करोड़ लोगों के रूप में अंतर्राज्यीय प्रवासन दर उच्च रहने का अनुमान लगाया गया है और इसलिए अधिक–से–अधिक प्रवासित होने वाले राज्यों का समर्थन करना भी महत्त्वपूर्ण है।
- इस प्रकार के समर्थन से राज्य बेहतर सेवाएँ प्रदान करेंगे और प्रवासियों के खिलाफ भेदभाव को हतोत्साहित करेंगे ।
- क्रिएटिव हैंडलिंग द्वारा संवेदनशील मुद्दों की बहुत सी समस्याएँ आगामी वर्ष 2026 के राजनीतिक परिसीमन की बड़ी लड़ाई के लिए मैदान तैयार करने में मदद मिलेगी।

- ध्यातव्य है कि वर्तमान में विशेष रूप से संसदीय निर्वाचन क्षेत्र और राज्यवार निरूपण भी 1971 की जनगणना पर ही आधारित हैं, जो 2011 की जनगणना में आधार प्रदान कर सकते हैं।
- 2015 से पहले केंद्र द्वारा लगाये जानेवाले तमाम प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों का मात्र 32 प्रतिशत ही राज्यों को मिलता था, लेकिन 14वें वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार 2015 से 2020 के बीच राज्यों का हिस्सा बढ़ा कर 42 प्रतिशत कर दिया गया। साथ ही राज्यों द्वारा चलायी जा रही केंद्रीय योजनाओं की संख्या में भी कमी कर दी गयी।
- हमेशा की तरह इस बार भी वित्त आयोग द्वारा केंद्र और राज्यों के बीच और साथ ही साथ विभिन्न राज्यों के बीच संसाधनों का बंटवारा कोई आसान काम नहीं होगा। आशा करनी चाहिए कि एनके सिंह की अध्यक्षता में पंद्रहवां वित्त आयोग केंद्र और राज्यों के बीच संतुलन बनाये रखते हुए अपनी सिफारिशें देगा।

15वें वित्त आयोग के गठन के बाद से ही कुछ राज्यों द्वारा इसके संदर्भ की शर्तों (terms of reference) को ''सहकारी संघवाद'' की अवधारणा पर कुठाराघात माना गया और उत्तरी एवं दक्षिणी राज्यों के बीच जान बूझकर किये गए भेदभाव के रूप में मानते हुए इस मामले में गंभीर आपत्तियाँ जताई जा रही हैं। यहां पर वित्त आयोग के गठन, कार्य तथा 15वें वित्त आयोग से संबंधित प्रमुख चुनौतियों का उल्लेख किया गया है।

अपनी प्रगति जांचिए

14. भारत में वित्त आयोग का गठन कौन करता है?

    (क) राष्ट्रपति (ख) प्रधानमंत्री

    (ग) वित्त मंत्री (घ) RBI का गवर्नर

15. 15वें वित्त आयोग की सिफारिशें लागू होने की समयावधि है—

    (क) 1995—2000 (ख) 1997—2002

    (ग) 2010—2015 (घ) 2020—2025

2.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (ग)
3. (क)
4. (ख)
5. (ग)
6. (ग)
7. (घ)

8. (ग)
9. (क)
10. (ग)

टिप्पणी

11. (ग)
12. (ख)
13. (ख)
14. (क)
15. (घ)

2.9 सारांश

सामान्यत: एक वर्ष की अवधि के लिए बनाए गए वित्त विवरण को बजट कहा जाता है। बजट राजस्व तथा व्ययों का ब्यौरा होता है। बजट वित्तीय विवरण यह भी बताता है कि सरकार की वित्तीय नीतियां एव महत्वाकांक्षाएं क्या है? देश के आर्थिक विकास के संबंध में सरकार के क्या विचार है।

बजट एक देश की योजना अथवा कार्यक्रम है जिसमें यह देखा जाता है कि पिछले अनुभवों के आधार पर वर्तमान अवधि के लिए, सुव्यवस्थित ढंग से क्रियान्वयन के लिए निर्धारित नीतियां उचित हैं या नहीं। यह योजना अथवा कार्यक्रम देश के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक ढांचे पर आधारित होता है। बजट देश के आर्थिक विकास में मदद करता है अत: बजट का संतुलित होना जरूरी है। बजट में आय तथा व्यय की राशि बराबर होनी चाहिए। बजट नियोजन का एक महत्वपूर्ण साधन है। आज दुनिया के समस्त विकसित तथा विकासशील देश बजट द्वारा ही अपना विकास कर रहे हैं।

बजट में नवप्रवर्तन के परिणामों को पारंपरिक बजट द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता और यह महसूस किया गया कि बजट-प्रक्रिया के लिए एक नए दृष्टिकोण की आवश्यकता है और इसी कारण प्रोग्राम एवं निष्पादन बजट-व्यवस्था को अपनाने पर बल दिया गया। शून्य-आधार बजट इस सूत्र पर काम करता है कि बजट का निर्माण करते समय व्यय के मौजूदा स्तर को माना जाए बल्कि इसकी जांच की जानी चाहिए।

शून्य आधार-बजट को छोटे पैमाने पर लागू करना अधिक उपयोगी होता है शून्य आधार बजट व्यय-संबंधी कुछ प्रोग्रामों में वृद्धि या कमी करने तथा इनके मध्य प्राथमिकता निर्धारण करने की धारणा में कुछ गुण अवश्य है।

बजट निर्माण की प्रक्रिया में वित्त विभाग को बहुत से महत्वपूर्ण निर्णय लेने पड़ते हैं। सबसे पहले बजट के आकार का निर्धारण किया जाता है। यह देखा जाता है कि बजट में कुल कितनी आय तथा व्यय का निर्धारण हो। आय-व्यय के स्तर का निर्धारण यह निर्णय भी देश की वर्तमान आर्थिक स्थिति को देखकर किया जाता है।

बजट निर्माण की अवधि निकट आने पर इन सभी योजनाओं की जांच की जाती है तथा इनमें से कुछ को चुन कर बजट में शामिल कर लिया जाता है। परंतु उन योजनाओं पर कोई विचार नहीं किया जाता जो वास्तव में बजट में शामिल नहीं की जाती है।

राजस्व घाटा एवं राजकोषीय घाटा नियमों में प्रदर्शित लक्ष्यों से केवल राष्ट्रीय सुरक्षा अथवा राष्ट्रीय आपदा अथवा ऐसे अन्य अपवादात्मक आधारों पर ही बढ़ सकता है जिन्हें कि केंद्र सरकार द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है।

टिप्पणी

कर-चोरी घटाने की संभावना बढ़ाने व बेहतर अनुपालन सुनिश्चित करने के लिए सरकार ने प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों करों के संदर्भ में कर-दर घटायी है।

विकासशील अर्थव्यवस्था में जब घरेलू व बाह्य स्रोतों से सार्वजनिक क्षेत्र योजना के लिए पर्याप्त संसाधनों को जुटाने में सरकार विफल रहता है तो घाटे से उबरने के लिए संसाधन आवश्यक हो जाते हैं।

एकात्मक तथा संघीय वित्त व्यवस्था मुख्यत: इस स्तर पर भिन्न है कि एकात्मक सरकार में केंद्र सरकार ही देश की अर्थव्यवस्था में सभी मदों पर व्यय का भार उठाती है तथा साधन व गैर-साधन आय भी उसी के पास आते हैं जबकि संघीय वित्त व्यवस्था में केंद्र तथा राज्य सरकारें आय तथा व्यय की मदें आपस में बांट लेती हैं। स्थानीय सरकार भी अपना दायित्व निभाती हैं।

यह सिद्धांत बताता है कि प्रत्येक सरकार को अपने कार्यों को पूर्ण करने के लिए पर्याप्त साधन प्राप्त हों। ये साधन लोचदार होने चाहिए ताकि आवश्यकता पड़ने पर उनमें बदलाव किया जा सके।

2.10 मुख्य शब्दावली

- **बजट** : बजट एक सरकारी प्रपत्र होता है जिसमें सार्वजनिक कार्यक्रमों को संचालित करने के लिए आवश्यक कार्यों की पूर्ति करने के स्रोत एवं मात्रा के साथ संबंधित मदों का पूर्ण विवरण होता है।
- **निष्पादन बजटिंग** : निष्पादन बजट का तात्पर्य ऐसी बजट प्रक्रिया से है जिसके अंतर्गत बजट में शामिल कार्यक्रमों तथा योजनाओं का क्रियान्वयन इस प्रकार किया जाता है ताकि अपेक्षित तथा वास्तविक निष्पादन के मध्य कम से कम अंतर हो तथा परियोजनाओं का क्रियान्वयन इष्टतम स्तर पर हो सके।
- **राजकोषीय नीति** : सरकार की वह नीति जिसका संबंध राजकोष से लगाया जाता है।
- **हीनार्थ प्रबंधन** : सरकारी घाटे की पूर्ति के लिए अपनायी जाने वाली वह व्यवस्था जिसे नयी मुद्रा छाप कर या केंद्रीय बैंक से उधार लेकर पूरी की जाती है।

2.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. बजट से आप क्या समझते है? इसकी मुख्य विशेषताओं को बताइए।
2. पारंपरिक बजट को स्पष्ट कीजिए।

टिप्पणी

3. शून्य आधार बजट को समझाते हुए इसकी विशेषताओं को समझाइए।
4. राजकोषीय घाटे से क्या तात्पर्य है?
5. हीनार्थ प्रबंधन पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
6. संघीय वित्त सिद्धांत को परिभाषित करते हुए इनके विभिन्न रूपों को समझाइए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. बजट को परिभाषित करते हुए इसकी मुख्य कार्यों का उल्लेख कीजिए।
2. प्रोग्राम एवं निष्पादन बजट की विवेचना कीजिए।
3. किन कारणों के कारण केंद्रीय सरकार ने शून्य आधार बजट को अपनाया?
4. भारत में बजट निर्माण प्रक्रियाओं की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन कीजिए।
5. भारत की संघीय वित्त व्यवस्था पर प्रकाश डालिए।
6. 15वें वित्त आयोग के संवैधानिक प्रावधान का वर्णन कीजिए।

2.12 सहायक पाठ्य सामग्री

Tyagi, B. P. 1975. *Public Finance*. Meerut: Jai Prakash Nath and Co.

Sundaram and Sundaram. 1995. *Public Finance*. New Delhi: Sultan Chand & Sons.

Huge Dalton. 2013. *Principles of Public Finance*. New Delhi: Routledge.

Houghton, E. W. 1998. *Public Finance*. Baltimore: Penguin.

Gupta, S. B. 1994. *Monetary Economics*. New Delhi: S.Chand & Company.

इकाई 3 अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र एवं अंतर्राष्ट्रीय व्यापार

टिप्पणी

संरचना

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का अर्थ और महत्व
  3.2.1 अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की विषय सामग्री
  3.2.2 अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याएं
  3.2.3 अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का महत्व
3.3 अंतर क्षेत्रीय और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार
3.4 आर्थिक विकास में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का महत्व
3.5 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धांत : निरपेक्ष और तुलनात्मक लाभ
3.6 साधन प्रचुरता : हैक्शर ओहलिन
3.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.8 सारांश
3.9 मुख्य शब्दावली
3.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.11 सहायक पाठ्य सामग्री

3.0 परिचय

एक समय था जब प्रत्येक देश अपने आप तक सीमित था उसे बाहर की दुनिया का ज्ञान नहीं था। वह केवल उन्हीं वस्तुओं का प्रयोग करता था जो उसके अपने देश में उत्पन्न की जा सकती थीं। उस समय अंतर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण नहीं था लेकिन अब बढ़ते हुए आवागमन व संचार सुविधाओं के विकास के कारण विश्व एक इकाई में बदल गया है। बढ़ते हुए श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण ने प्रत्येक देश को किसी वस्तु विशेष का उत्पादन करने में निपुणता एवं विशिष्ट योग्यता प्रदान की है जिसके कारण विभिन्न देशों के बढ़ते आर्थिक संबंधों ने अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को एक नई दिशा प्रदान की है। अब प्रत्येक देश उसी वस्तु का उत्पादन करता है जिसे वह तुलनात्मक रूप से कम लागत पर उत्पन्न कर सकता है। इस प्रकार उत्पादन में आंतरिक एवं अंतर्राष्ट्रीय दोनों स्तर पर विशिष्टीकरण के आधार पर प्रत्येक देश अविशिष्टीकरण के कारण अतिरिक्त उत्पादन का विनिमय करता है और उसके बदले में वह उन वस्तुओं को प्राप्त करता है जिनकी लागत तुलनात्मक रूप से ज्यादा होती है। इस प्रकार से विशिष्टीकरण व्यापार को जन्म देता है, व्यापार से विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन मिलता है और अंत में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का जन्म होता है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का अध्ययन अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र में किया जाता है। व्यापार के अंतर्गत उन समस्त मानवीय क्रियाओं को शामिल किया जाता है जो वस्तुओं के उत्पादन से वितरण तक संपन्न होती हैं। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से अभिप्राय विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं एवं सेवाओं के क्रय-विक्रय से होता है जिससे विभिन्न देशों को अनेक लाभ प्राप्त होते हैं। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से जीवन स्तर में सुधार होता है, प्राकृतिक साधनों का पूर्ण प्रयोग होता है और देश का आर्थिक विकास होता है।

इस इकाई में अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का अर्थ व महत्व, अंतरक्षेत्रीय व अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में अंतर तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धांत को समझाया गया है।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का अर्थ व महत्व को समझ पाएंगे;
- अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रीय और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में समानता व असमानताओं का तुलनात्मक अध्ययन कर पाएंगे;
- आर्थिक विकास में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के महत्व का आकलन कर पाएंगे;
- अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धांत निरपेक्ष और तुलनात्मक लाभ का विश्लेषण कर पाएंगे;
- हैक्शर ओहलिन के सिद्धांतों का मूल्यांकन कर पाएंगे।

3.2 अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का अर्थ और महत्व

अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र सामान्य अर्थशास्त्र की एक शाखा है। सामान्य अर्थशास्त्र के अंतर्गत हम व्यक्ति की उन सभी क्रियाओं का अध्ययन करते हैं जिनका संबंध उपभोग, उत्पादन, विनिमय तथा वितरण की समस्याओं से होता है जबकि अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के अंतर्गत हम विभिन्न राष्ट्रों के बीच पाए जाने वाले आर्थिक संबंधों का अध्ययन करते हैं। वास्तव में अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र आर्थिक क्रियाओं के अंतर्राष्ट्रीय पहलुओं पर प्रकाश डालता है। अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के अंतर्गत विभिन्न राष्ट्रों के मध्य वस्तुओं व सेवाओं के विनिमय की समस्याओं का अध्ययन किया जाता है।

अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का संबंध विभिन्न राष्ट्रों के बीच आर्थिक संबंधों से है। जब दो देश आपस में व्यापार करते हैं तो उनके आर्थिक संबंधों की शुरुआत होती है और इस कारण कुछ समस्याएं उत्पन्न होती हैं। अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र में इन्हीं समस्याओं का अध्ययन किया जाता है। अन्य शब्दों में अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का संबंध उन समस्त आर्थिक सौदों से होता है जो देश की सीमा के बाहर किए जाते हैं।

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र सामान्य अर्थशास्त्र की वह शाखा है जिसके अंतर्गत विभिन्न राष्ट्रों की बीच व्यापार से पैदा होने वाले आर्थिक संबंधों एवं उनसे संबंधित आर्थिक समस्याओं का अध्ययन किया जाता है।

अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की प्रकृति को जानने के लिए यह जानना अनिवार्य है कि अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र विज्ञान है या कला है अथवा दोनों। इसके लिए हमें पहले विज्ञान एवं कला का अर्थ जानना होगा।

विज्ञान का अर्थ

'विज्ञान' ज्ञान की वह शाखा है जिसमें तथ्यों का क्रमबद्ध एवं सुव्यवस्थित ढंग से अध्ययन किया जाता है, जो कारण तथा परिणाम के बीच पारस्परिक संबंधों को बताता है। इस

प्रकार से स्पष्ट है कि तथ्यों का वह समूह जिसके बीच कारण-कार्य का संबंध पाया जाता है विज्ञान कहलाता है।

अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र विज्ञान है

अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र विज्ञान है क्योंकि इसमें तथ्यों का संकलन क्रमबद्ध ढंग से किया जाता है फिर उनका वर्गीकरण एवं विश्लेषण किया जाता है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, पूंजी का आवागमन, विदेशी सहायता व अनुदान, व्यापारिक संधियां, तटकर/प्रशुल्क नीति का निर्धारण आदि सभी कार्य निश्चित नियमों के अंतर्गत किए जाते हैं। अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के अंतर्गत आर्थिक संबंधों, उनकी विशेषताओं तथा आर्थिक मुद्दों की व्याख्या की जाती है। इस प्रकार से यह निष्कर्ष निकलता है कि अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र एक विज्ञान है।

अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र को निम्न कारणों के आधार पर विज्ञान कहा जा सकता है-

1. यह तथ्यों के समूहों का प्रतिपादन करता है जिससे अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रकृति, विशेषताओं व सारभूत तत्वों का पता चलता है।
2. यह कानूनों, नियमों, सिद्धांतों तथा प्रवृत्तियों की स्थापना करता है।
3. यह सत्य की खोज करने के लिए विधियों का निर्माण करता है।

किण्डल बर्जर ने बढ़ते हुए अंतर्राष्ट्रीयवाद को देखते हुए अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र को ज्ञान तथा समझौतों का एक महत्वपूर्ण साधन बताया है।

कला का अर्थ– कला का सामान्य अर्थ है–किसी वस्तु को बनाना/किसी कार्य को करना। किसी कार्य को सर्वोत्तम ढंग से करना ही कला कहलाता है अथवा कला पूर्व निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करने का एक तरीका है। केन्स ने कहा है कि कला दिए हुए उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नियमों की एक प्रणाली है। वास्तव में कला ऐसे नियमों का प्रतिपादन करती है जिसके द्वारा मनुष्य अपने उद्देश्यों को प्राप्त करता है।

अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र कला है

अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र कला है क्योंकि यह अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के दौरान आने वाली समस्याओं के समाधान को खोजने का प्रयास करता है। यह वित्त प्रदान करना, लेन-देन की शर्तों को निश्चित करना, अंतर्राष्ट्रीय भुगतान करना तथा जोखिमों का ध्यान रखना आदि कार्य करता है। ये सभी कार्य वही कर सकता है जिसे इन कार्यों का पूरा ज्ञान हो, अर्थात अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र एक कला है जिसमें तथ्यों के समूहों व सिद्धांतों का उपयोग व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक कार्यवाहियों, कार्यक्रमों तथा नीतियों के लिए तथा इस क्षेत्र में उत्पन्न होने वाली समस्याओं के समाधान के लिए किया जाता है। इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र में कला एवं विज्ञान दोनों के ही गुण पाए जाते हैं।

3.2.1 अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की विषय सामग्री

आधुनिक युग में अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का क्षेत्र काफी व्यापक हो गया है। अध्ययन की सुविधा के लिए इसकी विषय सामग्री को निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है-

1. **अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धांत–** अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का अर्थ एवं उसके महत्व का अध्ययन किया जाता है तथा इस बात का अध्ययन किया जाता है कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से क्या-क्या लाभ तथा क्या-क्या हानि होती है।

इसके अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के विभिन्न सिद्धांतों जैसे तुलनात्मक लागत सिद्धांत, अवसर लागत सिद्धांत, आधुनिक सिद्धांत, साधन मूल्य समानीकरण सिद्धांत आदि का मूल्यांकन किया जाता है।

टिप्पणी

2. अंतर्राष्ट्रीय व्यापारिक नीति– व्यापारिक नीति से आशय किसी देश की अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक क्रियाओं से संबंधित नीति से है। इसके अंतर्गत आयात-निर्यात, अभ्यंश, घरेलू उद्योगों का संरक्षण एवं उसका स्वरूप, व्यापारिक समझौते, विदेशी मुद्रा का प्रबंध तथा भुगतान संबंधी समस्याओं का अध्ययन एवं समाधान किया जाता है।

3. अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के मौद्रिक पहलू– विनिमय दरों का निर्धारण, विनिमय दरों में होने वाले उतार-चढ़ावों का अध्ययन, उनके कारण व उपचार की विधियों, विनिमयों, विनिमय दर नियंत्रण, भुगतान संतुलन, व्यापार संतुलन आदि का अध्ययन अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र में ही किया जाता है।

4. विदेशी व्यापार की संरचना एवं दिशा– किसी देश के विदेशी व्यापार के आकार, संरचना एवं दिशा का अध्ययन तथा भुगतान संतुलन की स्थिति और विदेशी व्यापार नीति का अध्ययन अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र में ही किया जाता है।

5. अल्पविकसित राष्ट्रों के आर्थिक विकास की समस्या– अल्पविकसित राष्ट्रों को विकास कार्यों को करने के लिए विकसित देशों से सहायता लेनी पड़ती है। इस सहायता से संबंधित सभी नीतियों व समस्याओं का अध्ययन अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र में ही किया जाता है, जैसे सहायता किस प्रकार देनी है अर्थात सहायता सशर्त देनी है अथवा शर्त रहित। ऋणों को भुगतान किस प्रकार होगा, भुगतान असंतुलन की समस्या को किस प्रकार हल किया जाए आदि इसी के अध्ययन क्षेत्र में आते हैं।

6. अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक एवं आर्थिक सहयोग– अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के साथ-साथ अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की भी विवेचना की जाती है इसके अंतर्गत–

(क) अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष,

(ख) अंतर्राष्ट्रीय वित्त निगम,

(ग) विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय विकास परिषद,

(घ) तथा सार्क आदि का अध्ययन किया जाता है।

3.2.2 अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याएं

तीव्र गति से बढ़ते हुए अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक आर्थिक समस्याएं उत्पन्न हो रही हैं। कुछ मुख्य समस्याएं निम्नलिखित हैं–

1. क्षेत्रीय बाजारों की स्थापना– द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात अनेक क्षेत्रीय बाजारों का निर्माण हुआ है जैसे यूरोपीय समुदाय बाजार (E.C.M), यूरोपियन स्वतंत्र व्यापार संघ (E.F.A), सार्क (SAARC) आदि जो राष्ट्र इन क्षेत्रीय संगठनों/बाजारों की सदस्यता ग्रहण नहीं करते है उनका व्यापार प्रतिकूल ढंग से प्रभावित होता है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए संपूर्ण विश्व एक इकाई नहीं है। बल्कि यह कई अलग-अलग क्षेत्रों में बंट गया है। अंतर्राष्ट्रीयता की भावना क्षेत्रीयता के दायरे में सिमटती जा रही है।

2. अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक समस्याएं– अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण अंतर्राष्ट्रीय विनिमय की समस्या का जन्म होता है। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना होने के बावजूद आज भी ऐसी अनेक समस्याएं हैं जिनका हल अभी भी नहीं निकाला जा सका है। अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में अनेक सुधार किए गए हैं लेकिन अभी भी बहुत सी समस्याओं का समाधान नहीं हुआ है। अतः उसमें और सुधार की आवश्यकता है।

3. अल्पविकसित राष्ट्रों के आर्थिक विकास की समस्या– आज अल्पविकसित देशों की सबसे बड़ी एवं महत्वपूर्ण समस्या तीव्र आर्थिक विकास की है। वैश्वीकरण के कारण, विकसित देशों से संपर्क बढ़ जाने के कारण इस समस्या ने तीव्र रूप धारण कर लिया है। विकास के लिए पूंजी व तकनीक सहायता की आवश्यकता होती है। तीव्र आर्थिक विकास के लिए ये देश विकसित देशों से पूंजी व तकनीक का आयात करते हैं। अल्पविकसित देशों की व्यापार शर्तें प्रतिकूल रहती हैं। इसलिए भुगतान संतुलन के घाटे की समस्या का समाधान निकालना आवश्यक होता है।

3.2.3 अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का महत्व

आधुनिक युग में किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्र के लिए पूर्ण रूप से आत्मनिर्भर होना संभव नहीं है क्योंकि तकनीकी विकास एवं नये-नये अनुसंधानों के फलस्वरूप विश्व के सभी राष्ट्रों ने विशिष्टीकरण को अपना लिया है। आज अंतर्राष्ट्रीय व्यापार अंतर्राष्ट्रीय तकनीकी आवागमन के साथ-साथ विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के आर्थिक अर्थशास्त्र का महत्व निरंतर बढ़ता जा रहा है। आधुनिक युग में अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के महत्व को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है–

1. यह राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था के मध्य परिपूरकता की सत्यता पर प्रकाश डालता है।
2. अर्थशास्त्र का अध्ययन लोगों की संकीर्ण सोच में परिवर्तन करने में सहायक है। यह लोगों की मानसिक स्थिति को विस्तृत करके उन्हें राष्ट्रीयता की संकीर्ण भावना से ऊपर उठाकर अंतर्राष्ट्रीयता की ओर ले जाता है।
3. अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र इस बात पर प्रकाश डालता है कि राष्ट्रों के आर्थिक विकास में विदेशी पूंजी, श्रम एवं तकनीक का काफी योगदान रहा है।
4. अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र बताता है कि आर्थिक सहयोग एवं कल्याण दोनों सहगामी है।
5. अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र इस बात को स्पष्ट करता है कि विश्व के राष्ट्र दीर्घकाल तक द्वंद्वात्मक आर्थिक नीति को न तो अपना सकते हैं और न ही व्यवहार में प्रयोग कर सकते हैं।
6. अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र अंतर्राष्ट्रीयता की भावना अथवा वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना को विकसित करता है जो वर्तमान समय में अनेक जटिल समस्याओं के समाधान के लिए आवश्यक है।
7. यह शास्त्र यह बताता है कि जो समस्याएं एकाकी प्रयास से हल नहीं की जा सकती हैं उन्हें अंतर्राष्ट्रीय सहयोग से सरलता व सुगमता से हल किया जा सकता है।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

1. अंतर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धांत के अंतर्गत किन समस्याओं का समाधान किया जाता है?
   (क) आयात–निर्यात अभ्यंश (ख) घरेलू उद्योगों का संरक्षण
   (ग) व्यापारिक समझौते (घ) उपरोक्त सभी
2. किस युद्ध के पश्चात क्षेत्रीय बाजारों का निर्माण हुआ?
   (क) प्रथम विश्व युद्ध (ख) द्वितीय विश्व युद्ध
   (ग) भारत चीन सीमा युद्ध (घ) भारत–पाक युद्ध

3.3 अंतर क्षेत्रीय और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार

प्राचीन समय में मनुष्य की आवश्यकताएं सीमित थीं। वह स्वयं ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर लिया करता था लेकिन जैसे-जैसे मनुष्य की आवश्यकताएं बढ़ती गईं उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए दूसरों का सहारा लेना पड़ा इसके लिए मनुष्य ने विशिष्टीकरण पर विचार किया और अपनी आवश्यकता की वस्तुओं के साथ उनका विनिमय करना शुरू कर दिया। इन्हीं क्रियाओं के परिणामस्वरूप व्यापार का सूत्रपात हुआ अर्थात व्यापार कार्य शुरू हो गया।

व्यापार का अर्थ

लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से किए गए विभिन्न वस्तुओं के विनिमय को व्यापार कहते हैं। व्यापक अर्थ में व्यापार के अंतर्गत उन समस्त क्रियाओं को शामिल किया जाता है जिनका संबंध समाज में उत्पादित समस्त वस्तुओं के वितरण से होता है। अन्य शब्दों में व्यापार के अंतर्गत उन समस्त मानवीय क्रियाओं को शामिल किया जाता है जो वस्तुओं के उत्पादन से वितरण तक संपन्न होती हैं। सामान्यतः व्यापार दो प्रकार का होता है– (1) अंतर क्षेत्रीय (2) अंतर्राष्ट्रीय व्यापार।

अंतर क्षेत्रीय व्यापार

आंतरिक व्यापार से अभिप्राय उस व्यापार से होता है जो किसी एक देश की सीमा के भीतर विभिन्न स्थानों अथवा विभिन्न क्षेत्रों के बीच किया जाता है, जैसे कोई गुजरात का व्यापारी उत्तर प्रदेश के व्यापार के साथ किसी वस्तु का व्यापार करता है या कोई दिल्ली का व्यापारी मुंबई के व्यापारी से व्यापार करता है। इस प्रकार के व्यापार को अंतर्राज्यीय व्यापार, घरेलू व्यापार, अंतर्क्षेत्रीय व्यापार, अथवा अंतर्स्थानीय व्यापार कहते हैं। इस प्रकार यह व्यापार एक ही देश के विभिन्न क्षेत्रों के व्यापारियों के मध्य किया जाता है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से अभिप्राय विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं एवं सेवाओं के क्रय-विक्रय से है। विभिन्न देशों के बीच व्यापार होने के कारण इसे विदेशी व्यापार भी कहते हैं।

उदाहरण स्वरूप भारत का अमेरिका, इंग्लैंड, जापान और फ्रांस के बीच होने वाला व्यापार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार कहलाता है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में आयात व्यापार, निर्यात व्यापार तथा पुनर्निर्यात व्यापार शामिल होते हैं।

टिप्पणी

आंतरिक तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का भेद करते हुए हैबरलर ने कहा है कि ''आंतरिक व्यापार तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की विभाजन रेखा एक देश की सीमा होती है। एक देश की सीमा के अंदर होने वाला व्यापार आंतरिक व्यापार कहलाता है तथा देश की सीमा से बाहर होने वाला व्यापार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार कहलाता है।''

अंतर क्षेत्रीय व्यापार एवं अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में समानताएं व असमानताएं

प्रो. ओहलिन ने कहा है कि अंतर्क्षेत्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में कोई मौलिक अंतर नहीं है। ओहलिन के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार अंतर्क्षेत्रीय व्यापार की एक विशिष्ट दशा है। अत: अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए किसी पृथक सिद्धांत की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि दोनों प्रकार के व्यापारों में निम्न समानताएं पायी जाती है–

1. विशिष्टीकरण एवं श्रम विभाजन– आंतरिक एवं अंतर्राष्ट्रीय दोनों का ही आधार श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण है। क्षेत्रीय विशिष्टताओं के कारण एक देश का विभिन्न क्षेत्रों में व्यापार होता है। जैसे उत्तर प्रदेश में शक्कर उत्पन्न करने की अनुकूल दशाएं हैं अत: उत्तर प्रदेश शक्कर का व्यापार करता है। इसी प्रकार महाराष्ट्र में कपास उत्पन्न करने की अनुकूल दशाएं होने के कारण महाराष्ट्र कपास का उत्पादन करता है एवं व्यापार करता है। ठीक इसी प्रकार भिन्न-भिन्न देश अपनी-अपनी विशिष्टता के आधार पर उत्पादन करते हैं और व्यापार करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि दोनों ही व्यापारों का आधार श्रम विभाजन/विशिष्टीकरण है।

2. वस्तुओं व सेवाओं का विनिमय– आंतरिक व अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का उद्देश्य समान होता है। दोनों प्रकार के व्यापारों में विनिमय के द्वारा वस्तुओं तथा सेवाओं को किसी स्थान विशेष पर अधिक मात्रा में उपलब्ध/उत्पन्न करना होता है। इससे अतिरिक्त माल बिक जाता है और कमी वाले स्थानों पर उपलब्ध हो जाता है। अन्य शब्दों में, दोनों ही प्रकार के व्यापारों पर वस्तुओं तथा सेवाओं का विनिमय किया जाता है। मुद्रा के चलन ने इस कार्य को सरल एवं सुविधाजनक बना दिया है।

3. व्यापार के लिए दो पक्ष– जिस प्रकार आंतरिक व्यापार के लिए दो पक्ष होते हैं, ठीक उसी प्रकार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए भी कम से कम दो पक्ष होना आवश्यक है। ये दो पक्ष सरकार अथवा निजी व्यक्ति होते हैं।

4. अधिकतम लाभ– व्यापार आंतरिक हो अथवा अंतर्राष्ट्रीय दोनों का उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना होता है। आंतरिक व्यापार में व्यापारी अपनी वस्तु को उस स्थान पर बेचता है जहां उसकी पूर्ति कम होने के कारण ऊंचे मूल्य मिलते हैं। ठीक उसी प्रकार कमी वाले देशों में माल का निर्यात करके लाभ कमाया जाता है। अधिकतम लाभ की धारणा दोनों ही व्यापारों में पायी जाती है।

5. पारस्परिक संबंध एवं सहयोग– दोनों ही प्रकार के व्यापार में व्यापारियों के मध्य सांस्कृतिक एवं सामाजिक संबंध मजबूत होते हैं और पारस्परिक सहयोग की भावना में वृद्धि होती है। दोनों ही व्यापारों में एक-दूसरे के रीति-रिवाजों और परंपराओं का आदान-प्रदान होता है।

6. अधिकतम संतुष्टि– दोनों ही व्यापारों का उद्देश्य विनिमय द्वारा अधिकतम आवश्यकताओं की पूर्ति करके अधिकांश संतुष्टि प्राप्त करना होता है। इसी कारण उत्पादक उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करता है जिन वस्तुओं का उत्पादन करने में वे अधिक लाभदायक स्थिति में होते हैं और कम लागत पर अधिक उत्तम वस्तुएं उत्पन्न कर सकते हैं।

7. ऐच्छिक सौदा– दोनों पक्षों में होने वाला व्यापारिक सौदा ऐच्छिक होता है। जिस प्रकार आंतरिक व्यापार के अंतर्गत दो पक्षों को व्यापार करने के लिए कोई बाध्य नहीं कर सकता है उसी प्रकार दो देशों को भी व्यापार करने के लिए विवश नहीं किया जा सकता है।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि आंतरिक व्यापार और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार दोनों का स्वभाव एक समान है। दोनों का आधार एक है इसलिए आधुनिक अर्थशास्त्री इन दोनों को समान मानते हैं और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए किसी पृथक सिद्धांत की आवश्यकता नहीं समझते हैं। ओहलिन के शब्दों में प्रदेश व राष्ट्र भी उन्हीं कारणों से विशिष्टता प्राप्त करते हैं और एक-दूसरे से व्यापार करते हैं जिन कारणों से व्यक्ति विशिष्टता प्राप्त करते हैं और व्यापार करते हैं।

अंतर क्षेत्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में असमानताएं

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार आंतरिक व्यापार तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार समान नहीं है। इनमें काफी अधिक असमानता पायी जाती है। उनके अनुसार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक सिद्धांत का प्रतिपादन करने की आवश्यकता है इसीलिए रिकार्डो, मिल, स्मिथ आदि ने अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक सिद्धांत का निर्माण किया क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय तथा अंतर्क्षेत्रीय व्यापार में निम्न भिन्नताएं पायी जाती हैं–

1. श्रम तथा पूंजी की गतिशीलता में अंतर– एक ही देश के विभिन्न क्षेत्रों में श्रम तथा पूंजी गतिशील होते हैं किंतु राष्ट्रों के बीच श्रम तथा पूंजी में इस प्रकार की गतिशीलता नहीं पायी जाती है। विभिन्न देशों में भाषा, रीति-रिवाज, धर्म, सामाजिक दशाओं की भिन्नता, स्थानीय लगाव तथा परिवहन व्यय की अधिकता के कारण श्रम की गतिशीलता कम होती है। इसी प्रकार अधिक जोखिम, पूंजी की असुरक्षा एवं निरीक्षण में कठिनाई के कारण विनियोक्ता अपनी पूंजी को विदेशों में विनियोजित नहीं करना चाहते हैं इससे पूंजी की गतिशीलता में कमी आती है।

2. प्राकृतिक साधन तथा भौगोलिक स्थिति में अंतर– भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न प्रकार के प्राकृतिक साधन तथा भौगोलिक स्थितियां पायी जाती हैं जिसके कारण प्रादेशिक श्रम विभाजन तथा उद्योगों का स्थानीयकरण संभव होता है और इनसे प्राप्त होने वाले लाभ को स्थानांतरित नहीं किया जा सकता है।

3. उत्पादन की दशाओं में अंतर– सभी देशों में उत्पादन संबंधी सुविधाएं अलग-अलग होती हैं क्योंकि विभिन्न देशों की कर-प्रणाली, औद्योगिक व्यवस्था, सामाजिक सुरक्षा का प्रबंध, शिक्षा सुविधाएं, श्रम संघ तथा औद्योगिक गुटबंदी व नियम अलग-अलग होते हैं। इस कारण विभिन्न देशों में उत्पादन लागतों में अंतर आ जाता है। इसके विपरीत एक देश के अंदर वस्तुओं के उत्पादन की दशाएं लगभग एक सी होती हैं, जिसके कारण उत्पादन लागत में समान होने की प्रवृत्ति पायी जाती है।

टिप्पणी

4. बाजारों की पृथकता– अंतर्राष्ट्रीय व्यापार राजनैतिक तथा औद्योगिक घटकों को बाजारों से पृथक कर देते हैं। आर्थिक संसाधनों के स्थानांतरण में प्रतिबंध उपभोक्ताओं की रुचि, आदत तथा प्रथाओं में अंतर देशी बाजार को विदेशी बाजार से पृथक करते हैं। इन्हीं अंतरों के कारण सामान्य सिद्धांत अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में लागू नहीं होता है।

5. परिवहन व्यय में अंतर– एक ही देश के अंदर माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के लिए साधन सुलभता से प्राप्त हो जाते हैं, तथा इसमें परिवहन व्यय भी कम होता है। इसके विपरीत विदेशों में माल भेजने के लिए परिवहन साधन सरलता से उपलब्ध नहीं होते हैं और परिवहन व्यय आंतरिक व्यापार की अपेक्षा अधिक होते हैं।

6. मौद्रिक प्रणाली में अंतर– एक देश की सीमा के अंतर्गत एक ही मुद्रा का प्रचलन होने के कारण आंतरिक भुगतान में किसी प्रकार की कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती है। जबकि विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार की मुद्राएं प्रचलित होती हैं जिससे विदेशी विनिमय संबंधी अनेक समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं।

7. वस्तुओं के आयात-निर्यात में बाधा– आंतरिक व्यापार में स्वतंत्र प्रतियोगिता रहती है। अर्थात एक देश के भीतर व्यापार स्वतंत्रतापूर्वक किया जाता है। वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर आने-जाने पर कोई प्रतिबंध नहीं होता है लेकिन विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं के आने-जाने पर अनेक प्रतिबंध होते हैं जिनके कारण विदेशी व्यापार की स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में विभिन्न बाजारों में स्वतंत्र प्रतियोगिता नहीं होने के कारण मूल्यों में काफी भिन्नता पायी जाती है।

8. वर्ग भिन्नता– अंतर्क्षेत्रीय व्यापार एक ही वर्ग के विभिन्न क्षेत्रों में निवास करने वाले व्यक्तियों के मध्य होता है जबकि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार विभिन्न राष्ट्रों में रहने वाले व्यक्तियों के विभिन्न वर्गों के बीच होता है। लिस्ट के शब्दों में, ''आंतरिक व्यापार हमारे बीच और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार हमारे और विदेशों के बीच होता है।''

9. भिन्न राष्ट्रीय नीतियां एवं हस्तक्षेप– एक देश के आंतरिक व्यापार, उद्योग, वाणिज्य, मजदूरी, कीमत बीमा और करारोपण संबंधी कानून एवं नीतियां समान रहती हैं, किंतु विभिन्न देशों के बीच ऐसी व्यापारिक नीतियों एवं कानूनों में काफी भेद होता है। एक देश की आंतरिक सरकार तटकर नीति, अभ्यंश प्रणाली और विनिमय आदि नीतियों को निर्धारित करके हस्तक्षेप करती है। इसी आधार पर अंतर्राष्ट्रीय एवं अंतर्क्षेत्रीय व्यापार के मध्य भिन्नता पायी जाती है।

10. जीवन स्तर में भिन्नता– आंतरिक व्यापार के अंतर्गत ऐसे उत्पादकों के बीच वस्तुओं का विनिमय किया जाता है जिनके स्तर में समानता होती है जबकि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में ऐसे उत्पादकों के बीच वस्तुओं का विनिमय किया जाता है जिनके जीवन स्तर में भिन्नता होती है। आंतरिक व्यापार विश्लेषण इस मान्यता पर आधारित है कि एक समान कार्य करने वाले लोगों में समान जीवन स्तर की प्रवृत्ति होती है जबकि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में ऐसी कोई मान्यता नहीं होती है।

11. अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की कुछ विशिष्ट समस्याएं– अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की कुछ विशिष्ट समस्याएं होती हैं जैसे अंतर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या, अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की समस्या, अंतर्राष्ट्रीय संगठनों- जैसे यूरोपियन साझा बाजार आदि का जन्म,

टिप्पणी

अंतर्राष्ट्रीय पूंजी का आवागमन इत्यादि। आंतरिक व्यापार में ऐसी कोई समस्या पैदा नहीं होती है।

12. व्यापार एवं विनिमय नियंत्रण– अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में वस्तुओं व सेवाओं के आवागमन पर पर्याप्त नियंत्रण रखा जाता है। ये नियंत्रण आर्थिक दृष्टि से आवश्यक भी होते हैं लेकिन आंतरिक व्यापार में वस्तुओं व सेवाओं के आवागमन पर किसी प्रकार का कोई नियंत्रण नहीं होता है।

13. विभिन्न सुविधाओं में अंतर– एक देश के उत्पादकों को वहां की सरकार समान सुविधाएं प्रदान करती हैं परंतु विभिन्न देशों के उत्पादकों को समान सुविधाएं प्राप्त नहीं होती है उन्हें भिन्न-भिन्न सरकारों से भिन्न सुविधाएं प्राप्त होती हैं।

14. अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की समस्या– एक समान मुद्रा प्रणाली होने के कारण आंतरिक व्यापार में मौद्रिक सहयोग की कोई समस्या नहीं होती है किंतु विभिन्न राष्ट्रों में भिन्न-भिन्न मौद्रिक प्रणाली होने के कारण मौद्रिक सहयोग की समस्या होती है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापारः पृथक सिद्धांत की आवश्यकता

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक सिद्धांत की आवश्यकता के प्रश्न को लेकर अर्थशास्त्री एक मत नहीं है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री अंतर्राष्ट्रीय एवं अंतर्क्षेत्रीय व्यापार को अलग-अलग मानते हैं। इसके विपरीत ओहलिन अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को अंतर्क्षेत्रीय व्यापार की विशिष्ट दशा मानते हैं। उनके अनुसार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए किसी पृथक सिद्धांत की कोई आवश्यकता नहीं है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का दृष्टिकोण

स्मिथ, रिकार्डो तथा जे.एस. मिल आदि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के मतानुसार आंतरिक तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में मौलिक अंतर होता है। इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार, ''एक देश के भीतर श्रम व पूंजी में पूर्ण रूप से गतिशीलता पायी जाती है। गतिशीलता के अभाव को अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का मुख्य आधार स्वीकारा गया है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय नीतियां, विभिन्न राजनीतिक इकाइयां, मौद्रिक इकाइयों में भिन्नता, व्यापारिक नीतियां, तटकर विनिमय नियंत्रण, कोटा प्रणाली आदि ऐसे तत्व हैं जो अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को आंतरिक व्यापार से पृथक कर देते हैं। इन्हीं तथ्यों के आधार पर प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने यह निष्कर्ष निकाला की एक देश में वस्तु विनिमय के लिए जो दशाएं लागू होती हैं वे अंतर्राष्ट्रीय विनिमय में लागू नहीं होती। अतः अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक सिद्धांत की आवश्यकता है।

ओहलिन का दृष्टिकोण

आधुनिक अर्थशास्त्री अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और आंतरिक व्यापार में कोई मौलिक अंतर नहीं मानते अतः अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए किसी पृथक सिद्धांत की कोई आवश्यकता नहीं है। उनके अनुसार दोनों का आधार एक ही है। दोनों एक ही उद्देश्य की पूर्ति करते हैं दोनों में केवल श्रेणी का भेद है। दोनों की समस्याएं एक दूसरे से बहुत कुछ मिलती-जुलती है इसलिए दोनों प्रकार के व्यापार को समझने के लिए एक ही सिद्धांत होना चाहिए क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार अंतर्क्षेत्रीय व्यापार की ही एक विशिष्ट दशा है।

टिप्पणी

ओहलिन ने निम्नलिखित आधारों पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आंतरिक व्यापार के सिद्धांत को ही अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में लागू किया जा सकता है-

1. तुलनात्मक लागत सिद्धांत केवल अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में ही लागू नहीं होता- वास्तव में तुलनात्मक लागत सिद्धांत सब प्रकार के व्यापार का आधार है। तुलनात्मक लागत का सिद्धांत अंतर्क्षेत्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय दोनों प्रकार के विनिमय का आधार है। जब एक ही देश के दो क्षेत्रों में आपस में दो वस्तुओं का व्यापार होता है तो दोनों क्षेत्र इन विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन इसलिए करते हैं क्योंकि उनकी तुलनात्मक लागत कम है। ओहलिन के मतानुसार क्षेत्र एवं राष्ट्र एक-दूसरे के साथ विशिष्टीकरण और व्यापार उन्हीं कारणों से करते हैं जिनके कारण व्यक्ति विशिष्टीकरण और व्यापार करते हैं। अत: अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए किसी पृथक सिद्धांत की कोई आवश्यकता नहीं है।

2. श्रम तथा पूंजी की गतिशीलता का संबंध– जिस प्रकार श्रम और पूंजी विभिन्न राष्ट्रों के बीच अगतिशील होते हैं, उसी प्रकार देश के भीतर भी उत्पत्ति के साधनों की गतिशीलता में बाधाएं रहती है। हेबरलर के अनुसार - ''एक देश की सीमाओं के भीतर भी वास्तविक पूंजी को एक उत्पादन क्षेत्र से दूसरे उत्पादन क्षेत्र तक आसानी से स्थानांतरित नहीं किया जा सकता और एक ही देश के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तक पूंजीगत वस्तुओं के परिवहन लागत कभी-कभी दो देशों के बीच की परिवहन लागत से अधिक होती है इसलिए यह कहा जा सकता है कि उत्पत्ति के साधन देश में पूर्ण गतिशील तथा विभिन्न देशों में पूर्ण अगतिशील होते हैं।'' इसके अतिरिक्त आजकल परिवहन देशों के बीच उत्पत्ति के साधन पूर्णतया अगतिशील नहीं रहते।

3. विभिन्न मुद्रा प्रणालियों के आधार पर अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक सिद्धांत की आवश्यकता नहीं– एक देश के भीतर विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग मुद्राएं होती हैं और आंतरिक व्यापार में भी मुद्राओं के बदलने की समस्या उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार मुद्राओं की भिन्नता के आधार पर अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को आंतरिक व्यापार से पृथक नहीं किया जा सकता है।

4. उत्पत्ति की सुविधाओं में भिन्नता– विभिन्न देशों की भांति एक देश में भी उत्पत्ति की सुविधाएं भिन्न हो सकती है। जिस प्रकार विभिन्न देशों में वस्तुओं की उत्पादन संबंधी सुविधाएं भिन्न होती हैं उसी प्रकार एक देश में भिन्न-भिन्न भागों में भी उत्पादन की सुविधाएं अलग-अलग हो सकती हैं। केंद्र तथा राज्य सरकारों द्वारा दी गयी सुविधाओं में अंतर होता है। विभिन्न राज्यों की कर नीति व उत्पादन सुविधाएं अलग-अलग हो सकती हैं तथा एक देश के विभिन्न भागों में प्राकृतिक साधन भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। अत: जब आंतरिक व्यापार व अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की दशा मिलती-जुलती है तब पृथक सिद्धांत की कोई आवश्यकता नहीं है।

5. आंतरिक व अंतर्राष्ट्रीय विनिमय दोनों अदल-बदल ही हैं– वस्तु विनिमय के आधार पर आंतरिक तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में भेद करना उचित नहीं है क्योंकि दोनों प्रकार के व्यापारों में वस्तु विनिमय का स्वरूप पाया जाता है। मुद्रा की उपस्थिति ने व्यापार को सरल व सुविधाजनक बना दिया है।

मूल्य निर्धारण के सामान्य सिद्धांत को अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर लागू करते हुए ओहलिन कहते हैं कि यदि इसमें स्थान तत्व को जोड़ दिया जाए तो इसे अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में लागू किया जा सकता है। उनके अनुसार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए स्थान तत्व अधिक महत्वपूर्ण हैं क्योंकि उत्पत्ति के कुछ साधन कुछ स्थानों तक ही सीमित रहते हैं और परिवहन लागतें वस्तुओं के स्वतंत्र प्रवाह में अवरोध पैदा करती है। गतिशीलता/अगतिशीलता स्थान तत्व से संबंधित है।

प्रो. ओहलिन ने अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के पृथक सिद्धांत के विरोध में जो तर्क दिए हैं उनके आधार पर कहा जा सकता है कि जो सिद्धांत आंतरिक व्यापार पर भी लागू होते हैं वही अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर भी लागू होते हैं। अत: इसके लिए किसी पृथक सिद्धांत की कोई आवश्यकता नहीं है।

इसी आधार पर ओहलिन कहते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार अंर्तक्षेत्रीय व्यापार की एक विशिष्ट दशा है। प्रो. हैबरलर के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धांत को सामान्य संतुलन का ही एक विशिष्ट प्रयोग समझना चाहिए। क्षेत्र को देश के समान और अंतर्क्षेत्रीय व्यापार को अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के समान ही माना जाना चाहिए।

अपनी प्रगति जांचिए

3. निम्न में से किन अर्थशास्त्रियों ने अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक सिद्धांत का निर्माण किया

   (क) रिकार्डो　　(ख) जे.एस. मिल

   (ग) स्मिथ　　(घ) उपरोक्त सभी

4. निम्न में से कौन–से तथ्य अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को आंतरिक व्यापार से पृथक करते हैं?

   (क) राष्ट्रीय नीतियां　　(ख) कोटा प्रणाली

   (ग) तटकर विनिमय नियंत्रण　　(घ) उपरोक्त सभी

3.4 आर्थिक विकास में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का महत्व

वर्तमान समय में विश्व की अर्थव्यवस्था में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार ने ऐसे अनेक राष्ट्रों के विकास कार्य में सहयोग किया है जो आज विश्व के समृद्ध देश समझे जाते हैं। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार विभिन्न रसों का आनंद लेने और जीवन स्तर को ऊंचा बनाए रखने की सुविधाएं प्रदान करता है। मार्शल के मतानुसार विदेशी व्यापार से दोहरा लाभ होता है। एक ओर तो देश में उपलब्ध साधनों का अधिकतम विदोहन किया जा सकता है दूसरी ओर विदेशों से वस्तुएं प्राप्त करके देशवासियों की आवश्यकताओं को संतुष्ट किया जा सकता है तथा उनका जीवन स्तर ऊंचा किया जा सकता है।

आर्थिक विकास में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के अनेक महत्व प्राप्त होते हैं। उनमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं-

टिप्पणी

1. भौगोलिक श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण– अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण ही भौगोलिक श्रम विभाजन का उद्‌भव होता है और प्रत्येक देश वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करता है। अत: सभी देश उन वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जिनके लिए उनकी भौगोलिक तथा आर्थिक परिस्थितियां अनुकूल होती हैं इससे श्रमिकों की कार्यक्षमता और उत्पादन में वृद्धि होती है साथ ही उत्पादन व्यय कम हो जाता है।

2. उत्पादन तकनीकी में सुधार– अंतर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता के कारण प्रत्येक देश के उत्पादक अपने उत्पादन के स्तर को बढ़ाने के लिए तथा उत्पादन लागत को कम करने के प्रयास करते हैं ताकि वे विदेशी प्रतियोगिता का सामना कर सकें इसके लिए वे उत्पादन तकनीक में सुधार करते हैं अथवा नवीन तकनीक की खोज करते हैं इससे प्रबंधकीय कुशलता में वृद्धि होती है।

3. उच्च जीवन स्तर– अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण उपभोक्ताओं को वस्तुएं आसानी से सस्ती कीमत पर मिल जाती है इसके साथ-साथ उपभोक्ताओं को वे वस्तुएं भी मिल जाती हैं जिनका उत्पादन उनके देश में नहीं किया जा सकता है। फलस्वरूप उनका जीवन स्तर ऊंचा हो जाता है।

4. आर्थिक संकट में सहायक– किसी देश में अकाल, महामारी, युद्ध अथवा अन्य संकटकालीन स्थिति में विदेशों से वस्तुओं का आयात करके संकट को टाला जा सकता है। देश की आर्थिक स्थिति को सुधारा जा सकता है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की सहायता से अकालों/महामारी आदि व्यापकता को कम किया है।

5. कीमत समानता की प्रवृत्ति– अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण वस्तुओं तथा सेवाओं का क्रय-विक्रय अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होता है जिससे परस्पर प्रतियोगिता के कारण सभी देशों में वस्तुओं व सेवाओं की कीमतों में समानता आती है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण उपभोक्ताओं को वस्तुएं लगभग समान कीमतों पर मिल जाती है तथा इससे एकाधिकारिक प्रवृत्तियां भी हतोत्साहित होती हैं और उपभोक्ताओं को लाभ होता है।

6. औद्योगिक विकास– जिन देशों के पास कच्चे माल व अन्य साधनों का अभाव होता है वह उसे विदेशी व्यापार के माध्यम से उन देशों से आयात कर सकते है जिनके पास ये पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। आज अर्द्धविकास राष्ट्रों में औद्योगिकरण विदेशी व्यापार की सहायता से ही हो रहा है। इस प्रकार किसी भी राष्ट्र के साधनों का सर्वोत्तम उपयोग करने में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार सहायक होता है।

7. प्राकृतिक साधनों का समुचित प्रयोग– अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के अंतर्गत देश में ऐसे उद्योगों को विकसित किया जाता है जिसके लिए दशाएं सर्वाधिक अनुकूल रहती हैं। इन उद्योगों से संबंधित प्राकृतिक साधन विपुल मात्रा में उपलब्ध होते हैं। देश में इन्हीं उद्योगों को स्थापित किया जाता है ताकि उपलब्ध प्राकृतिक साधनों का समुचित प्रयोग किया जा सके। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण ही देश में उत्पादन शक्तियां देश के प्राकृतिक साधनों का स्वतंत्रतापूर्वक समुचित प्रयोग करती हैं जिससे अधिकतम लाभ की संभावना रहती है।

8. एकाधिकारिक प्रवृत्ति पर रोक– अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप किसी भी देश में एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न नहीं होती है क्योंकि सदैव विदेशी प्रतियोगिता का भय बना रहता है। इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार एकाधिकारी प्रवृत्ति पर रोक लगाता है।

9. सांस्कृतिक संबंध एवं अंतर्राष्ट्रीय सहयोग– अंतर्राष्ट्रीय व्यापार विभिन्न राष्ट्रों के नागरिकों को संपर्क में लाता है जिसके कारण विभिन्न राष्ट्रों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक संबंधों में दृढ़ता आती है, और अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना बढ़ती है साथ ही अंतर्राष्ट्रीय एकता में भी वृद्धि होती है।

10. श्रम-विभाजन तथा विशिष्टीकरण के लाभ– जिस प्रकार एक देश में श्रम विभाजन को अपनाकर उत्पादक कुशलतापूर्वक अधिकतम मात्रा में उत्पादन कर सकते है उसी प्रकार अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भौगोलिक अथवा क्षेत्रीय श्रम विभाजन से कुल उत्पादन को अधिकतम किया जा सकता है। क्षेत्रीय विशिष्टीकरण के परिणामस्वरूप ही जो देश जिन वस्तुओं का उत्पादन ऊंची लागतों पर कर पाते है उनके द्वारा उन वस्तुओं को कम कीमतों पर विदेशों से आयात किया जा सकता है। श्रम विभाजन के कारण विभिन्न देश उन वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जिनमें उनकी लागत न्यूनतम होती है और उन वस्तुओं का आयात कर लेते हैं जिनकी लागत अधिक होती है। इस प्रकार से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार लाभ को प्राप्त करते है।

11. बाजार का विस्तार– विदेशी व्यापार के परिणामस्वरूप बाजार का विस्तार होता है। यदि बाजार देश की सीमा के भीतर तक ही सीमित रहता है तो मांग कम होती है तथा विक्रय भी कम होता है और लाभ भी कम ही रहते हैं। वस्तु का अंतर्राष्ट्रीय बाजार होने से मांग व्यापक होती है अधिक मांग के कारण उत्पादन बढ़ता है तथा संबंधित साधनों का पूर्ण प्रयोग संभव होता है। विदेशी व्यापार के कारण ही भारत की चाय एवं मसालों का प्रयोग विदेशों में व्यापक पैमाने पर किया जाता है।

12. रोजगार में वृद्धि– अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण क्षेत्रीय श्रम-विभाजन संभव होता है। जिसके कारण उत्पादन एवं रोजगार की मात्रा में वृद्धि होती है। विदेशी व्यापार से निर्यातक उद्योगों में उत्पादन बढ़ता है और श्रमिकों के रोजगार में वृद्धि होती है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से ही अधिकतम रोजगार संभव होता है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का देश की अर्थव्यवस्था पर गुणक प्रभाव पड़ता है। इससे देश में आय, रोजगार तथा उत्पादन में वृद्धि होती है।

13. राष्ट्रों के आर्थिक विकास में सहायक– अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा एक देश तेजी से अपना आर्थिक विकास कर सकता है। विकासशील देशों में कुशल श्रम, मशीनें, कच्चेमाल, शक्ति के साधन तथा पूंजी का अभाव पाया जाता है। अतः विकासशील देश इनका आयात करके देश के आर्थिक विकास को गति प्रदान करते हैं। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा विदेशी पूंजी एवं प्राकृतिक साधनों का अनुकूलतम उपयोग किया जाता है।

14. सभ्यता का विकास– अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के माध्यम से विभिन्न देशों में (अविकसित, विकासशील तथा विकसित राष्ट्र) आपसी संपर्क होता है। जब अर्द्धविकसित

टिप्पणी

राष्ट्र विकसित राष्ट्रों के संपर्क में आते हैं तो उनके प्रभाव में आने के कारण उनमें नयी-नयी अभिरुचियों का विकास होता है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के उपरोक्त लाभ सभी राष्ट्रों को समान रूप से प्राप्त नहीं होते है। किसी भी देश को अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभों की मात्रा व्यापार की शर्तों, व्यापारिक नीतियों श्रम की सापेक्षिक कार्यक्षमता तथा कीमतों के अनुपात के अंतर द्वारा निर्धारित होती है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की हानियां

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से केवल लाभ ही प्राप्त नहीं होते कुछ हानियां होने की भी आशंका होती है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रमुख हानियां निम्नलिखित हैं-

1. विदेशों पर निर्भरता– अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण विभिन्न देश एक दूसरे पर निर्भर हो जाते हैं क्योंकि वे कुछ वस्तुओं का उत्पादन स्वयं करते हैं लेकिन कुछ के आयात के लिए विदेशों पर निर्भर रहने लगते हैं। युद्ध अथवा आर्थिक संकट उत्पन्न होने पर विदेशी व्यापार अवरुद्ध हो जाता है। यह आर्थिक संकट धीरे-धीरे विश्व संकट का रूप धारण कर लेता है। यदि किसी देश की अर्थव्यवस्था असंतुलित हो जाती है अथवा उसमें मंदी का प्रभाव पड़ता है तो इसका दुष्प्रभाव दूसरे देशों की अर्थव्यवस्था पर भी पड़ता है जिनसे उनके आपसी व्यापारिक संबंध होते हैं। सन् 1929 में आर्थिक संकट के दौरान विदेशी व्यापार के कारण मंदी की दशाएं लगभग विश्व के सभी देशों में फैल गयी थीं। विश्वव्यापी महामंदी अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का ही परिणाम थी।

2. घरेलू उद्योगों पर घातक प्रभाव– स्वतंत्र विदेशी व्यापार देश के घरेलू उद्योगों के लिए बहुत हानिकारक होता है। कभी-कभी तो विदेशी व्यापार के कारण घरेलू उद्योग-धंधे नष्ट हो जाते हैं जिससे श्रम तथा पूंजी दोनों बेकार हो जाते हैं। इससे विकसित देशों को तो लाभ होता है लेकिन पिछड़े देश और अधिक पिछड़ जाते हैं। भारत के लघु एवं कुटीर उद्योगों का पतन इंग्लैंड के मशीनों द्वारा निर्मित माल के आयात के कारण ही हुआ था।

3. राशिपातन– अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के माध्यम से कभी-कभी विकसित देशों द्वारा पिछड़े हुए देशों में वस्तुओं का राशिपातन किया जाता है। राशिपातन से तात्पर्य अपने देश की वस्तु को दूसरे देश में कम मूल्य पर बेचना होता है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में अनेक राष्ट्र अपनी वस्तु को दूसरे राष्ट्रों में अत्यधिक कम मूल्य पर इस उद्देश्य से बेचते हैं ताकि वे उस देश के बाजार पर अपना कब्जा कर सके। इससे आयातकर्ता देशों के उद्योगों का पतन होता है। इसके फलस्वरूप ही एकाधिकार की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है और जनता का शोषण होता है। इससे स्पष्ट है कि राशिपतन से देशी उद्योगों पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ता है और शीघ्र ही वे ठप्प हो जाते हैं। जब एक बार देशी उद्योग धंधे समाप्त हो जाते हैं तो विदेशी उद्योगपतियों द्वारा पुनः अपने माल का मूल्य बढ़ा दिया जाता है।

4. विलासिता व हानिकारक वस्तुओं का आयात– अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण कभी-कभी विलासिता व हानिकारक वस्तुओं के आयात को प्रोत्साहन मिलता है जिससे देशवासियों के स्वास्थ्य एवं चरित्र पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

5. देश का एकाकी विकास– अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण उत्पादन के विशिष्टीकरण का जन्म होता है। जिसके कारण देश में केवल उन्हीं उद्योगों का विकास

किया जाता है जिनमें उत्पादित वस्तुओं की मांग विदेशों में की जाती है और अन्य साधन बेकार पड़े रहते हैं तथा रोजगार के स्तर में कमी आती है। देश का आर्थिक ढांचा असंतुलित हो जाता है।

6. विदेशी प्रतियोगिता से हानि– अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण देशी उद्योग के लिए विदेशी प्रतियोगिता का खतरा उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी तो विदेशी प्रतियोगिता के कारण देशी उद्योगों को बहुत हानि होती है। विदेशी व्यापार के कारण देश की औद्योगिक इकाइयों को विदेशी उद्योगों से प्रतियोगिता करनी पड़ती है। जब उद्योग विदेशी प्रतियोगिता के सामने टिक नहीं पाते हैं तो उनका ह्रास होने लगता है क्योंकि विकसित देशों में उत्पादित वस्तुएं उन्नत तकनीक के कारण अधिक सस्ती एवं टिकाऊ होती है। विदेशी प्रतियोगिता के कारण ही उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के लघु उद्योगों का पतन हुआ था तथा कृषि पर जनसंख्या का भार बढ़ जाने के कारण अर्थव्यवस्था में असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो गयी।

7. न्यूनाधिक उत्पादन की समस्या– अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण बाजार का विस्तार होता है जिससे बाजारों की मांग का ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता। इससे विदेशों में अति उत्पादन अथवा न्यून उत्पादन की समस्या उत्पन्न हो जाती है। यह समस्या आर्थिक विकास के लिए काफी घातक होती है।

8. कृषि प्रधान राष्ट्रों को हानि– अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का लाभ केवल औद्योगिक दृष्टि से विकसित लोगों को ही प्राप्त होता है। कृषि प्रधान देशों को प्राय: हानि होती है। इसका प्रमुख कारण प्राथमिक (कृषि) क्षेत्र में उत्पत्ति ह्रास नियम का लागू होना होता है। कृषि प्रधान देश कृषिगत वस्तुओं का निर्यात करते हैं। इन क्षेत्रों में उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने के कारण उत्पादन व्यय बढ़ जाते हैं। इसके विपरीत ये देश ऐसी वस्तुओं का आयात करते हैं जिन पर औद्योगीकरण के साथ-साथ उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होते हैं।

9. प्राकृतिक साधनों का अधिक शोषण– अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण कुछ देश अपने कच्चे माल तथा बहुमूल्य खनिज का विदेशों को ज्यादा निर्यात कर देते हैं। ऐसे पदार्थों का जरूरत से ज्यादा निर्यात कर देते हैं जिन्हें पुन: स्थापित नहीं किया जा सकता है अथवा विदेशी बाजारों के लिए इतनी अधिक मात्रा में उत्पादन करने लगते हैं कि उनके प्राकृतिक साधन प्राय: समाप्त हो जाते हैं। इससे देश के दीर्घकालिक औद्योगिक विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता है। यदि इन्हें बचाकर रखा जाए तो भविष्य में आर्थिक लाभ कमाने के लिए इन्हें प्रयुक्त किया जा सकता है। भारत से भी मैगनीज, अभ्रक, लोहा आदि ऐसे खनिज हैं जिनका निरंतर निर्यात किया जाता रहा है।

10. अंतर्राष्ट्रीय वैमनस्य– अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में बढ़ती हुई प्रतियोगिता के कारण प्रत्येक देश अपने निर्यातों को बढ़ाना चाहता है। इसके लिए वह नए-नए बाजारों की खोज करता है और उन्हें हथियाना चाहता है। विदेशी बाजारों पर अपना कब्जा करने के लिए अत्यधिक प्रतिस्पर्धा अंतर्राष्ट्रीय वैमनस्य के वातावरण को जन्म देती है। बाजारों को प्राप्त करने के साथ-साथ कच्चे माल को प्राप्त करने के लिए भी प्रतियोगिता होती है जिससे युद्धों का जन्म होता है और उपनिवेशवाद को प्रोत्साहन मिलता है।

टिप्पणी

11. जीवन स्तर का ह्रास– कभी-कभी विदेशी व्यापार के लाभ को प्राप्त करने के लिए व्यापारी वर्ग स्वदेशी माल का आवश्यकता से अधिक निर्यात कर देते हैं, जिससे देश में उपभोग की वस्तुओं में कमी हो जाती है तथा वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाती हैं। कभी-कभी देश में अन्य देशों से पर्याप्त मात्रा में आयात न होने के कारण भी ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है जिसका देशवासियों के जीवन स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

12. आर्थिक शोषण– अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण संपूर्ण विश्व दो भागों में बंट गया है। अल्पविकसित देश तथा विकसित देश और आर्थिक दृष्टि से कमजोर होने के नाते अल्पविकसित देशों को ही प्रतिकूल व्यापार शर्तों पर व्यापार करना पड़ता है अर्थात विकसित देशों द्वारा अल्पविकसित देशों का शोषण किया जाता है।

13. देश का एकांगी विकास– अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, भौगोलिक श्रम-विभाजन अथवा विशेषज्ञता के आधार पर किया जाता है, अर्थात प्रत्येक देश केवल उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करता है जिनमें उसे तुलनात्मक लाभ प्राप्त होता है। इस प्रकार देश में सभी उद्योग-धंधों का विकास न होकर केवल कुछ ही उद्योग-धंधों का विकास संभव होता है। इस प्रकार के एकांगी विकास से देश के कई साधन बेकार ही पड़े रहते हैं।

इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से बहुत सी हानियां होती हैं। जब दो ऐसे देशों के बीच व्यापार होता है जो आर्थिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में होते हैं तो पिछड़े/अल्पविकसित देश को हानि होती है और यदि दोनों देश समान अवस्था वाले है तो लाभांवित होते हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

5. श्रम विभाजन के आधार पर एक देश को उस वस्तु का उत्पादन करना चाहिए जिसमें उत्पादन लागत

   (क) न्यूनतम हो　　(ख) अधिकतम हो

   (ग) स्थिर हो　　(घ) शून्य हो

6. जब कोई वस्तु विदेशों में उत्पादन लागत से कम मूल्य में बेचा जाता है तो वह कहलाता है

   (क) विनिमय नियंत्रण　　(ख) अवमूल्यन

   (ग) अधिक मूल्यन　　(घ) राशिपातन

3.5 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धांत : निरपेक्ष और तुलनात्मक लाभ

एडम स्मिथ ने अंतर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन पर विशेष बल दिया और बताया कि अंतर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन के कारण ही विदेशी व्यापार से लाभ होता है। उनका सुझाव था कि प्रत्येक देश को अपने उपलब्ध साधनों का प्रयोग समस्त आवश्यकताओं की वस्तुओं के उत्पादन में न करके केवल उन वस्तुओं के उत्पादन में करना चाहिए जिनमें उन्हें अधिकतम लाभ प्राप्त हो। अर्थात प्रत्येक राष्ट्र ऐसी वस्तु का उत्पादन करे जिन्हें वह तुलनात्मक रूप में

टिप्पणी

कम लागत पर बना सकता है तथा अन्य देशों से उन वस्तुओं का आयात करे जिनकी लागत उनके देश में अन्य देशों की तुलना में अधिक हो। इस प्रकार स्मिथ के अनुसार देशों में होने वाले व्यापार से विश्व के उत्पादन के साधनों का कुशलतम प्रयोग एवं वितरण संभव होगा तथा व्यापार करने वाले देशों की आय में वृद्धि होगी तथा लाभ प्राप्त होगा। स्मिथ का विश्वास था कि स्वतंत्र विदेशी व्यापार से बाजार का विस्तार होता है जिससे उत्पादकता बढ़ती है। यह सब राष्ट्रों के हित में होता है क्योंकि इससे साधनों को ऐसे उत्पादन में लगाया जाता है जिससे उत्पादकता बढ़ती है और अतिरिक्त उत्पादन से आवश्यकता की वस्तुओं को अन्य देशों से आयात करके संतुष्टि एवं लाभ में वृद्धि की जा सकती है।

स्मिथ का मत है कि दो देशों में व्यापार उस स्थिति में होता है जब उनमें से एक देश को एक वस्तु के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ प्राप्त होता है तथा दूसरे देश को दूसरी वस्तु के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ प्राप्त होता है। स्मिथ के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा प्राप्त होने वाले लाभ अंतर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन के परिणाम होते हैं।

सिद्धांत की मान्यताएं

1. विश्व में व्यापार केवल दो देशों A तथा B में तथा दो वस्तुओं X तथा Y के बीच होता है।
2. उत्पादन में स्थिर प्रतिफल का नियम लागू होता है।
3. प्रत्येक देश कितनी मात्रा में वस्तु का उत्पादन कर सकता है।

सिद्धांत की व्याख्या

दोनों देश A तथा B में श्रम उत्पादन का एक मात्र साधन है। श्रम की सहायता से दोनों देशों द्वारा X तथा Y वस्तु का उत्पादन किया जाता है। स्मिथ के निरपेक्ष सिद्धांत को निम्न तालिका द्वारा समझाया जा सकता है।

लागतों में निरपेक्ष अंतर

देश	वस्तु X	वस्तु Y
A	10	5
B	5	10

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है कि श्रम की एक इकाई से देश A 10 X अथवा 5 Y वस्तुओं का उत्पादन कर सकता है। इसी प्रकार देश B श्रम की एक इकाई का प्रयोग करके 5 X अथवा 10 Y वस्तुओं का उत्पादन कर सकता है। इस स्थिति में देश A को X वस्तु का उत्पादन करने में निरपेक्ष लाभ प्राप्त होगा क्योंकि $(10x > 5x)$ और देश B को Y वस्तु का उत्पादन करने से निरपेक्ष लाभ की प्राप्ति होगी क्योंकि $10y > 5y$ है। इससे स्पष्ट है कि A देश में X तथा Y वस्तु की लागत का अनुपात 10:5 अथवा 2:1 है जबकि B देश में X तथा Y वस्तु की लागत का अनुपात 5:10 या 1:2 है। यदि A देश वस्तु X के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करे तथा B देश से Y वस्तु का आयात

टिप्पणी

कर ले इसी प्रकार देश B y वस्तु में विशिष्टीकरण प्राप्त कर ले तथा X वस्तु को A देश से आयात कर ले तो दोनों देशों को लाभ प्राप्त होंगे।

विशिष्टीकरण से पूर्व– जब दोनों देश विशिष्टिकरण को नहीं अपनाते और दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन अपने देश में करते हैं तो उत्पादन निम्नवत होगा–

देश A = 10 इकाई X + 5 इकाई y

देश B = 5 इकाई X + 10 इकाई y

कुल उत्पादन = 15 इकाई X 15 इकाई y

विशिष्टीकरण के पश्चात जब दोनों देश विशिष्टीकरण को अपनाते हैं तो देश A केवल x वस्तु का उत्पादन करेगा तथा देश B केवल y वस्तु का उत्पादन करेगा। ऐसी स्थिति में उत्पादन निम्नवत होगा।

देश A = 20 x

देश B = 20 y

विशिष्टीकरण से पूर्व दोनों देश दोनों वस्तुओं की 15:15 इकाइयों का उत्पादन करते हैं। विशिष्टीकरण के बाद देश A श्रम की सभी इकाइयों को X वस्तु के उत्पादन में लगा देता है तथा B देश संपूर्ण श्रम को Y वस्तु के उत्पादन में लगा देता है तो दोनों मिलकर X की 20 तथा Y की भी 20 इकाइयों का उत्पादन करते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि उतना ही श्रम लगाकर A देश X वस्तु की 20 इकाइयों का उत्पादन करता है तथा देश B भी वस्तु Y की 20 इकाइयों का उत्पादन करता है। विशिष्टीकरण के बाद 5-5 इकाइयों का लाभ प्राप्त हो रहा है। यही अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का लाभ है। स्मिथ के अनुसार यदि विशिष्टीकरण किया जाए तो कार्यक्षमता बढ़ती है तथा उत्पादन में भी वृद्धि होती है।

लागतों के निरपेक्ष अंतर को निम्न चित्र द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है–

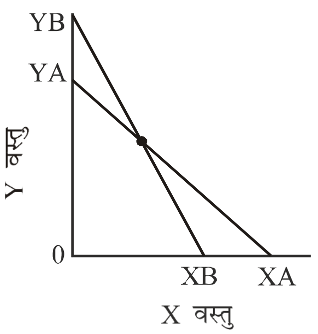

उपर्युक्त चित्र में $Y_A X_A$ देश के उत्पादन वक्र हैं जो यह स्पष्ट करता है कि A देश Y वस्तु के लिए OY_A का उत्पादन करता है तथा वह X वस्तु की OX_A मात्रा का उत्पादन करता है। इसी प्रकार $Y_B X_B$ देश B का उत्पादन वक्र है। देश B या तो Y वस्तु की OY_B का अथवा X वस्तु की OX_B मात्रा का उत्पादन करता है। अत: स्पष्ट है कि देश A को x वस्तु के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ हो रहा है तथा देश B को y वस्तु का उत्पादन करने से निरपेक्ष लाभ हो रहा है। देश A को $X_B – X_A$ के बराबर लाभ प्राप्त हो रहा है।

टिप्पणी

इस प्रकर स्मिथ स्पष्ट करते हैं कि विशिष्टीकरण से कार्यक्षमता तथा उत्पादन में वृद्धि होती है तथा स्वतंत्र अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से अंतर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन प्रोत्साहित होता है। क्योंकि प्रत्येक देश उन वस्तुओं का उत्पादन करेगा जिन्हें वह कम लागत अर्थात सस्ती दर पर उत्पन्न कर सकता है दोनों में एक-एक वस्तु का कम लागत पर उत्पादन हो रहा है अतः वह उसी का उत्पादन करेंगे तथा निर्यात करेंगे।

सिद्धांत की आलोचना

व्यावहारिक दृष्टि से स्मिथ का सिद्धांत स्पष्ट एवं विश्वसनीय नहीं है। यह सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि एक देश को किसी न किसी वस्तु के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ होना चाहिए ताकि उसका निर्यात किया जा सके। स्मिथ के निरपेक्ष लाभ सिद्धांत की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि यह सिद्धांत अवास्तविक, अस्पष्ट, अनिश्चित एवं कमजोर है। इनके अनुसार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए आवश्यक है कि एक निर्यातक देश को एक दी हुई श्रम एवं पूंजी की मात्रा से दूसरे देश की तुलना में अधिक उत्पादन करने की क्षमता अवश्य होनी चाहिए। लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं होता क्योंकि अनेक अल्पविकसित देश उत्पादन में निरपेक्ष लाभ न रखते हुए भी, अन्य देशों के साथ व्यापारिक संबंध रखते हैं।

रिकार्डो का तुलनात्मक लागत सिद्धांत

एडम स्मिथ ने विदेशी व्यापार के कारणों तथा उसकी शर्तों को निर्धारित करने वाले तत्वों की विस्तृत एवं संतोषजनक व्याख्या प्रस्तुत नहीं की। स्मिथ के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार, अंतर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन से प्राप्त होने वाले लाभ है। इस प्रकार प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित तुलनात्मक लागत सिद्धांत विभिन्न देशों द्वारा वस्तुओं के उत्पादन में श्रम विभाजन सिद्धांत का विस्तार है। इस सिद्धांत का वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादन का श्रेय डेविड रिकार्डो को जाता है। रिकार्डो ने स्पष्ट किया है कि तुलनात्मक लागत का सिद्धांत दो देशों के बीच आयात व निर्यात के स्वरूप को निर्धारित करता है।

सैम्यूलसन के मतानुसार लाभ की अवहेलना करने वाले राष्ट्र को जीवन स्तर एवं विकास की संभावित दर के रूप में भारी कीमत चुकानी पड़ती है।

तुलनात्मक लागत सिद्धांत

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर आधारित दो देशों में उत्पत्ति के साधनों में विभिन्नता होती है जो देशों की तुलनात्मक लागत की भिन्नता को प्रकट करती है। स्वतंत्र व्यापार होने की स्थिति में प्रत्येक देश उन वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करेगा जिसके उत्पादन के लिए उसके पास आवश्यक साधन उपलब्ध हैं। एक देश ने जिन वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण किया है वह उनके अतिरेक का निर्यात करेगा तथा वह उन वस्तुओं को आयात करेगा जिन्हें वह तुलनात्मक रूप से कम लागत पर तैयार नहीं कर सकता है अर्थात जिनका उत्पादन करने में उसे अधिक लागत आती है।

रिकार्डो का तुलनात्मक लागत सिद्धांत श्रम के मूल्य सिद्धांत पर आधारित है। इन्होंने श्रम को मूल्य की वास्तविक लागत का आधार माना है। यह स्पष्ट करता है कि वस्तुओं का परस्पर विनिमय उनके उत्पादन में लगे श्रम के आधार पर निश्चित होता है। कहने का अर्थ यह है कि किसी वस्तु का मूल्य उसकी श्रम लागत पर निर्भर करता है।

टिप्पणी

रिकार्डो के अनुसार, लागतों में निरपेक्ष अंतर बल्कि तुलनात्मक अंतर दो देशों के बीच व्यापार संबंध को निर्धारित करता है। जब कोई देश किसी अन्य देश के साथ व्यापार करता है तो वह उन वस्तुओं का निर्यात करेगा जिनमें उनकी तुलनात्मक उत्पादन लागतें कम हैं और उन वस्तुओं का आयात करेगा जिनमें उनकी तुलनात्मक उत्पादन लागतें अधिक हैं। रिकार्डो के अनुसार, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार यही है।

रिकार्डो के तुलनात्मक लागत सिद्धांत की मान्यताएं

रिकार्डो का तुलनात्मक लागत सिद्धांत निम्न मान्यताओं पर आधारित है–

1. केवल श्रम ही उत्पत्ति का साधन है,
2. श्रमिकों में पूर्ण प्रतियोगिता होती है,
3. व्यापार करने वाले केवल दो देश हैं,
4. उत्पादित की जाने वाली वस्तुएं केवल दो हैं,
5. श्रम ही वास्तविक लागत का आधार है,
6. श्रम समरूप होता है,
7. दोनों देशों में पूर्ण प्रतियोगिता की दशा विद्यमान होती है,
8. दोनों देशों में साधन पूर्णरूप से गतिशील होते है,
9. दोनों देशों में उत्पत्ति के साधनों को पूर्ण रोजगार प्राप्त होता है,
10. दोनों देशों में स्वतंत्र व्यापार होता है,
11. परिवहन लागतें नहीं होती हैं।
12. उत्पादन में स्थिर प्रतिफल का नियम लागू होता है।

तुलनात्मक लागत सिद्धांत की व्याख्या

तुलनात्मक लागत सिद्धांत के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार इसलिए होता है कि विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न वस्तुओं का उत्पादन में भिन्न-भिन्न लाभ होता है। विभिन्न लाभों को निर्धारित करने में आर्थिक साधनों का महत्वपूर्ण हाथ रहता है। जैसे अनुकूल जलवायु, कच्चे माल की पूर्ति, अनुकूल भूमि व तकनीकी प्रगति के कारण अधिक कार्यकुशल श्रम शक्ति आदि।

इस सिद्धांत के प्रतिपादक रिकार्डो ने सिद्धांत की व्याख्या इस प्रकार की है– दो व्यक्ति हैं तथा वे दोनों ही जूते व टोप बना सकते हैं। इनमें एक व्यक्ति दूसरे की अपेक्षा दोनों ही कार्यों में अधिक श्रेष्ठ है, परंतु वह टोप बनाने में अपने प्रतियोगी से 20 प्रतिशत अधिक तथा जूता बनाने में (33.5) या 33½ प्रतिशत अधिक कुशल है। क्या यह दोनों व्यक्तियों के हित में नहीं होगा कि कुशल व्यक्ति केवल जूता बनाए और दूसरा व्यक्ति केवल टोप बनाने का कार्य करें।

जैकब वाइनर के अनुसार ''यदि स्वतंत्र व्यापार होता है तो प्रत्येक देश दीर्घकाल में उन वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त कर लेता है जिनके उत्पादन से उसे लाभ प्राप्त है तथा उन वस्तुओं का आयात करता है जिनका देश में उत्पादन करने से लागतों के संदर्भ में तुलनात्मक रूप से हानि होती है।''

बैस्टेवल ने तुलनात्मक लागत सिद्धांत को एक उदाहरण देकर समझाने का प्रयत्न किया है- एक डॉक्टर बागवानी कार्य एक माली से अधिक कुशलता से कर सकता है। परंतु वह डॉक्टरी में भी अधिक कुशल है। उसे सर्वाधिक लाभ उसी समय होगा जब वह केवल डॉक्टरी का कार्य करे। इसी प्रकार एक देश दूसरे देश की तुलना में कुछ वस्तुएं सस्ती बना सकता है, परंतु उसे देश को ऐसी वस्तुओं का उत्पादन चाहिए जिससे उसे सर्वाधिक तुलनात्मक लाभ की प्राप्ति हो–

लागतों में अंतर के प्रकार

लागतों में अंतर तीन प्रकार के हो सकते हैं।

1. लागतों में पूर्ण निरपेक्ष– दो देशो के बीच लागतों में निरपेक्ष अंतर तब होता है जब उनमें से एक देश में दोनों देश अपने–अपने देश में उस वस्तु का आयात कर लेंगे जिन्हें उत्पादन करने में तुलनात्मक लागत ज्यादा होती है।

लागतों में पूर्ण निरपेक्ष अंतर

	प्रति इकाई उत्पादन लागत (श्रम इकाइयों में)	
देश	कपास	जूट
भारत	20	10
पाकिस्तान	10	20

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि भारत में कपास की उत्पादन लागत अधिक है। भारत एक इकाई कपास के उत्पादन में 20 श्रमिकों का प्रयोग करता है जबकि पाकिस्तान में एक इकाई कपास के लिए केवल श्रमिक काम पर लगाए जाते हैं। इसी प्रकार पाकिस्तान में भारत की तुलना में जूट की उत्पादन लागत अधिक है। ऐसी स्थिति में भारत को जूट का तथा पाकिस्तान को कपास का उत्पादन करने का निरपेक्ष लाभ प्राप्त होगा। भारत केवल जूट का उत्पादन करेगा तथा पाकिस्तान केवल कपास का उत्पादन करेगा दोनों अपने अतिरिक्त उत्पादन को बेचकर लाभ प्राप्त करेंगे।

विशिष्टीकरण से पूर्व– जब दोनों देश विशिष्टीकरण को नहीं अपनाते है और दोनों देश अपने देश में दोनों वस्तुओं का उत्पादन करते हैं तो कुल उत्पादन व्यय इस प्रकार होगा–

भारत = 1 इकाई कपास + 1 इकाई जूट = 30 श्रमिक

पाकिस्तान = 1 इकाई कपास + 1 इकाई जूट = 30 श्रमिक

कुल उत्पादन = 2 इकाई कपास + 1 इकाई जूट = 60 श्रमिक

विशिष्टीकरण से बाद– यदि दोनों देश विशिष्टीकरण को अपनाते हैं और भारत केवल जूट का तथा पाकिस्तान केवल कपास का उत्पादन करता है तो कुल उत्पादन व्यय निम्न प्रकार होगा–

भारत में = 2 इकाई जूट का उत्पादन व्यय = 20 श्रमिक

पाकिस्तान = 2 इकाई जूट कपास का उत्पादन व्यय = 20 श्रमिक

कुल उत्पादन = 2 इकाई जूट तथा 2 इकाई कपास का उत्पादन व्यय=40 श्रमिक

इस प्रकार विशिष्टीकरण के बाद कुल उत्पादन में 20 श्रमिक का लाभ हो रहा है।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण– निम्न चित्र लागतों में निरपेक्ष अंतर के आधार पर खींचा गया है।

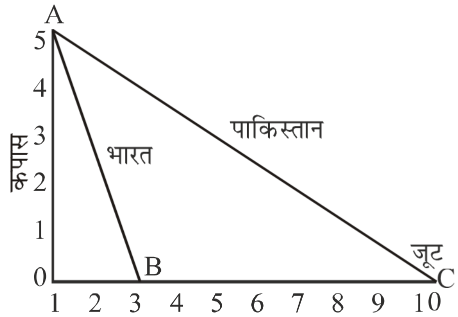

चित्र में भारत व पाकिस्तान सीमा रेखा इस आधार पर खींची गयी है कि भारत में कपास व जूट का विनिमय अनुपात 2:1 है तथा पाकिस्तान में इन्हीं इकाइयों का विनिमय अनुपात 1:2 है। चित्र में AB रेखा भारत की तथा AC रेखा पाकिस्तान की उत्पादन सीमा है। दोनों में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण BC अतिरेक लाभ है। चूंकि दोनों देशों की लागत में निरपेक्ष अंतर है अत: लाभ दोनों देशों में बराबर बंट जाएगा।

2. लागतों में समान अंतर– दो देशों के बीच लागतों में समान अंतर तब होता है जब दोनों देशों में वस्तुओं की उत्पादन लागतों में समान अनुपात होता है। लागतों का अनुपात समान होने पर किसी भी प्रकार का अंतर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं हो सकता है क्योंकि ऐसे देशों में किसी भी देश में विभाजन या विशिष्टीकरण नहीं हो सकता है। ऐसी दशा में किसी भी देश को श्रम विभाजन या विशिष्टीकरण का लाभ प्राप्त नहीं होता है।

लागतों में समान अंतर

	प्रति इकाई उत्पादन लागत (श्रम इकाइयों में)	
देश	कपास	जूट
भारत	100	50
पाकिस्तान	80	40

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि भारत में कपास तथा जूट दोनों ही वस्तुओं की उत्पादन लागत पाकिस्तान में इन वस्तुओं की उत्पादन लागत से अधिक है परंतु दोनों ही देशों में लागत अंतर अनुपात 2:1 है अर्थात लागत अनुपात समान है। अत: दोनों ही देश दोनों ही वस्तुओं के उत्पादन में आत्मनिर्भरता को अपनाएंगे और इसमें कोई व्यापार नहीं होगा।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण– निम्न चित्र लागतों में स्थिर/समान अंतर के आधार पर खींचा गया है।

टिप्पणी

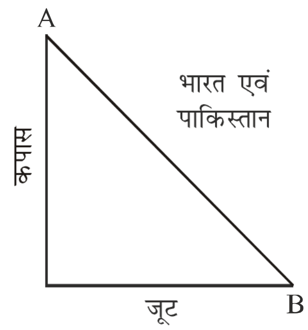

चित्र में AB भारत व पाकिस्तान दोनों की उत्पादन सीमा रेखा है। यह उत्पादन रेखा दोनों देशों में दोनों वस्तुओं में समान लागत अनुपात को प्रदर्शित करती है। अतः दोनों देश अपने-अपने देश में दोनों वस्तुओं का उत्पादन करके आत्मनिर्भरता को प्राप्त करेंगे।

3. लागतों में तुलनात्मक अंतर– लागतों में सापेक्षिक अथवा तुलनात्मक अंतर तब होता है जब एक देशों में दोनों ही वस्तुओं की उत्पादन लागत कम हो। किंतु दोनों में से एक वस्तु को वह दूसरी वस्तु की अपेक्षा अधिक सस्ती उत्पादित कर सकता है। इसी प्रकार दूसरा देश दोनों ही वस्तुओं को अधिक लागत पर उत्पादित कर सकता है किंतु दोनों में से एक के उत्पादन में उसे अपेक्षाकृत कम हानि रहती है। लागतों में तुलनात्मक अंतर होने के कारण ही अधिकांश अंतर्राष्ट्रीय व्यापार होता है।

लागतों में तुलनात्मक (सापेक्ष) अंतर

	प्रति इकाई उत्पादन लागत (श्रम इकाइयों में)	
देश	कपास	जूट
भारत	80	90
पाकिस्तान	120	100

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि भारत में पाकिस्तान की तुलना में कपास एवं जूट दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन कम लागत पर होता है लेकिन भारत जूट की तुलना में कपास को कम लागत पर उत्पादित करता है। भारत में दोनों वस्तुओं का विनिमय अनुपात 1 इकाई जूट : 0.89 कपास (80/90) है जबकि पाकिस्तान में दोनों वस्तुओं का विनिमय अनुपात 1 इकाई जूटः 1.2 इकाई कपास है (120/100)। अतः यदि भारत कपास तथा पाकिस्तान जूट के उत्पादन में विशिष्टीकरण अपना लेते हैं और व्यापार करते है तो अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से दोनों देशों को लाभ प्राप्त होगा।

विशिष्टीकरण से पूर्व– यदि दोनों देश विशिष्टीकरण को नहीं अपनाते और दोनों देश अपने-अपने देश में दोनों वस्तुओं का उत्पादन करते हैं तो कुल उत्पादन व्यय इस प्रकार होगा।

भारत = 1 इकाई कपास + 1 इकाई जूट = 80 + 90 = 170

पाकिस्तान = 1 इकाई कपास + 1 इकाई जूट = 120 + 100 = 220

कुल उत्पादन व्यय =2 इकाई कपास + 2 इकाई जूट = (200 + 190) = 390

विशिष्टीकरण से बाद– यदि दोनों देश विशिष्टीकरण को अपनाते हैं और भारत केवल कपास का तथा पाकिस्तान केवल जूट का उत्पादन करता है तो कुल उत्पादन व्यय इस प्रकार होगा–

भारत – 2 इकाई कपास का उत्पादन करने के लिए = 160 श्रमिक

पाकिस्तान – 2 इकाई जूट का उत्पादन करने के लिए = 200 श्रमिक

कुल उत्पादन 2 इकाई कपास तथा 2 इकाई जूट का उत्पादन करने के लिए = 360 श्रमिक

इस प्रकार विशिष्टीकरण के बाद उत्पादन करने पर दोनों देशों को 30 श्रमिकों का लाभ प्राप्त होता है।

चित्र द्वारा स्पष्टीकरण– अग्र चित्र के द्वारा तुलनात्मक लागत सिद्धांत में तुलनात्मक लागतों में अंतर को स्पष्ट किया गया है।

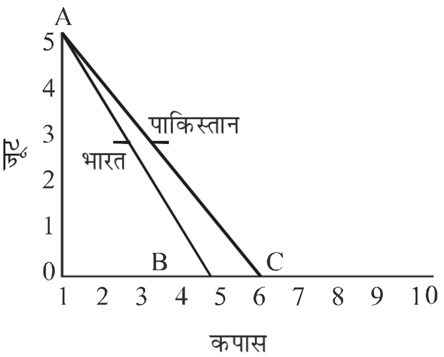

चित्र में AB भारत की उत्पादन सीमा रेखा है तथा AC पाकिस्तान की उत्पादन सीमा रेखा है जो भारत की विनिमय दर 1 इकाई जूट = 0.89 कपास के आधार पर तथा पाकिस्तान की विनिमय दर 1 इकाई जूट = 1.2 इकाई कपास के आधार पर खींची गयी है। व्यापार के दौरान दोनों को BC के बराबर लाभ प्राप्त हो रहा है जो दोनों देशों के मध्य बंट जाएगा।

तुलनात्मक लागत सिद्धांत की आलोचना

तुलनात्मक लागत का सिद्धांत प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र का बहुत लोकप्रिय सिद्धांत रहा है और यह भी स्वीकार किया गया है कि तुलनात्मक लाभ की अवहेलना करने वाले राष्ट्र को जीवन स्तर एवं विकास की संभावित दर के रूप में एक भारी कीमत चुकानी पड़ सकती है। रिकार्डो का लागत सिद्धांत यह तो स्पष्ट करता है कि किन वस्तुओं का निर्यात तथा किन वस्तुओं का आयात किया जाए किंतु यह सिद्धांत यह नहीं बताता कि दोनों देशों की बीच विनिमय दर क्या होगी? यही कारण है कि ओहलिन एवं ग्राहम जैसे सरीखे अर्थशास्त्रियों ने सिद्धांत की कटु आलोचना की है।

1. श्रमिकों में समरूपता– यह सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि दोनों देशों में श्रमिकों में समानता होती है यह ठीक नहीं है। वास्तव में श्रमिकों में एकरूपता नहीं होती है। सभी श्रम अलग-अलग होते हैं। अतः केवल श्रम के आधार पर लागत की तुलना नहीं की जा सकती है।

टिप्पणी

2. मूल्य के श्रम सिद्धांत की मान्यता दोषपूर्ण– इस सिद्धांत के अनुसार दो देशों में वस्तु का विनिमय श्रम लागत के अनुपात में ही किया जाता है जबकि श्रम ही केवल उत्पत्ति का एक मात्र साधन नहीं है। हां यह महत्वपूर्ण अवश्य है कि वस्तु की लागत का निर्धारण करते समय उत्पत्ति के अन्य साधनों की लागतों को भी शामिल किया जाता है।

3. उत्पादन समता नियम की मान्यता अव्यावहारिक– तुलनात्मक लागत सिद्धांत उत्पत्ति समता नियम पर आधारित है जो व्यावहारिक नहीं है क्योंकि व्यवहार में परिवर्तनशील अनुपातों का नियम लागू होता है।

4. साधनों की गतिशीलता की मान्यता अव्यवहारिक– तुलनात्मक लागत सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि एक देश के भीतर उत्पत्ति के साधन पूर्ण रूप से गतिशील होते है तथा दो के बीच इस गतिशीलता को स्वीकार नहीं जाता है। ओहलिन का मानना है कि एक ही देश के विभिन्न क्षेत्रों में उत्पत्ति के साधनों में गतिशीलता का अभाव पाया जाता है।

5. परिवहन व्यय की अवहेलना– तुलनात्मक लागत सिद्धांत में परिवहन लागतों पर ध्यान नहीं दिया गया। यदि परिवहन लागत अधिक है तो यह संभव हो सकता है कि तुलनात्मक लागत के कारण होने वाला अंतर समाप्त हो जाए। ऐसी दशा में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार तो उसी समय तक संभव होता है जब परिवहन लागतों को शामिल करने के बाद भी तुलनात्मक लागत अंतर अधिक हो।

6. दो से अधिक देशों पर लागू नहीं होता– रिकार्डो द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत दो से अधिक देशों पर लागू नहीं होता है जबकि व्यवहार में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार विभिन्न देशों के मध्य किया जाता है।

7. दो से अधिक वस्तुएं नहीं– रिकार्डो द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत केवल दो वस्तुओं के उत्पादन तथा व्यापार पर लागू होता है लेकिन व्यवहार में व्यापार दो से अधिक वस्तुओं में किया जाता है।

8. मांग की दशाओं की अवहेलना– आलोचकों का मानना है कि रिकार्डो का यह सिद्धांत एक पक्षीय है क्योंकि यह केवल पूर्ति पक्ष पर विचार करता है तथा मांग पक्ष पर कोई ध्यान नहीं देता है। यह सिद्धांत बताता है कि एक देश अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के अंतर्गत किन-किन वस्तुओं को खरीदेगा तथा किन-किन वस्तुओं को बेचेगा। यह सिद्धांत इस तथ्य पर आधारित है कि मांग कीमत को प्रभावित नहीं करती और उत्पत्ति के पैमाने में परिवर्तन के बावजूद भी स्थिर रहती है। लेकिन यह सत्य नहीं है क्योंकि व्यवहार में उत्पादन में परिवर्तन के साथ-साथ लागत भी बदलती है इस प्रकार स्पष्ट है कि वस्तु की लागत व कीमत पूर्ति की दशाओं पर निर्भर न होकर मांग की दशाओं द्वारा भी प्रभावित होती है।

9. श्रम की कार्यक्षमता में भिन्नता– यह सिद्धांत इस बात की व्याख्या नहीं करता है कि उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में अन्य देशों की तुलना में एक देश के श्रमिक अधिक कुशल क्यों होते हैं। श्रम की कार्य क्षमता में भिन्नता इसलिए भी हो सकती है कि उस देश में प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता हो, वहां अच्छी मशीनों का प्रयोग होता है

टिप्पणी

अथवा वहां के प्राकृतिक साधन श्रेष्ठ हो। ओहलिन कहते हैं कि उत्पत्ति के साधनों के रूप में केवल श्रम को महत्व न देकर अन्य साधनों को भी महत्व दिया जाना चाहिए।

10. पूर्ण रोजगार की मान्यता गलत– रिकार्डो का तुलनात्मक लागत सिद्धांत पूर्ण रोजगार की मान्यता पर आधारित है अर्थात व्यापार करने वाले देशों में पूर्ण रोजगार की स्थिति विद्यमान रहती है। लेकिन केन्स ने इस मान्यता का खंडन किया है और कहा है कि व्यापार में सदैव पूर्ण रोजगार से कम की स्थिति विद्यमान रहती है अतः पूर्ण रोजगार की मान्यता अवास्तविक है।

11. गतिशीलता का अभाव– यह सिद्धांत स्थैतिक है। यह व्यापार करने वाले देशों में उत्पत्ति के साधनों को स्थिर मानकर चलता है। यह सिद्धांत उत्पत्ति के साधनों के उत्पादन फलन को भी स्थिर मानता है किंतु वास्तविक जगत में इन सबमें परिवर्तन होता है।

12. लोचपूर्ण बाजार एवं स्थिर कीमतों की तथ्यहीन मान्यता– आलोचकों के अनुसार यह सिद्धांत लोचपूर्ण बाजारों एवं स्थिर कीमतों को स्वीकार करके चलता है किंतु निर्यातों के लिए मांग में लोच के अभाव के कारण तुलनात्मक लाभों को पूर्ण रूप से ज्ञात नहीं किया जा सकता है। अतः तुलनात्मक लाभ का विचार ही अव्यावहारिक हो जाता है। कीमतों में परिवर्तन का तुलनात्मक लाभ पर प्रभाव पड़ता है।

13. सिद्धांत में लागतों को अधिक महत्व– तुलनात्मक लागत सिद्धांत में लागतों को अधिक महत्व दिया गया है जबकि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का आधारभूत कारण कीमतों में अंतर होना है केवल लागतों में अंतर नहीं।

14. पूर्ण विशिष्टीकरण संभव नहीं– प्रो. ग्राहम तुलनात्मक लागत सिद्धांत की आलोचना करते हुए कहते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार करने वाले दो देश विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में पूर्णरूप से विशिष्टीकरण प्राप्त नहीं करते हैं और ऐसी दशा में यह सिद्धांत महत्वहीन हो जाता है। वास्तव में एक देश एक वस्तु की कुछ मात्रा का तो आयात करता है और शेष का उत्पादन अपने ही देश में करता है। इस प्रकार व्यवहार में आंशिक विशिष्टीकरण की स्थिति पायी जाती है।

15. वस्तुओं के भेद को स्पष्ट नहीं करता– कुछ आलोचकों ने इस सिद्धांत की आलोचना इस आधार पर की है कि तुलनात्मक लागत सिद्धांत इस बात की स्पष्ट व्याख्या नहीं करता कि एक देश किसी वस्तु की दूसरी किस्म का उत्पादन करके उसका निर्यात क्यों करता है तथा उस वस्तु की किसी दूसरी किस्म का विदेशों से आयात क्यों करता है जैसे भारत लोहे की कुछ वस्तुओं का निर्यात करता है तथा लोहे की ही कुछ वस्तुओं का आयात करता है।

16. स्वतंत्र व्यापार में बाधाएं– तुलनात्मक लागत सिद्धांत केवल उन्हीं दशाओं में लागू हो सकता है जब अंतर्राष्ट्रीय व्यापार स्वतंत्र रूप से हो रहा हो किंतु वास्तविकता तो यह है कि वर्तमान समय में अधिकांश देश संरक्षण की नीति को अपना रहें हो। प्रशुल्क, कोटा प्रणाली, विनिमय नियंत्रण आदि कई बाधाएं हैं जो स्वतंत्र व्यापार में रूकावट पैदा करती है।

17. सुरक्षात्मक वस्तुओं के लिए महत्वहीन– सुरक्षा एवं सैनिक महत्व की वस्तुओं को देश में ही पैदा किया जा सकता है भले ही तुलनात्मक रूप से हानि हो अथवा

विदेशों से कम कीमत पर उपलब्ध हो। देश की सुरक्षा की दृष्टि से आत्मनिर्भरता लाने एवं राजनीतिक कारणों से यह देश के हित में होता है कि सैनिक महत्व की वस्तुओं का उत्पादन स्वयं ही करना चाहिए।

टिप्पणी

18. दो देशों की आर्थिक आर्थिक स्थिति में अंतर– तुलनात्मक लागत सिद्धांत उस अवस्था में लागू नहीं होता है जब व्यापार करने वाले दोनों देश आकार, अर्थ एवं समृद्धि की दृष्टि से भिन्न हो।

यद्यपि तुलनात्मक लागत सिद्धांत की काफी आलोचना की गयी है किंतु इसका यह अर्थ बिल्कुल नहीं है कि यह सिद्धांत महत्वहीन है। इस सिद्धांत ने अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रकृति को स्पष्ट करने में बहुत बड़ी भूमिका निभायी है।

तुलनात्मक लागत सिद्धांत एवं अल्पविकसित राष्ट्र

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार अल्पविकसित देश भी तुलनात्मक लागत सिद्धांत का पालन करके अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों से लाभान्वित होते हैं। इसके विपरीत प्रो. लुईस, प्रो. सेंगर, प्रो. मिन्ट, प्रो. विलियम्स आदि अर्थशास्त्रियों का मत है कि तुलनात्मक लागत सिद्धांत जिन मान्यताओं पर आधारित है वे मान्यताएं प्रावैगिक अर्थव्यवस्था में सही नहीं उतरती हैं चूंकि अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाएं प्रावैगिक अर्थव्यवस्थाएं होती हैं।

अल्पविकसित देशों में तुलनात्मक लागत सिद्धांत के लागू न होने के निम्न कारण हैं–

1. स्वतंत्र व्यापार में बाधाएं– तुलनात्मक लागत सिद्धांत स्वतंत्र व्यापार की मान्यता पर आधारित है। यह अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप को स्वीकार नहीं करता है। यह सिद्धांत यह मानकर चलता है कि व्यापार करने वाले दो देशों के मध्य किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं होना चाहिए ताकि अंतर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण के पूरे लाभों को प्राप्त किया जा सके। यह लाभ दो समान रूप से विकसित राष्ट्र तो प्राप्त कर सकते हैं किंतु यदि इनमें से एक देश विकसित तथा दूसरा अल्पविकसित है तो अल्पविकसित देश गलाकाट प्रतियोगिता के सामने ठहर नहीं पाएगा और उसका ढांचा लड़खड़ाने लगेगा तथा जो देश शक्तिशाली होगा वह बाजारों पर अपना अधिकार कर लेगा और अल्पविकसित देश बाजार से बाहर आ जाएगा। इससे विकसित देश और अधिक विकसित होगा जबकि पिछड़ा देश और अधिक निर्धन हो जाएगा। इससे देशों में कटुता आ जाती है तथा युद्ध व विनाश की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का तुलनात्मक लागत सिद्धांत अल्पविकसित देशों में इसलिए भी लागू नहीं होता है क्योंकि वर्तमान समय में प्रायः समस्त देश प्रतिबंधित व्यापार एवं संरक्षण का सहारा ले रहे है। प्रो. सेंगर तथा मिर्डल ने स्पष्ट कहा है कि विश्व अर्थव्यवस्था में असंतुलन पैदा करने वाली शक्तियों के विद्यमान होने के कारण अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का लाभ विकसित देशों को ही मिला है।

2. वितरण पक्ष की उपेक्षा– तुलनात्मक लागत सिद्धांत केवल उत्पादन पक्ष पर ही जोर देता है। यह बताता है कि विश्व का कुल उत्पादन विशिष्टीकरण द्वारा किस प्रकार अधिकतम किया जा सकता है, किंतु यह वितरण पक्ष की अवहेलना करता है। वास्तव में किसी भी ऐसी आर्थिक नीति का समर्थन नहीं किया जा सकता जिससे उत्पादन

में तो वृद्धि हो लेकिन वितरण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो। अन्य शब्दों में अल्पविकसित देशों में ऐसी किसी व्यापार नीति का समर्थन नहीं किया जा सकता है जो उन्हें और अधिक निर्धन बना दे।

टिप्पणी

3. असंतुलित विकास– अंतर्राष्ट्रीय व्यापार अर्द्धविकसित देशों में विकास की प्रक्रिया को असंतुलित बना देता है जिसके फलस्वरूप इन देशों की अर्थव्यवस्थाएं दोहरी अर्थव्यवस्थाओं में बदल जाती है। इन देशों में तुलनात्मक व्यापार के आधार पर जिन वस्तुओं का निर्यात किया जाता है वह निर्यातक क्षेत्र तो विकसित हो जाता है शेष अर्थव्यवस्था में पिछड़ापन बना रहता है और इस प्रकार अर्थव्यवस्था असंतुलित हो जाती है। प्रो. मिर्डल ने स्पष्ट किया है कि "निर्धन देशों के उच्च विदेशी व्यापार का अनुपात इस बात का शुभ संकेत नहीं है कि वे अंतर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन के आर्थिक लाभों का दोहन कर रहे हैं लेकिन यह उनकी निर्धनता और अर्द्धविकसित स्थिति का सूचक है।"

4. सिद्धांत का स्थैतिक स्वरूप– प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित तुलनात्मक लागत सिद्धांत एक ऐसी स्थैतिक अर्थव्यवस्था की कल्पना करता है जहां साधनों की पूर्ति स्थिर रहती है लेकिन अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में जहां विकास के लिए नए-नए संसाधनों को विकसित किया जाता है वहां यह मान्यता लागू नहीं होती है। इस प्रकार अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के लिए किसी स्थैतिक सिद्धांत की नहीं बल्कि प्रावैगिक सिद्धांत की आवश्यकता होती है।

5. अल्पविकसित राष्ट्रों में पूर्ण रोजगार तथा गतिशीलता का अभाव– तुलनात्मक लागत सिद्धांत व्यापार करने वाले देशों में उत्पत्ति के साधनों में पूर्ण रोजगार एवं पूर्ण गतिशीलता को स्वीकार करता है अर्थात इस सिद्धांत के अनुसार साधनों में पूर्ण रोजगार पाया जाता है तथा वे पूर्णतया गतिशील होते हैं किंतु अल्पविकसित देशों में न तो पूर्ण रोजगार की स्थिति विद्यमान होती है और न ही साधन पूर्णतया गतिशील होते हैं। इन देशों में बड़े पैमाने पर बेरोजगारी, अर्द्धबेरोजगारी एवं अदृश्य बेरोजगारी पायी जाती है। इन देशों में श्रमिकों की सीमांत उत्पादकता प्रायः शून्य होती है। तुलनात्मक लागत सिद्धांत अल्पविकसित देशों में पायी जाने वाली इस समस्या का हल करने में असमर्थ है। अतः तुलनात्मक लागत सिद्धांत अर्द्धविकसित देशों में लागू नहीं हो पाता क्योंकि यह सिद्धांत यह मानकर चलता है कि देश के भीतर उत्पत्ति के सभी साधन पूर्णरूप से गतिशील होते हैं।

6. प्रतिकूल व्यापार शर्तें– अल्पविकसित राष्ट्रों के लिए अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की सबसे प्रमुख समस्या यह है कि व्यापार की शर्ते उनके अनुकूल नहीं होती है। वर्तमान समय में ऐसे अनेक कारण है जिनसे अर्द्धविकसित देशों में व्यापार की शर्तें प्रतिकूल रहती हैं जैसे विकसित देश अल्पविकसित देशों से कच्चा माल खरीदने के स्थान पर उनके विकल्पों का प्रयोग करने लगे हैं। सेंगर ने स्पष्ट किया है कि, ''तकनीकी प्रगति के लाभों का असमान वितरण हुआ है और उसका अधिकांश लाभ विकसित देशों को ही मिला है।'' प्रो. लुईस कहते हैं कि, ''जीवन निर्वाह के स्तर पर श्रम की असीमित पूर्ति ने अल्पविकसित देशों के व्यापार व उत्पादन की कीमत को बहुत नीचे रखा है। इससे इन देशों में भुगतान संतुलन में भारी कठिनाई उत्पन्न हो गयी है।''

7. पूर्ण प्रतियोगिता का अभाव– तुलनात्मक लागत सिद्धांत पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता पर आधारित है जबकि वास्तविक जगत में अपूर्ण प्रतियोगिता पायी जाती है। अपूर्ण प्रतियोगिता में कीमतें तथा सीमांत लागत बराबर नहीं होते हैं जबकि तुलनात्मक लागत सिद्धांत इन दोनों को समान मानकर चलता है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि कीमत संयंत्र स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करता है जबकि अल्पविकसित देश आर्थिक नियोजन और कीमत नियंत्रण की नीति को अपनाते हैं।

8. दीर्घकालीन उत्पादन लागतें– तुलनात्मक लागत सिद्धांत एक देश में किसी वस्तु का उत्पादन निर्धारण करने के लिए केवल वर्तमान लागतों को आधार मानता है और दीर्घकालीन लागतों की उपेक्षा करता है। यह संभव है कि एक अल्पविकसित देश में विकसित देश की तुलना में कुछ औद्योगिक वस्तुओं की उत्पादन लागत प्रारंभ में अधिक हो लेकिन बाद में अनुकूल दशाओं के विद्यमान होने पर कम हो जाए। जैसे पर्याप्त मात्रा में पूंजी, तकनीकी ज्ञान, कुशल श्रम, उद्यमी प्रतिभा आदि उपलब्ध होने पर इन देशों में वस्तुओं की उत्पादन लागत विकसित देशों में कम हो सकती है क्योंकि इन देशों में प्राकृतिक साधन एवं मानवीय साधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं।

9. सामाजिक लागतों की अवहेलना– तुलनात्मक लागत सिद्धांत निजी लागतों पर तो विचार करता है लेकिन सामाजिक लागतों की उपेक्षा करता है। यदि सामाजिक लागतों की उपेक्षा कर दी जाए तो तुलनात्मक लागतों के आधार पर विश्व में अधिकतम उत्पादन की गणना नहीं की जा सकती है।

10. उत्पत्ति के नियम– अल्पविकसित देशों में कृषि मुख्य उद्योग होता है। उन्हें कृषि उत्पादन में ही तुलनात्मक लाभ प्राप्त होता है जिसका उत्पादन उत्पत्ति ह्रास नियम के अंतर्गत होता है अर्थात कृषि उत्पादन में तुलनात्मक हानि होती है जिसका उत्पादन उत्पत्ति वृद्धि नियम के अंतर्गत होता है अर्थात औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि होने से लागतें घटती हैं। ये सिद्धांत तुलनात्मक लागत सिद्धांत के अनुसार विशिष्टीकरण नहीं कर सकते क्योंकि ऐसा करने से दोनों देशों में उत्पादन लागतों में वृद्धि हो जाती है।

उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि तुलनात्मक लागत सिद्धांत व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक दृष्टि से अल्पविकसित देशों में लागू नहीं किया जा सकता है।

तुलनात्मक लागत सिद्धांत की मौद्रिक व्याख्या

रिकार्डो ने तुलनात्मक लागत सिद्धांत की व्याख्या वस्तु विनिमय प्रणाली के अंतर्गत की थी किंतु वर्तमान में श्रम विभाजन प्रणाली के अंतर्गत वस्तुओं को मुद्रा से क्रय किया जाता है। प्रो. टॉजिंग ने इन सिद्धांतों में कई प्रकार के संशोधन प्रस्तुत किए जिसमें मौद्रिक लागत का संशोधन सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

रिकार्डो ने तुलनात्मक लागत सिद्धांत की व्याख्या श्रम लागत के रूप में की थी। इनके अनुसार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का निर्धारण श्रम लागतों के तुलनात्मक अंतरों के आधार पर होता था लेकिन वर्तमान अर्थव्यवस्था मौद्रिक अर्थव्यवस्था है। इसमें अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का निर्धारण मौद्रिक लागत में निरपेक्ष अंतरों के आधार पर होता है। श्रम लागत में व्यक्त तुलनात्मक अंतरों को सरलता से मौद्रिक लागतों के निरपेक्ष अंतरों में व्यक्त किया जा सकता है।

टिप्पणी

इसे एक काल्पनिक गणितीय उदाहरण द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है-

उत्पादन की श्रम लागत

देश	श्रम का दिन	कपास (इकाई)	जूट (इकाई)
भारत	10	100	100
पाकिस्तान	10	40	80

तालिका से स्पष्ट है कि भारत में इकाई एक श्रम द्वारा 10 दिन में 100 इकाई कपास का उत्पादन किया जाता है तथा एक इकाई श्रम द्वारा 10 दिन में 100 इकाई जूट का उत्पादन किया जाता है। पाकिस्तान में एक इकाई श्रम द्वारा 10 दिन में 40 इकाई कपास तथा एक इकाई श्रम द्वारा 10 दिन में 80 इकाई जूट का उत्पादन किया जाता है। उपरोक्त उदाहरण में भारत दोनों ही वस्तुओं के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ को प्राप्त करता है किंतु कपास के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ अधिक है। इसके विपरीत पाकिस्तान को जूट के उत्पादन से तुलनात्मक हानि कम है। अतः भारत कपास तथा पाकिस्तान जूट के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करेगा।

यदि भारत में दैनिक मजदूरी की दर 3.00 रु. है और पाकिस्तान में दैनिक मजदूरी की दर 2.00 रु. है तो इसे मुद्रा के रूप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है-

लागतों में तुलनात्मक लाभ (मुद्रा के रूप में)

देश	दैनिक मजदूरी	कुल मजदूरी	कुल उत्पादन	प्रति इकाई लागत रुपए
भारत	3.00	$3.00 \times 10 = 30.00$	100 इकाई कपास	0.30
भारत	3.00	$3.00 \times 10 = 30.00$	100 इकाई जूट	0.30
पाकिस्तान	2.00	$2.00 \times 10 = 20.00$	40 इकाई कपास	0.50
पाकिस्तान	2.00	$2.00 \times 10 = 20.00$	80 इकाई जूट	0.25

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट है कि भारत में पाकिस्तान की तुलना में कपास के उत्पादन की मौद्रिक लागत कम है जबकि पाकिस्तान में भारत की अपेक्षा जूट की उत्पादन लागत कम है। अतः भारत कपास के उत्पादन में तथा पाकिस्तान जूट के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करेगा।

दो से अधिक वस्तुओं के संदर्भ में तुलनात्मक लागत सिद्धांत

रिकार्डो का तुलनात्मक लागत सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि व्यापार केवल दो देशों तथा दो वस्तुओं के मध्य होता है। इस सिद्धांत के अनुसार एक देश उस वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करेगा जिसके उत्पादन में उसे तुलनात्मक लाभ अधिक होता है अथवा जिसमें वह तुलनात्मक रूप से श्रेष्ठ है तथा उस वस्तु का आयात करेगा जिसके उत्पादन में उसकी तुलनात्मक हानि अधिक है। यदि हम व्यापार में दो से अधिक वस्तुओं को शामिल करें तो भी इस निष्कर्ष में कोई परिवर्तन नहीं होता।

प्रो. हैबरलर ने संतोषजनक ढंग से तुलनात्मक लागत सिद्धांत का ऐसा सामान्य सिद्धांत प्रस्तुत किया है जो दो से अधिक वस्तुओं पर लागू होता है। यदि हम स्थिर लागत की मान्यता को स्वीकार करें तो इस सिद्धांत का विवेचन इस प्रकार से किया जा सकता है।

इस सिद्धांत के अनुसार कोई देश उन्हीं वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन में विशेषज्ञता प्राप्त करने की चेष्टा करता है जिनमें उसे जलवायु, प्राकृतिक साधनों, लोगों की कार्य दक्षता एवं पूंजी के कारण तुलनात्मक लाभ प्राप्त होता है। तुलनात्मक लाभ से अभिप्राय उस देश की उस विशिष्ट योग्यता से होता है जिसके कारण वह किसी वस्तु अथवा सेवा का उत्पादन अन्य देशों की तुलना में सस्ते दामों पर काम कर सकता है।

कोई भी देश उन्हीं वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन पर अपना ध्यान केंद्रित करता है जिनमें उसे लागत संबंधी लाभ प्राप्त होता है। ऐसी वस्तुओं एवं सेवाओं का विनिमय वह देश अन्य देशों द्वारा उत्पादित उन वस्तुओं एवं सेवाओं से करता है जिनके उत्पादन में उसे तुलनात्मक लाभ नहीं होता है।

उदाहरण के लिए एक देश अन्य देशों की तुलना में अनेक वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन कम लागत पर कर सकता है लेकिन वह अपने साधन उस वस्तु अथवा सेवा के उत्पादन पर लगा देगा जिसमें उसके अधिकतम लागत लाभ प्राप्त है। लेकिन जिन वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन में उसे कम लागत लाभ प्राप्त हैं तो उन्हें वह अन्य देशों के लिए छोड़ देगा।

हैबरलर का अवसर लागत सिद्धांत जिस रूप में तुलनात्मक लागतों के सिद्धांत की व्याख्या करता है उसे उसने स्थानापन्नता वक्र कहा है। इस सिद्धांत के अनुसार यदि कोई देश X वस्तु तथा Y वस्तु का उत्पादन कर सकता है तो X वस्तु की अवसर लागत Y वस्तु की उस मात्रा के बराबर होगी जो उसे उस X वस्तु की एक अतिरिक्त प्राप्त करने के लिए छोड़नी पड़ेगी, इस प्रकार, दोनों वस्तुओं की परस्पर विनिमय दरन उनकी अवसर लागतों के रूप में व्यक्त की जाती है।

मान्यताएं :–

हैबरलर का सिद्धांत निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है :

1. उत्पादन लागतों से अभिप्राय केवल श्रम–लागतों से है और श्रम लागतों को श्रम की इकाइयों में व्यक्त किया गया है।
2. सभी प्रकार के श्रम को समरूप माना जाता है।
3. प्रत्येक देश के पास उत्पादन के दो साधन श्रम तथा पूंजी होते हैं।
4. प्रत्येक देश दो वस्तुओं X तथा Y का उत्पादन कर सकता है।
5. साधन तथा वस्तु बाजार दोनों में ही पूर्ण प्रतियोगिता है।
6. प्रत्येक वस्तु की कीमत उसकी सीमांत मुद्रा लागतों के बराबर है।
7. एक देश के भीतर तो उत्पादन साधन पूर्णतः गतिशील होते हैं लेकिन दो देशों के बीच वे पूर्णतः अगतिशील होते हैं।

8. अंतर्राष्ट्रीय व्यापार केवल वस्तुओं में ही होता है और संबंधित देशों के बीच पूंजी का आवागमन नहीं होता है।
9. अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं होता है।
10. इस सिद्धांत की व्याख्या करते समय केवल दो वस्तुओं एवं दो देशों को ही लिया जाता है।

इन मान्यताओं के दिए होने पर उत्पादन संभावना वक्र बताता है कि कोई देश उपलब्ध तकनीकी के साथ उत्पादन के साधनों का पूर्ण उपयोग करते हुए दोनों वस्तुओं के अधिकतम दक्षता से कितने विभिन्न वैकल्पिक संयोग बना सकता है। उत्पादन संभावना वक्र की ढाल एक वस्तु की उस मात्रा को मापती है जो देश को दूसरी वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई प्राप्त करने के लिए छोड़नी पड़ेगी।

विभिन्न लागत स्थितियों के अंतर्गत उत्पादन संभावना वक्र का रूप यह निर्धारित करता है कि अवसर लागत सिद्धांत के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के आधार और उससे प्राप्त होने वाले लाभ क्या हैं। यदि एक वस्तु X की अतिरिक्त मात्रा प्राप्त करने के लिए दूसरी वस्तु Y की छोड़ी जाने वाली अपेक्षित मात्रा स्थित रहती है तो उत्पादन संभावना वक्र एक सरल रेखा होगी। यदि X की अतिरिक्त मात्रा प्राप्त करने के लिए Y की उत्तरोत्तर अपेक्षाकृत अधिक मात्रा छोड़नी पड़ती है तो उत्पादन संभावना वक्र मूल बिंदु की ओर नतोदर होगा और इससे यह पता चलेगा कि अवसर लागत बढ़ रही है।

उपरोक्त मान्यताओं के अनुसार दो देशों के बीच वस्तुओं का व्यापार, लागत–अंतरों के कारण होता है ये लागत अंतर तीन प्रकार के होते हैं–(1) लागतों में निरपेक्ष अंतर (2) समान अंतर (3) तुलनात्मक अंतर।

(क) लागतों में निरपेक्ष अंतर : कभी–कभी दो देशों के मध्य लागतों में निरपेक्ष अंतर उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे किसी देश को प्राकृतिक एकाधिकार प्राप्त होने के कारण किसी वस्तु विशेष के उत्पादन में लाभ होता है अर्थात् उस वस्तु की उत्पादन लागत प्राकृतिक एकाधिकार के कारण बहुत कम हो जाती है और उस देश के लिए उस वस्तु का निर्मित करना बहुत आसान हो जाता है।

उदाहरण के लिए स्वतंत्रता पूर्व से भारत को जूट का प्राकृतिक एकाधिकार प्राप्त है और इसी कारण भारत विश्व के सभी देशों को जूट का निर्यात करता है। इसी प्रकार विश्व के अन्य देशों को भी कुछ विशेष वस्तुओं के प्राकृतिक एकाधिकार उपलब्ध हैं जैसे दक्षिणी अफ्रीका को हीरों के उत्पादन में प्राकृतिक एकाधिकार प्राप्त है। ऐसी परिस्थितियों में देशों की उत्पादन लागतों में निरपेक्ष अंतर उत्पन्न हो जाते हैं।

जैसे, भारत श्रम की एक इकाई से दो इकाई जूट तथा एक इकाई कपास उत्पन्न कर सकता है तथा मिस्त्र श्रम की एक इकाई से, एक इकाई जूट तथा दो इकाई कपास उत्पन्न कर सकता है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि जूट के उत्पादन में भारत को प्राकृतिक लाभ प्राप्त है जबकि कपास के उत्पादन में मिस्त्र को प्राकृतिक लाभ उपलब्ध है अर्थात् भारत जूट के उत्पादन में विशेषज्ञता प्राप्त करेगा और मिस्त्र कपास के उत्पादन में, और इस तरह से दोनों में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार आरंभ हो जाएगा।

भारत और मिस्र के मध्य का यह व्यापार उस समय तक चलता रहेगा जब तक कि भारत को जूट की दो इकाइयों के बदले में मिस्र से कपास की एक से अधिक इकाई उपलब्ध होती रहेगी। यदि भारत को जूट की दो इकाइयों के बदले में मिस्र से केवल एक ही इकाई कपास की प्राप्ति होती है, तब इन दोनों में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं हो सकेगा।

(ख) समान अंतर : अंतर्राष्ट्रीय व्यापार केवल उसी दशा में लाभदायक होता है जब दो देशों के उत्पादन लागतों में तुलनात्मक अंतर होता है। इसके विपरीत जब दो देशों की उत्पादन लागतों में समान अंतर होते हैं तब उनमें अंतर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं हो सकता क्योंकि लागतों में समान अंतर होने के कारण लाभ की कोई संभावना नहीं रहती है अतः अंतर्राष्ट्रीय व्यापार बंद हो जाता है जैसे श्रम की एक इकाई से भारत दो इकाई जूट या दो इकाई कपास उत्पन्न कर सकता है और उसी प्रकार मिस्त्र श्रम की एक इकाई से, एक इकाई जूट और एक इकाई कपास उत्पन्न कर सकता है। उपरोक्त उदाहरण में दोनों देशों के बीच उत्पादन लागतों में समान अंतर पाए जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि भारत को मिस्त्र की तुलना में जूट और कपास दोनों के ही उत्पादन में कम लागत पड़ती है। यदि दोनों देशों के बीच अंतर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं होता है तो भारत में जूट और कपास का विनिमय अनुपात 1:1 होता है और यही अनुपात मिस्त्र में भी होता है।

(ग) तुलनात्मक अंतर : दो देशों के बीच जब उत्पादन लागतों में अंतर होता है तब ऐसी परिस्थिति में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार अवश्य ही होगा क्योंकि इस प्रकार के अंतरों से दोनों देशों को लाभ प्राप्त होंगे। जैसे भारत एक इकाई श्रम से दो इकाई जूट या एक इकाई कपास उत्पन्न कर सकता है उसी प्रकार मिस्त्र एक इकाई श्रम से दो इकाई जूट या दो इकाई कपास उत्पन्न कर सकता है।

उपरोक्त उदाहरण में भारत और मिस्त्र के बीच उत्पादन लागतों में अंतर पाए जाते हैं। अतः इन दोनों देशों के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार लाभदायक होगा।

कभी-कभी तो परिवहन व्यय इतना अधिक होता है कि तुलनात्मक लाभ होने पर भी वस्तुओं का निर्यात नहीं किया जा सकता अर्थात विशिष्टीकरण संभव नहीं हो पाता। परिवहन लागतों के कारण तुलनात्मक लाभ के प्रयोग पर कोई प्रभाव नहीं होता है किंतु इससे देश के व्यापार पर प्रभाव पड़ता है।

बहु-वस्तु तथा बहुदेशी व्यापार मॉडल

प्रो. सैम्यूलसन ने दो से अधिक वस्तुओं एवं बहुदेशीय व्यापार चित्रण को अपने बहु-वस्तु एवं बहुदेशीय व्यापार मॉडल द्वारा स्पष्ट किया है। तुलनात्मक लागत के आधार पर अनेक देशों में किया जाने वाला अनेक वस्तुओं का व्यापार न केवल संभव है अपितु सरल भी है। सैम्यूलसन का कहना है कि व्यापार के लाभों का देश की सीमाओं से कोई संबंध नहीं है। इस संबंध में जो सिद्धांत विकसित किया गया है। वह देशों के समूह पर भी लागू होता है।

टिप्पणी

सैम्यूलसन के बहु-वस्तु एवं बहुउद्देशीय व्यापार मॉडल को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

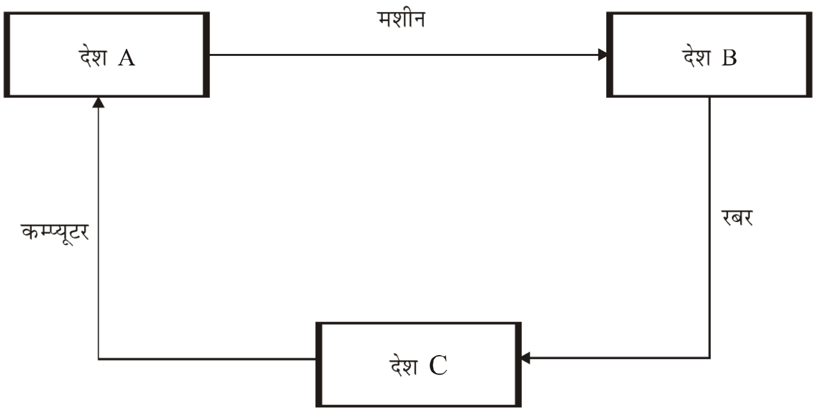

तीन देश A, B तथा C हैं। A देश, B देश को मशीन निर्यात करता है B देश C देश को रबड़ निर्यात करता है, तथा C देश, A को कम्प्यूटर्स निर्यात करता है। इन तीनों देशों का व्यापार एक पक्षीय है, क्योंकि इसमें प्रत्येक देश दूसरे देश को निर्यात करता है। उस देश से कोई वस्तु आयात नहीं करता है। B देश, C देश को रबड़ का निर्यात करके जो मुद्रा प्राप्त करता है, वह उससे देश A को भुगतान कर देता है। A देश को मशीनों के निर्यात करके B से जो भुगतान प्राप्त होता है उसे वह देश C का भुगतान कर देता है। अंत में व्यापार संतुलित रहता है अर्थात एक देश का आयात मूल्य = उस देश का निर्यात मूल्य।

परिवर्तनशील लागतों के अंतर्गत तुलनात्मक लागत सिद्धांत

रिकार्डो द्वारा प्रतिपादित तुलनात्मक लागत सिद्धांत ''स्थिर लागतों की मान्यता पर आधारित हैं किंतु वास्तविक जगत में उत्पादन समता नियम/स्थिर नियम लागू नहीं होता है। उत्पादन तो परिवर्तनशील लागतों के अंतर्गत होता है। लागतों की बदलती हुई प्रवृत्तियों का उत्पादन एवं व्यापार पर प्रभाव निम्न होता है–

1. लागत वृद्धि नियम– यदि उत्पादन में लागत वृद्धि नियम लागू होता है तो उत्पादन की मात्रा में वृद्धि के साथ-साथ प्रति इकाई लागत भी बढ़ जाती है। ऐसी दशा में उत्पादन बढ़ाया जाता है तो तुलनात्मक लाभ कम हो जाता है। अत: उत्पादन में वृद्धि करना देश के हित में नहीं होता है। लाभ में कमी होने के कारण विशिष्टीकरण पूर्ण न होकर आंशिक ही रहेगा। इसे निम्न रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

टिप्पणी

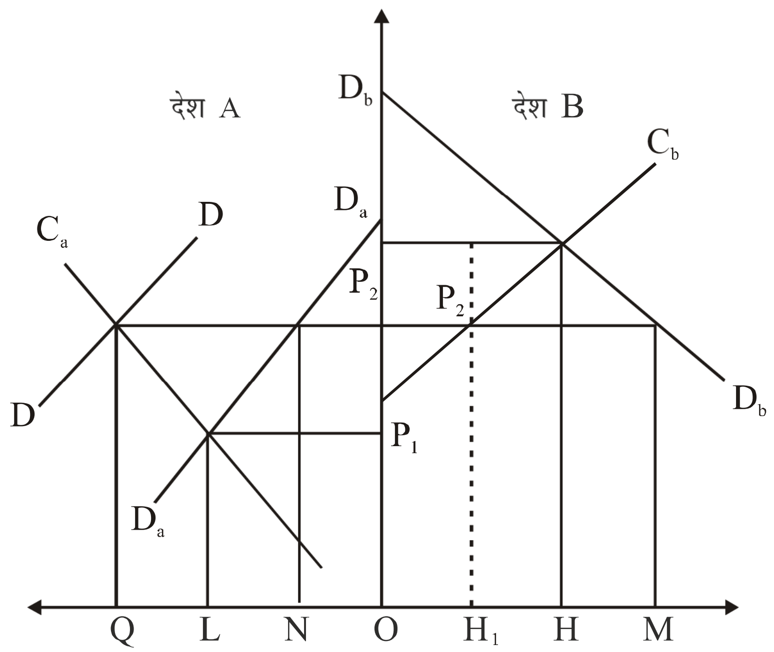

देश A के लिए X की मात्रा देश B के लिए X की मात्रा

यदि उत्पादन स्थिर लागतों के अंतर्गत होता है तो $MC = AC$ और यदि उत्पादन लागत वृद्धि नियम के अंतर्गत होता है तो $MC < AC$। ऐसी दशा में संभव है कि देश को किसी वस्तु विशेष के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ होगा लेकिन व्यापार में वृद्धि के बाद यह लाभ कम हो जाएगा। अतः देश वस्तु के उत्पादन को उस सीमा तक ही बढ़ाएगा जहां दोनों देशों की उत्पादन लागत का अंतर सीमांत लागत के बराबर हो जाता है। इसके बाद उत्पादन में वृद्धि करना लाभदायक नहीं होगा।

रेखाचित्र में दो देश A तथा B हैं और प्रत्येक देश X वस्तु का उत्पादन कर रहा है तथा उत्पादन में वृद्धि नियम क्रियाशील है। देश A में Ca पूर्ति वक्र है तथा देश B में Cb पूर्ति वक्र है। देश A को X वस्तु के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ प्राप्त हो रहा है क्योंकि इसका पूर्ति वक्र B की तुलना में नीचा है। देश A में X वस्तु का मांग वक्र DaDa तथा देश B में मांग वक्र DbDb है।

व्यापार से पूर्व A देश वस्तु की OL मात्रा का उत्पादन करता है जिसकी कीमत OP_1 है तथा B देश OH मात्रा का उत्पादन करता है जिसकी कीमत OP_2 है। व्यापार शुरू होने पर B देश, A देश से OP कीमत पर H_1M मात्रा का आयात करने लगता है। क्योंकि A देश में X वस्तु की कीमत कम है। B देश द्वारा A देश से आयात करने के कारण A देश में उत्पादन बढ़ता है तथा B देश में उत्पादन घटता है। व्यापार के बाद दोनों देशों में वस्तु X की कीमत P निर्धारित की जाती है। इस कीमत पर देश A वस्तु X की OQ मात्रा का उत्पादन करता है जिसमें ON मात्रा की खपत देश A में ही होती है तथा NQ मात्रा का B देश को निर्यात कर दिया जाता है। B देश OH_1 का उत्पादन स्वयं करता है। H_1H का आयात देश A से कर लेता है।

2. लागत ह्रास नियम– लागत ह्रास नियम के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में पूर्ण विशिष्टीकरण संभव है। लागत ह्रास नियम से आशय उत्पादन की उस अवस्था से होता है जब उत्पादन में वृद्धि करने से प्रति इकाई औसत लागत तथा सीमांत लागत घटती जाती है। लागतों में यह कमी या तो आंतरिक बचतों या बाह्य बचतों के कारण उत्पन्न होती है।

1. आंतरिक बचतें विभाजन के कारण,
2. मशीनों की अविभाज्यता के कारण,
3. अवशिष्ट पदार्थों के उपयोग होने के कारण,
4. बाजार के विस्तार के कारण,
5. वित्तीय बचतों के कारण उत्पन्न होती हैं।

उद्योग का विस्तार होने के फलस्वरूप उसे बाह्य बचतें प्राप्त होती हैं। उद्योग विस्तार के कारण श्रम सरलता से उपलब्ध हो जाते है अनेक सहायक उद्योग स्थापित हो जाते है तथा कच्चा माल कम मूल्य पर उपलब्ध होने लगता है परिणामस्वरूप लागतें कम होती है और लाभदायकता में वृद्धि होती है।

घटती हुई लागतों की स्थिति में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है। यह अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को पूर्ण विशिष्टीकरण की ओर ले जाता है। इससे लाभदायकता बढ़ती है और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का क्षेत्र विस्तृत होता है।

अपनी प्रगति जांचिए

7. तुलनात्मक लागत का सिद्धांत किस नियम पर आधारित है?

(क) श्रम लागत नियम (ख) उत्पत्ति समता नियम

(ग) सीमांत उपयोगिता नियम (घ) सम–सीमांत उपयोगिता नियम

8. रिकार्डो का तुलनात्मक लागत सिद्धांत किस सिद्धांत पर आधारित है?

(क) श्रम के मूल्य सिद्धांत पर (ख) कीमत सिद्धांत पर

(ग) मांग सिद्धांत पर (घ) पूर्ति सिद्धांत पर

3.6 साधन प्रचुरता : हैक्शर ओहलिन

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री रिकार्डो के अनुसार दो देशों में व्यापार तुलनात्मक लागतों में अंतर के कारण होता है। तुलनात्मक लागत सिद्धांत के अनुसार यदि दो देशों में आंतरिक लागत अनुपात में अंतर है तो अंतर्राष्ट्रीय व्यापार होता है। यह दोनों की लाभदायकता का पर्याप्त आधार होता है किंतु रिकार्डो ने यह स्पष्ट नहीं किया कि दोनों राष्ट्रों में लागतों में अंतर क्यों पाया जाता है। इसके बाद हैबरलर ने अवसर लागत सिद्धांत का प्रतिपादन किया। लेकिन दोनों ही सिद्धांत अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का वैज्ञानिक कारण प्रस्तुत करने में असफल रहें। दो स्वीडन अर्थशास्त्री एली हैक्शर तथा बर्टिली ओहलिन ने प्रतिष्ठित सिद्धांत को आधुनिक एवं वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत किया। सबसे पहले हैक्शर ने सन् 1919 में बताया कि ''दो देशों में व्यापार तुलनात्मक लाभ के अंतर के कारण होता है तथा तुलनात्मक

टिप्पणी

लाभ में अंतर दोनों देशों में उत्पत्ति के साधनों की सापेक्षिक कीमतों में भिन्नता तथा विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में साधनों के विभिन्न अनुपातों के प्रयोग के कारण होता है। ओहलिन ने अपनी पुस्तक (Inter – Regional and International Trade) में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धांत की विस्तृत व्याख्या की है। इन दोनों अर्थशास्त्रियों ने जिस सिद्धांत को विकसित किया है उसे हैक्शर-ओहलिन सिद्धांत अथवा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धांत कहते हैं। इसे साधन अनुपातों का सिद्धांत भी कहते हैं।

हैक्शर-ओहलिन का सिद्धांत– हैक्शर-ओहलिन का सिद्धांत रिकार्डो के तुलनात्मक लागत सिद्धांत का विरोध नहीं करता बल्कि पूरकता प्रदान करता है। रिकार्डो का तुलनात्मक सिद्धांत बताता है कि दो देशों में तुलनात्मक लागत में अंतर के कारण विदेशी व्यापार होता है लेकिन इस बात को स्पष्ट नहीं करता की यह अंतर क्यों होता है। हैक्शर-ओहलिन के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को अंतर्क्षेत्रीय व्यापार पद्धति के द्वारा ही समझा जा सकता है उसके लिए किसी पृथक सिद्धांत की आवश्यकता नहीं है अर्थात अंतर्राष्ट्रीय व्यापार अंतर्क्षेत्रीय व्यापार का ही विशेष रूप है।

हैक्शर ओहलिन का सिद्धांत यह बताता है कि उत्पादन, विशिष्टीकरण तथा प्रदेशों में व्यापार का प्रमुख निर्धारक तत्व-साधनपूर्तियों की सापेक्ष प्राप्यता है। प्रदेशों अथवा देशों में साधन संपन्नताएं तथा साधन पूर्तियां भिन्न होती हैं। कुछ देशों में पूंजी अधिक होती है, तो दूसरे देशों में श्रम अधिक होता है। यह सिद्धांत कहता है कि जिन देशों में पूंजी अधिक होगी वे पूंजी-गहन वस्तुओं का उत्पादन व निर्यात करेंगे। इसके विपरीत जिन देशों में श्रम की मात्रा अधिक होगी वे श्रम-गहन वस्तुओं का निर्यात करेंगे। ओहलिन के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रमुख कारण होता है कि कुछ वस्तुएं अन्य देशों से सस्ती खरीदी जा सकती है जबकि उन्हीं वस्तुओं का मूल्य उनके देशों में अधिक हो सकता है। इस प्रकार दो देशों के बीच व्यापार का प्रमुख कारण वस्तुओं के मूल्यों का अंतर रहता है।

मूल्य का सामान्य सिद्धांत– ओहलिन द्वारा प्रतिपादित अंतर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धांत मूल्य के सामान्य संतुलन के सिद्धांत की व्याख्या करता है मूल्य के सामान्य सिद्धांत के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु की मांग तथा पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है। किसी वस्तु की मांग उपभोक्ताओं की आवश्यकता, पसंद, उनकी रुचि एवं उनकी आय पर निर्भर करती है और वस्तु की पूर्ति, उत्पादन के साधनों तथा उत्पादन प्रणाली संबंधी दशाओं पर निर्भर करती है। संतुलन बिंदु पर मांग व पूर्ति समान होते हैं और वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन व्यय के बराबर होता है।

सभी वस्तुओं एवं उत्पादन साधनों का मूल्य अंततः निम्न आधारभूत तत्वों द्वारा निर्धारित होता है–

- उपभोक्ताओं की इच्छा तथा रुचियां।
- उत्पादन साधनों के स्वामित्व की दशाएं।
- उत्पादन साधनों की पूर्ति।
- उत्पादन की भौतिक दशाएं।

अतः ओहलिन ने स्पष्ट किया है कि जब विभिन्न राष्ट्रों के मध्य व्यापार होता है तो लागतों/मूल्यों में अंतर का सिद्धांत क्रियाशील होता है तथा लागतों में अंतर साधनों की उपलब्धता एवं साधनों के अनुपात में परिवर्तन पर निर्भर करता है।

हैक्शर–ओहलिन सिद्धांत की मान्यताएं

हैक्शर-ओहलिन सिद्धांत निम्न मान्यताओं पर आधारित है-

1. दोनों देशों के मध्य व्यापार स्वतंत्र होता है।
2. व्यापार में परिवहन व्यय तथा तटकर को शामिल नहीं किया जाता है।
3. हैक्शर ओहलिन ने 2 × 2 × 2 मॉडल का प्रयोग किया है अर्थात वस्तु (X तथा Y), दो देश (A तथा B), दो साधन (श्रम तथा पूंजी)।
4. दोनों देशों में उपभोक्ता उत्पत्ति समता नियम के अंतर्गत हो रहा है।
5. दोनों देशों में उपभोक्ताओं के अधिमान तथा उनकी मांग का ढांचा समरूप है अर्थात उपभोक्ताओं की प्रवृत्ति समान है।
6. वस्तुओं तथा साधन बाजारों में पूर्ण प्रतियोगिता होती है।
7. संसाधन पूर्ण नियोजित हैं।
8. गुणात्मक रूप से प्रत्येक साधन एक रूप हैं। जबकि परिणामात्मक रूप से इनमें भिन्नता पाई जाती है।
9. दोनों वस्तुओं की साधन गहनताएं भिन्न है एक में पूंजी गहन है तो दूसरी में श्रम गहन है।
10. प्रौद्योगिकी ज्ञान में कोई परिवर्तन नहीं होता है।
11. विशिष्टीकरण अपूर्ण है। दोनों में से कोई एक देश किसी एक वस्तु में विशिष्टीकरण प्राप्त नहीं करता है।
12. दोनों देशों में एक वस्तु के उत्पादन का फलन समान है लेकिन दोनों वस्तुओं का उत्पादन फलन भिन्न-भिन्न है, अर्थात X वस्तु का उत्पादन फलन Y वस्तु के उत्पादन फलन से भिन्न है। लेकिन दोनों देशों में X वस्तु के उत्पादन की तकनीक तथा Y वस्तु के उत्पादन की तकनीक एक समान है।
13. प्रत्येक वस्तु की कीमत उसकी सीमांत मुद्रा लागतों के बराबर है।
14. दोनों देशों के बीच उत्पादन के साधन अगतिशील हैं।

हैक्शर–ओहलिन सिद्धांत की व्याख्या

उपरोक्त मान्यताओं के आधार पर हैक्शर-ओहलिन सिद्धांत बताता है कि एक देश उन वस्तुओं का निर्यात करता है जिनके उत्पादन साधन उस देश में सापेक्षिक रूप से प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं फलस्वरूप सापेक्षिक रूप से सस्ते हैं। हैक्शर के मतानुसार दो देशों के मध्य व्यापार का कारण तुलनात्मक लाभ है यह लाभ निम्न दो कारणों से प्राप्त होता है–

1. दोनों देशों में उत्पादन साधनों की सापेक्षिक दुर्लभता, जिसके कारण साधनों की कीमतों में अंतर होता है।

2. विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में प्रयुक्त उत्पादन साधनों के अनुपात का अंतर।

टिप्पणी

ओहलिन के अनुसार दो देशों के बीच व्यापार का आधार कीमतों में अंतर होना है। कीमतों में अंतर देश में उपलब्ध साधनों की मात्रा तथा उनके मूल्यों पर निर्भर करता है। ओहलिन के अनुसार विशिष्टीकरण वस्तु की कीमतों में अंतर के कारण होता है। अन्य शब्दों में दो देशों के बीच सापेक्षिक कीमत स्तर दोनों देशों में साधनों की सापेक्षिक मांग तथा पूर्ति के अंतर के कारण उत्पन्न होती है।

हैक्शर-ओहलिन सिद्धांत की व्याख्या निम्न दो आधारों पर की गयी है-

1. साधन प्रचुरता कीमत कसौटी के रूप में/साधन कीमतों के रूप में प्रचुरता।

2. साधन प्रचुरता भौतिक कसौटी के रूप में/भौतिक रूप में साधन प्रचुरता।

1. साधन प्रचुरता कीमत कसौटी के रूप में/साधन कीमतों के रूप में प्रचुरता– हैक्शर-ओहलिन ने साधन कीमतों के रूप में प्रचुरता की व्याख्या की है उनके मतानुसार देश A में पूंजी की प्रचुरता होगी किंतु शर्त है कि

$$\left(\frac{P_c}{P_l}\right)_A < \left(\frac{P_c}{P_l}\right)_B$$

यहां PC पूंजी की कीमत को तथा PL श्रम की कीमत को व्यक्त करते हैं। A तथा B दो देशों को बताते हैं। यदि देश A में पूंजी अपेक्षाकृत सस्ती है तो उस देश में पूंजी की प्रचुरता है और यदि देश B में श्रम सस्ता है तो उस देश में श्रम की प्रचुरता है। इस प्रकार देश A पूंजी-गहन वस्तुओं का निर्यात करेगा और देश B श्रम-गहन वस्तुओं का निर्यात करेगा। इसे अग्र चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है-

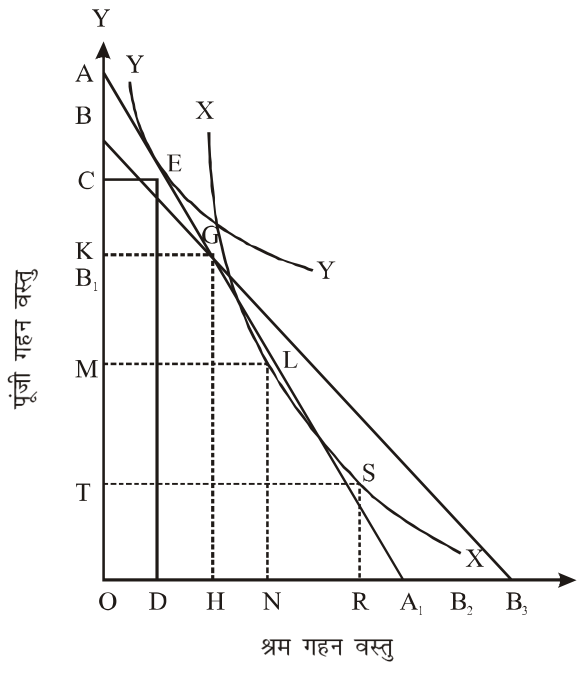

टिप्पणी

चित्र X में श्रम-गहन वस्तु है जिसे X अक्ष पर दिखाया गया है और Y में पूंजी-गहन वस्तु है जिसे Y अक्ष पर दिखाया गया है। वस्तु X का सम मात्रा वक्र X X है तथा वस्तु Y का सम मात्रा वक्र Y Y है। ये दोनों देशों A तथा B के लिए समान है। A देश में दोनों वस्तुओं के लिए सापेक्ष साधन कीमतों को साधन कीमत रेखा AA_1 द्वारा दिखाया गया है। प्रत्येक सममात्रा वक्र उससे संबंधित वस्तु की एक इकाई को प्रकट करता है, वस्तु की एक इकाई का उत्पादन पूंजी की OC तथा श्रम की OD मात्रा द्वारा किया जाएगा। यह बिंदु E द्वारा निर्धारित होता है जहां समलागत रेखा AA_1 को सममात्रा वक्र YY स्पर्श करता है। इसी आधार पर यह ज्ञात कर लिया जाता है कि देश A में X वस्तु की एक इकाई का उत्पादन करने के लिए पूंजी की OM मात्रा तथा श्रम की ON मात्रा की आवश्यकता होती है जहां यह L बिंदु द्वारा निर्धारित होता है क्योंकि इस बिंदु पर AA_1 साधन कीमत रेखा X X सममात्रा वक्र का स्पर्श करती है क्योंकि देश A में पूंजी प्रचुर और सस्ती है इसलिए देश A पूंजी-गहन वस्तु Y के उत्पादन में विशिष्टीकरण करेगा तथा देश B को निर्यात करेगा।

देश B में जहां श्रम प्रचुर मात्रा में तथा सस्ता है, प्रत्येक वस्तु की उत्पादन लागत ज्ञात करने के लिए साधन कीमत रेखा BB_3 खींची गयी है। ऐसी ही एक साधन कीमत रेखा B_1B_2 को BB_3 के समानांतर खींचा गया है जो बिंदु S पर सममात्रा वक्र X X को स्पर्श करती है। अब देश B में Y वस्तु की एक इकाई उत्पादित करने के लिए पूंजी की OK मात्रा तथा श्रम की OH मात्रा उत्पादित करनी चाहिए। दूसरी ओर इसी देश का B में X वस्तु की एक इकाई उत्पादित करने के लिए पूंजी की OT मात्रा तथा श्रम की OR मात्रा की आवश्यकता होगी क्योंकि देश B में श्रम प्रचुर और सस्ता है, इसलिए देश B श्रम गहन वस्तु X के उत्पादन में विशिष्टीकरण करेगा क्योंकि सममात्रा वक्र XX साधन कीमत रेखा किसी भी अर्थव्यवस्था में प्रचलित ब्याज दर का महत्वपूर्ण स्थान होता है जो S बिंदु को स्पर्श करता है इस बिंदु पर देश B को अधिक मात्रा श्रम OR तथा कम मात्रा पूंजी की PT की आवश्यकता है जबकि देश B को Y की एक इकाई का उत्पादन करने के लिए श्रम की OH तथा पूंजी की OK मात्रा चाहिए। अतः B देश श्रम-गहन है इसलिए वह श्रम-गहन वस्तु X का उत्पादन करेगा और उसे देश A की पूंजी-गहन वस्तु Y के साथ विनिमय कर लेगा।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हैक्शर-ओहलिन सिद्धांत स्पष्ट करता है कि पूंजी प्रचुर देश सापेक्षतया सस्ती पूंजी-गहन वस्तु का निर्यात करेगा।

2. साधन प्रचुरता भौतिक कसौटी के रूप में/भौतिक रूप में साधन प्रचुरता– हैक्शर-ओहलिन के सिद्धांत की भौतिक रूप में साधन प्रचुरता के आधार पर भी व्याख्या की जाती है। इस कसौटी के अनुसार एक देश सापेक्षतया पूंजी-प्रचुर है। यदि वह दूसरे देश की अपेक्षा पूंजी और श्रम के ऊंचे अनुपात से संपन्न है। यदि देश A सापेक्ष रूप से पूंजी -प्रचुर है और देश B सापेक्ष रूप से श्रम प्रचुर है तो भौतिक मात्राओं में माप इस प्रकार होगी।

$$\frac{C_A}{L_A} > \frac{C_B}{L_B}$$

टिप्पणी

C_A देश A में पूंजी की कुल मात्रा तथा L_A देश A में श्रम की मात्रा को व्यक्त करते हैं। C_B तथा L_B देश B में क्रमश: पूंजी की मात्रा तथा श्रम की मात्रा को व्यक्त करते हैं। भौतिक रूप में साधन प्रचुरता के आधार पर सिद्धांत की व्याख्या निम्न चित्र द्वारा भी स्पष्ट की जा सकती है-

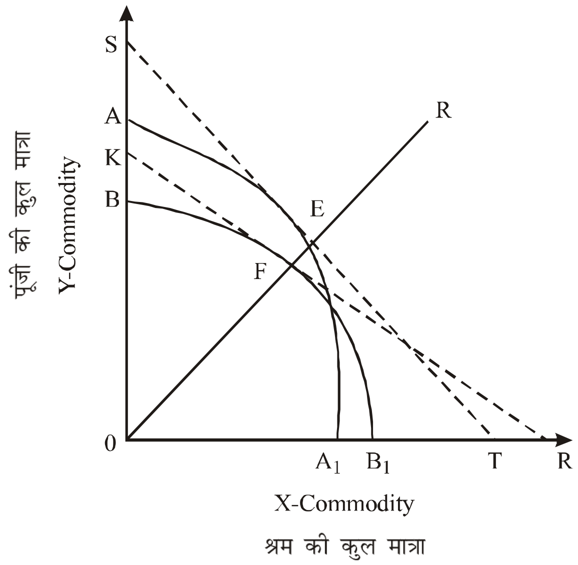

चित्र में देश A का उत्पादन संभावना वक्र AA_1 हैं तथा देश B का उत्पादन संभावना वक्र BB_1 है। इन वक्रों का ढाल बताता है कि वस्तु Y पूंजी गहन है तथा वस्तु X श्रम गहन है। यदि दोनों देश एक ही अनुपात में दोनों वस्तुओं का उत्पादन करते हैं तो वे OR रेखा के साथ-साथ उत्पादन करेंगे। यदि दोनों अपने-अपने बिंदुओं पर उत्पादन करते हैं तो देश A बिंदु E पर उत्पादन करेगा जहां साधन-कीमत रेखा उत्पादन संभावना वक्र AA_1 को स्पर्श करती है। देश A वस्तु Y को अधिक मात्रा में (OS) उत्पादित करेगा जो इसमें सस्ती है और वस्तु X की मात्रा (OT) का उत्पादन करेगा जो इसमें महंगी है। देश B बिंदु F पर उत्पादन करेगा जहां साधन कीमत रेखा KR उत्पादन संभावना वक्र BB_1 को स्पर्श करती है। यह देश X वस्तु की अधिक मात्रा (OR) उत्पादित करेगा जो इसमें सस्ती है और वस्तु Y की कम मात्रा OK का उत्पादन करेगा जो इसमें महंगी है। इस बात से सिद्ध होता है कि देश A की साधन कीमत रेखा ST का ढाल तिरछा है जबकि देश B की साधन कीमत रेखा KR का ढलान चपटा है अर्थात

KR ढलान $>$ ST की ढलान

अथवा

X अक्ष पर दोनों साधन-कीमत रेखाओं के बीच का अंतर TR यह बताता है कि देश B में X वस्तु की OR मात्रा देश A में X वस्तु की OT मात्रा की तुलना में अधिक है। इसी प्रकार Y अक्ष पर दोनों साधन-कीमत रेखाओं के बीच का अंतर KS द्वारा दर्शाया गया है। जो यह बताता है कि देश A में Y वस्तु की OS मात्रा तथा देश B में Y वस्तु की OK मात्रा की तुलना में अधिक है। अत: पूंजी प्रचुर देश A का पूंजी गहन वस्तु Y के प्रति झुकाव अधिक है और श्रम प्रचुर देश B का श्रम गहन वस्तु X के प्रति अधिक झुकाव है।

टिप्पणी

भौतिक रूप से साधन प्रचुरता का यह विश्लेषण यह नहीं दर्शाता है कि पूंजी प्रचुर देश A पूंजी गहन वस्तु Y का निर्यात करेगा और श्रम प्रचुर देश B श्रम गहन वस्तु X का निर्यात करेगा। भौतिक कसौटी के रूप में हैक्शर-ओहलिन सिद्धांत तभी मान्य होगा– जब दोनों देशों में प्रत्येक वस्तु के लिए रुचियां (मांग अथवा उपभोग अधिमान) समान है। इसे अग्र चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

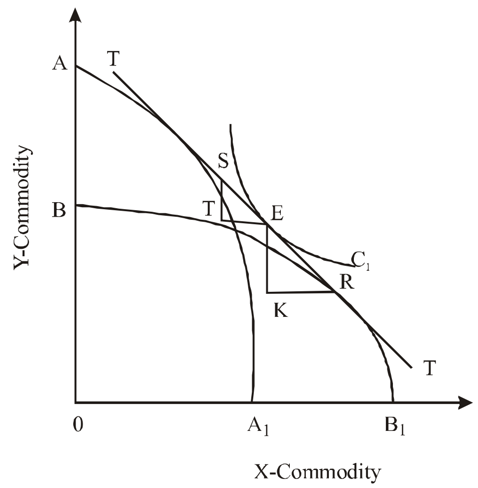

इस चित्र में TT साधन कीमत रेखा है जो साधन कीमत रेखा AA_1 संभावना वक्र को S बिंदु पर स्पर्श करती है और यह दर्शाती है कि देश A पूंजी-गहन है और वह Y वस्तु में विशिष्टीकरण करता है। X से अधिक इसको उत्पादित करता है। TT साधन कीमत रेखा BB_1 संभावना वक्र को R बिंदु पर स्पर्श करती है और बताती है कि B देश श्रम गहन है और X वस्तु का अधिक उत्पादन करेगा ये दोनों देश दो कारणों से व्यापार में विशिष्टीकरण और लाभ प्राप्त कर सकते हैं– प्रथम उनका साधन कीमत अनुपात बराबर है-

जैसा सामूहिक साधन कीमत रेखा TT से स्पष्ट होता है द्वितीय, दोनों वस्तुओं के लिए रुचियां दोनों देशों में समान है। जैसा कि सामूहिक उदासीनता वक्र C_I से प्रकट होता है। यह वक्र TT रेखा को E बिंदु पर स्पर्श करता है। दोनों देशों में व्यापार का ढांचा STE एवं RKE त्रिकोणों की सहायता से दिखाया गया है। देश A वस्तु Y की TS मात्रा का निर्यात करता है और X वस्तु की TE मात्रा का आयात करता है। देश B वस्तु X की KR मात्रा का निर्यात करेगा और Y की KE मात्रा का आयात करेगा।

यदि दोनों देशों में रुचियां भिन्न होती हैं और पूंजी प्रचुर A देश पूंजी गहन वस्तु Y की अधिक मात्रा का उपभोग करता है और श्रम-प्रचुर देश B श्रम-गहन वस्तु X की अधिक मात्रा का प्रयोग करता है तो ऐसी स्थिति में हैक्शर-ओहलिन सिद्धांत की भौतिक कसौटी रूप में की गयी व्याख्या अमान्य हो जाएगी। इस स्थिति को अग्र चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है-

टिप्पणी

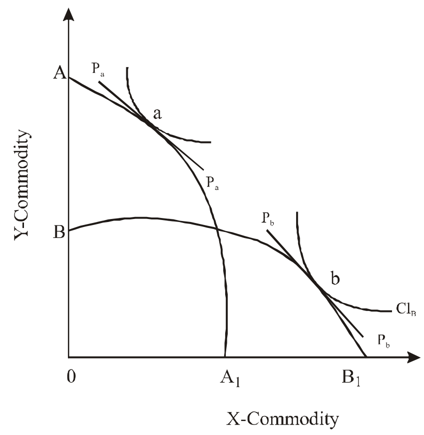

चित्र में cla देश A की मांग का सामूहिक उदासीनता वक्र है तथा clb देश B की मांग का सामूहिक उदासीनता वक्र है। cla उदासीनता वक्र देश A के संभावना वक्र AA_1 को a बिंदु पर स्पर्श करता है जो इस बात को दर्शाता है कि देश a में मांग का संकेंद्रण पूंजी गहन वस्तु पर है। इसी प्रकार clb उदासीनता वक्र देश B के संभावना वक्र BB_1 को b बिंदु पर स्पर्श करता है और प्रकट करता है कि देश B में मांग मुख्य रूप से श्रम-गहन वस्तु X में संकेंद्रित है।

व्यापार से पूर्व देश A में Y वस्तु देश B की अपेक्षा अधिक महंगी है इसे देश A में सापेक्षतया चपटी साधन की कीमत रेखा PaPa द्वारा दिखाया गया है। जबकि देश में साधन कीमत रेखा P_bP_b सापेक्षतया तिरछी है।

जब दोनों देशों के बीच व्यापार प्रारंभ होता है तो पूंजी प्रचुर देश A श्रम गहन वस्तु X का निर्यात करेगा तथा देश B श्रम प्रचुर देश है। सस्ती पूंजी गहन वस्तु Y का निर्यात करेगा। इससे सिद्ध होता है कि पूंजी प्रचुर देश श्रम-गहन वस्तु का निर्यात करेगा और श्रम-प्रचुर देश पूंजी-गहन वस्तु का।

इस प्रकार निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि हैक्शर-ओहलिन सिद्धांत की साधन संपन्नता की दोनों रूपों में साधन कीमतों तथा साधन भौतिकता की व्याख्या समान नहीं है। केवल साधन कीमतों द्वारा ही यह सिद्ध होता है पूंजी -प्रचुर देश पूंजी-गहन वस्तु का निर्यात करेगा और श्रम-प्रचुर देश श्रम-गहन वस्तु का निर्यात करेगा, जबकि भौतिक रूप में मांग स्थितियों के कारण यह सिद्ध नहीं होता है।

प्रतिष्ठित सिद्धांत की तुलना में हैक्शर–ओहलिन सिद्धांत की श्रेष्ठता

हैक्शर-ओहलिन सिद्धांत अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिष्ठित सिद्धांत से कई प्रकार से श्रेष्ठ है। इसकी श्रेष्ठता को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

1. **अंतर्राष्ट्रीय व्यापार एक विशेष स्थिति–** हैक्शर-ओहलिन अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को अंत: प्रादेशिक अथवा अंर्तक्षेत्रीय व्यापार की विशेष स्थिति मानते है जबकि प्रतिष्ठित सिद्धांत अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को अंतर्क्षेत्रीय व्यापार से नितांत भिन्न मानता है।
2. **साधन पूर्तियों में अंतर–** हैक्शर-ओहलिन सिद्धांत अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के ढांचे को निर्धारित करने के लिए साधन पूर्तियों के अंतर को आधार मानता है जबकि रिकार्डो ने इस बात पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया है।

3. **साधनों की सापेक्ष कीमतें–** ओहलिन मॉडल अधिक वास्तविक है क्योंकि यह साधनों की सापेक्ष कीमतों पर आधारित है जो वस्तुओं की सापेक्ष कीमतों पर प्रभाव डालता है जबकि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रतिष्ठित सिद्धांत केवल वस्तुओं की सापेक्ष कीमतों पर विचार करता है।

4. **उत्पादन के दो साधन–** ओहलिन का मॉडल दो साधन श्रम व पूंजी पर आधारित है जबकि प्रतिष्ठित सिद्धांत केवल एक साधन श्रम को शामिल करता है इस प्रकार ओहलिन मॉडल प्रतिष्ठित सिद्धांत से अधिक श्रेष्ठ है।

5. **सामान्य संतुलन सिद्धांत–** हैक्शर-ओहलिन सिद्धांत मूल्य के यथार्थ सामान्य संतुलन पर आधारित है। इस आधार पर यह सिद्धांत प्रतिष्ठित सिद्धांत से श्रेष्ठ कहा जा सकता है।

6. **पूर्ण विशिष्टीकरण–** हैक्शर ओहलिन सिद्धांत प्रतिष्ठित सिद्धांत से अधिक वास्तविक है क्योंकि यह एक देश द्वारा एक वस्तु के उत्पादन में पूर्ण विशिष्टीकरण की ओर ले जाता है तथा दूसरे देश को दूसरी वस्तु में, फिर दोनों देश व्यापार करते हैं जबकि प्रतिष्ठित सिद्धांत में दोनों देशों के बीच व्यापार पूर्ण विशिष्टीकरण की ओर ले जाता है।

7. **साधनों की सापेक्ष उत्पादकताएं–** हैक्शर-ओहलिन सिद्धांत श्रम व पूंजी की सापेक्ष उत्पादकताओं के अंतरों को अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार मानता है जबकि प्रतिष्ठित सिद्धांत केवल उत्पादकता को आधार मानता है।

8. **तुलनात्मक लागतों में अंतर–** प्रतिष्ठित सिद्धांत में तुलनात्मक लाभ में अंतरों के कारणों को स्पष्ट नहीं किया गया जबकि ओहलिन ने अपने सिद्धांत की इसकी संतोषजनक व्याख्या की है।

9. **साधन प्रचुरता में अंतर–** ओहलिन का अंतर्राष्ट्रीय व्यापार मॉडल विभिन्न देशों की साधन प्रचुरता (संपन्नता) के अंतरों पर आधारित है जबकि प्रतिष्ठित सिद्धांत उत्पादन में केवल एक साधन श्रम की गुणवत्ता को लेता है। ओहलिन सिद्धांत मूल्य निर्धारित करने के लिए केवल साधनों की गुणवत्ता को ही नहीं अपितु मात्रा पर भी बल देता है।

10. **दो देशों के उत्पादन फलन–** ओहलिन सिद्धांत दो देशों के उत्पादन फलन की मान्यता पर आधारित है जबकि प्रतिष्ठित सिद्धांत व्यापार करने वाले देशों के उत्पादनों की भिन्नता पर आधारित है।

11. **सकारात्मक सिद्धांत–** प्रतिष्ठित सिद्धांत कल्याण-सिद्धांत से संबंधित है। क्योंकि यह दो देशों के बीच व्यापार से होने वाले लाभों को दर्शाता है जबकि ओहलिन मॉडल वैज्ञानिक मॉडल है और यह व्यापार के मूल आधार पर ध्यान संकेंद्रित करता है। इस प्रकार यह सकारात्मक सिद्धांत है।

12. **व्यापार का भविष्य–** हैक्शर-ओहलिन व्यापार सिद्धांत व्यापार के भविष्य के बारे में संकेत देता है। अतः यह प्रतिष्ठित सिद्धांत से श्रेष्ठ है। प्रतिष्ठित सिद्धांत में दो देशों के बीच तुलनात्मक लागतों में अंतर, श्रम की कुशलता में अंतरों के कारण होता है। यदि निकट भविष्य में दोनों देशों में श्रम समरूप हो

जाए तो इनमें व्यापार नहीं होगा लेकिन ओहलिन सिद्धांत के अनुसार श्रम समान भी कुशल हो जाए तो भी व्यापार समाप्त नहीं होगा क्योंकि व्यापार का आधार साधनों की संपन्नता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हैक्शर ओहलिन सिद्धांत तुलनात्मक लागतों के सिद्धांत को अपने अंदर समाहित कर लेता है। उनमें सुधार करता है और व्यापार की संरचना को व्यापार के ढांचे से जोड़ता है इसलिए यह सिद्धांत प्रतिष्ठित सिद्धांत से श्रेष्ठ है।

हैक्शर–ओहलिन सिद्धांत की आलोचनाएं

हैक्शर-ओहलिन सिद्धांत की आलोचना निम्न आधारों पर की गयी है-

1. **दो एवं दो मॉडल–** ओहलिन का सिद्धांत दो एवं दो की मान्यता पर आधारित है अर्थात दो देश, दो वस्तु तथा दो साधन की मान्यता पर आधारित है जबकि ओहलिन ने स्वयं इस ओर भी इशारा किया है कि इसे अनेक प्रदेशों, अनेक वस्तुओं और अनेक साधनों तक विस्तारित किया जा सकता है।
2. **स्थैतिक सिद्धांत–** हैक्शर ओहलिन सिद्धांत की प्रकृति प्रतिष्ठित सिद्धांत की भांति स्थैतिक है।
3. **साधन समरूप नहीं–** यह सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि दो देशों में समरूप साधन पाए जाते हैं परंतु वास्तव में दो देशों के बीच साधन गुणात्मक दृष्टि से समरूप नहीं होते हैं। एक साधन (श्रम) में भी विविधता पायी जाती है जैसे श्रम कुशल व अकुशल हो सकता है।
4. **पूर्ण रोजगार एवं पूर्ण प्रतियोगिता की अवास्तविक मान्यताएं–** ओहलिन का सिद्धांत पूर्ण रोजगार तथा पूर्ण प्रतियोगिता की अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है। वास्तव में न पूर्ण रोजगार की स्थिति पायी जाती है और न ही पूर्ण प्रतियोगिता की।
5. **पैमाने के स्थिर प्रतिफल नहीं पाए जाते–** यह सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि उत्पादन में पैमाने के स्थिर प्रतिफल पाए जाते है। यह वास्तविक नहीं है क्योंकि यदि एक देश साधन संपन्न है तो वह अधिक उत्पादन करेगा अधिक निर्यात करेगा तभी उसे बड़े पैमाने की बचतें प्राप्त होगी और उत्पादन में बढ़ते प्रतिफल के लाभ होंगे न कि स्थिर प्रतिफल के।
6. **परिवहन लागतें व्यापार को प्रभावित नहीं करती है–** यह सिद्धांत दो देशों के मध्य व्यापार करते समय परिवहन लागतों को नहीं लेता है जबकि परिवहन लागतों के साथ-साथ बंदरगाह पर माल चढ़ाने तथा माल उतारने में व्यय होता है, जो दो देशों में उत्पादित वस्तुओं की कीमतों को प्रभावित करता है। अत: जब परिवहन लागतें जोड़ ली जाती हैं तो कीमत में अंतर बढ़ जाता है और व्यापार प्रभावित होता है।
7. **उत्पादन तकनीक समरूप नहीं–** ओहलिन का सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि दोनों देशों में प्रत्येक वस्तु की उत्पादन तकनीक समरूप है जबकि वास्तव में दो देशों में वस्तु की उत्पादन तकनीकें भिन्न-भिन्न होती हैं।

8. **आंशिक संतुलन विश्लेषण–** हैबरलर ने ओहलिन के सिद्धांत की आलोचना करते हुए कहा है कि ओहलिन एक व्यापक सामान्य संतुलन धारणा को विकसित करने में असफल रहा है। उसके अनुसार ओहलिन सिद्धांत मोटे तौर पर एक आंशिक संतुलन विश्लेषण ही है।
9. **रुचियां एवं मांग ढांचे समरूप नहीं–** यह सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि दोनों देशों में समरूप रुचियां तथा उपभोक्ताओं में समान मांग ढांचे पाए जाते हैं जबकि विभिन्न आय वर्गों के लिए मांग ढांचे व रुचियां समरूप नहीं हो सकती हैं।
10. **साधन कीमतें वस्तु की कीमतों का निर्धारण नहीं करती–** प्रो. विजनहोल्ड्स ने ओहलिन के सिद्धांत में इस मत की आलोचना की है कि वस्तु की कीमतों को साधन कीमतें निर्धारित करती हैं और साधन कीमतें लागतों को निर्धारित करती हैं। उनके अनुसार वस्तुओं की कीमतें वस्तुओं की उपयोगिता द्वारा निर्धारित होती हैं।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद हैक्शर-ओहलिन सिद्धांत निश्चित रूप से प्रतिष्ठित सिद्धांत से अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि यह सामान्य संतुलन परिवेश में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार स्पष्ट करने का प्रयत्न करता है।

अपनी प्रगति जांचिए

9. किन अर्थशास्त्रियों ने प्रतिष्ठित सिद्धांत को आधुनिक रूप में प्रस्तुत किया।
   (क) कीन्स तथा जे.बी.से
   (ख) जे.बी.से तथा मार्शल
   (ग) एली हैक्शर तथा बर्टिली ओहलिन
   (घ) हिक्स तथा पीगू
10. हैक्शर–ओहलिन ने निम्न में से किस मॉडल का प्रयोग किया है?
   (क) $1\times1\times1$ मॉडल (ख) $2\times2\times2$ मॉडल
   (ग) $3\times3\times3$ मॉडल (घ) $4\times4\times4$ मॉडल

3.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (घ)
2. (ख)
3. (घ)
4. (घ)
5. (क)
6. (घ)
7. (ख)

8. (क)
9. (ग)
10. (ख)

टिप्पणी

3.8 सारांश

अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का संबंध विभिन्न राष्ट्रों के बीच आर्थिक संबंधों से है। जब दो देश आपस में व्यापार करते हैं तो उनके आर्थिक संबंधों की शुरुआत होती है और इस कारण कुछ समस्याएं उत्पन्न होती हैं।

अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र कला है क्योंकि यह अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के दौरान आने वाली समस्याओं के समाधान को खोजने का प्रयास करता है। यह वित्त प्रदान करना, लेन-देन की शर्तों को निश्चित करना, अंतर्राष्ट्रीय भुगतान करना तथा जोखिमों का ध्यान रखना आदि कार्य करता है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए संपूर्ण विश्व एक इकाई नहीं है। बल्कि यह कई अलग-अलग क्षेत्रों में बंट गया है। अंतर्राष्ट्रीयता की भावना क्षेत्रीयता के दायरे में सिमटती जा रही है।

आंतरिक व्यापार से अभिप्राय उस व्यापार से होता है जो किसी एक देश की सीमा के भीतर विभिन्न स्थानों अथवा विभिन्न क्षेत्रों के बीच किया जाता है, जैसे कोई गुजरात का व्यापारी उत्तर प्रदेश के व्यापार के साथ किसी वस्तु का व्यापार करता है या कोई दिल्ली का व्यापारी मुंबई के व्यापारी से व्यापार करता है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार राजनैतिक तथा औद्योगिक घटकों को बाजारों से पृथक कर देते हैं। आर्थिक संसाधनों के स्थानांतरण में प्रतिबंध उपभोक्ताओं की रुचि, आदत तथा प्रथाओं में अंतर देशी बाजार को विदेशी बाजार से पृथक करते हैं।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर आधारित दो देशों में उत्पत्ति के साधनों में विभिन्नता होती है जो देशों की तुलनात्मक लागत की भिन्नता को प्रकट करती है।

लागतों का अनुपात समान होने पर किसी भी प्रकार का अंतर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं हो सकता है क्योंकि ऐसे देशों में किसी भी देश में विभाजन या विशिष्टीकरण नहीं हो सकता है।

रिकार्डो द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत केवल दो वस्तुओं के उत्पादन तथा व्यापार पर लागू होता है लेकिन व्यवहार में व्यापार दो से अधिक वस्तुओं में किया जाता है।

रिकार्डो ने तुलनात्मक लागत सिद्धांत की व्याख्या वस्तु विनिमय प्रणाली के अंतर्गत की थी किंतु वर्तमान में श्रम विभाजन प्रणाली के अंतर्गत वस्तुओं को मुद्रा से क्रय किया जाता है।

तुलनात्मक लागत सिद्धांत के अनुसार यदि दो देशों में आंतरिक लागत अनुपात में अंतर है तो अंतर्राष्ट्रीय व्यापार होता है। यह दोनों की लाभदायकता का पर्याप्त आधार होता है किंतु रिकार्डो ने यह स्पष्ट नहीं किया कि दोनों राष्ट्रों में लागतों में अंतर क्यों पाया जाता है।

3.9 मुख्य शब्दावली

- **व्यापार संतुलन**—किसी देश के समग्र निर्यात और आयात का अंतर।
- **व्यापार**—व्यापार का अर्थ है वस्तुओं तथा सेवाओं का विनिमय या क्रय-विक्रय।
- **अंतर्राष्ट्रीय व्यापार**—एक राष्ट्र द्वारा अपनी सीमाओं से बाहर शेष विश्व के साथ होने वाले समस्त प्रकार के लेन-देन या व्यापार को अंतर्राष्ट्रीय व्यापार कहते है।
- **अंतरक्षेत्रीय व्यापार**—एक राष्ट्र की सीमाओं के भीतर होने वाले समस्त प्रकार के लेन-देन या व्यापार को अंतरक्षेत्रीय या आंतरिक व्यापार कहते है।
- **श्रम विभाजन**—किसी वस्तु या सेवा के उत्पादन की विभिन्न गतिविधियों या प्रक्रियाओं के संपादन में लगे श्रम का उन गतिविधियों तथा प्रक्रियाओं के आधार पर बंटवारा और उसमें विशिष्टीकरण प्राप्त करना ही श्रम विभाजन है।
- **राशिपातन**—राशिपातन से तात्पर्य अपने देश की वस्तु को दूसरे देश में कम मूल्य पर बेचना होता है।

3.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र से आप क्या समझते हैं?
2. अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिष्ठित सिद्धांत की मान्यताएं बताइए।
3. लागतों में अंतर कितने प्रकार का होता है? संक्षेप में समझाइए।
4. अल्पविकसित देशों में तुलनात्मक लागत सिद्धांत लागू न होने के चार कारण बताइए।
5. अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के तुलनात्मक लागत सिद्धांत की चार आलोचनाएं लिखिए।
6. लागत वृद्धि नियम के अंतर्गत तुलनात्मक लागत सिद्धांत समझाइए।
7. हैक्शर-ओहलिन सिद्धांत की मान्यताएं क्या हैं?

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1. आधुनिक युग में अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के महत्व की विवेचना कीजिए।
2. अंतरक्षेत्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की समानताएं एवं असमानताओं का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
3. आर्थिक विकास में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के महत्व पर प्रकाश डालिए।
4. तुलनात्मक लागत सिद्धांत की मौद्रिक व्याख्या कीजिए।
5. तुलनात्मक लागत सिद्धांत में किए गए संशोधनों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
6. किन कारणों से प्रतिष्ठित सिद्धांत की तुलना में हैक्शर ओहलिन सिद्धांत श्रेष्ठ है?
7. हैक्शर-ओहलिन सिद्धांत की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

3.11 सहायक पाठ्य सामग्री

टिप्पणी

Tyagi, B. P. 1975. *Public Finance*. Meerut: Jai Prakash Nath and Co.

Sundaram and Sundaram. 1995. *Public Finance*. New Delhi: Sultan Chand & Sons.

Huge Dalton. 2013. *Principles of Public Finance*. New Delhi: Routledge.

Houghton, E. W. 1998. *Public Finance*. Baltimore: Penguin.

Gupta, S. B. 1994. *Monetary Economics*. New Delhi: S.Chand & Company.

टिप्पणी

इकाई 4 व्यापार की शर्तें, विश्व व्यापार संगठन और अंतर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाह

संरचना

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 व्यापार की शर्तें : संकल्पना और प्रकार
4.3 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रशुल्क और गैर प्रशुल्क की बाधाएं
4.4 विश्व व्यापार संगठन (WTO) उद्देश्य और कार्य
4.5 भुगतान शेष : संकल्पना और प्रकार
- 4.5.1 भुगतान संतुलन की संकल्पना और प्रकार
- 4.5.2 व्यापार शेष/व्यापार संतुलन की संरचना और घटक
- 4.5.3 भुगतान शेष में असंतुलन के कारण
- 4.5.4 भुगतान शेष में असंतुलन को ठीक करने के उपाय

4.6 अंतर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाह
4.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.8 सारांश
4.9 मुख्य शब्दावली
4.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.11 सहायक पाठ्य सामग्री

4.0 परिचय

प्राचीनकाल से जब संसार में लेनदेन प्रारंभ हुआ है तब से व्यापार की शर्तों का प्रयोग होता रहा है। वस्तु विनिमय प्रणाली के अंतर्गत व्यापार की शर्तें यह तय करती हैं कि एक वस्तु की मात्रा के बदले दूसरी वस्तु की कितनी मात्रा प्राप्त की जा सकती है। वर्तमान समय में व्यापार की शर्तों का प्रयोग अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में किया जाता है। व्यापार की शर्तों द्वारा निर्धारित होता है कि कौन सा देश किस वस्तु के बदले कितनी वस्तु दे ताकि व्यापार की शर्त उनके अनुकूल हो जाए।

पहले अंतरण भुगतान हारने वाले देश पर जीतने वाले देश द्वारा लगाए गए क्षतिपूरक भुगतान (reparation payments) के रूप में होते थे। सन् 1871 में फ्रैंकों-प्रूशियन युद्ध जीतने पर जर्मनी ने फ्रांस से इसी प्रकार के क्षतिपूरक भुगतान की मांग की थी और पहले विश्व युद्ध के उपरांत जीतने वाले मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी पर भारी क्षतिपूर्ति भुगतान लागू किया था। वर्तमान में, 1970 तथा 1980 के दशक में अंतर्राष्ट्रीय ऋण संकट तथा 1990 के दशक में एशियाई संकट पैदा होने से अंतरण समस्याएं सामने आई।

अंतरण समस्या से अभिप्राय देनदार देश से लेनदार देश को आय के अंतर्राष्ट्रीय अंतरणों से है अर्थात दो देशों के बीच लेन-देन की समस्या अंतरण समस्या कहलाती है। आय के इस प्रकार के अंतरण वास्तविक अंतरण भी कहलाते हैं। क्योंकि यह देनदार देश द्वारा माल तथा सेवाओं के बदले दी जाने वाली पूंजी तथा ब्याज का लेनदार देश को किया जाने वाला भुगतान है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देने के लिए व्यापार में परिमाणात्मक प्रतिबंधों को हतोत्साहित करने तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से संबंधित विभिन्न समस्याओं को सुलझाने के लिए 30 अक्टूबर 1947 को जेनेवा में 23 राष्ट्रों द्वारा एक सामान्य समझौते पर हस्ताक्षर किए गए। यह समझौता गैट (General Agreement of Tariffs and Trade) के नाम से जाना गया। तब से लेकर दिसंबर 1994 तक गैट के अंतर्गत आठ दौर संपन्न हुए। गैट का आठवां दौर बहुचर्चित एवं विवादास्पद रहा। अत: 15 अप्रैल 1994 को मोरक्को के मारकस नगर में गैट के 124 सदस्यों ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किए जिसके फलस्वरूप 1 जनवरी 1995 को विश्व व्यापार संगठन की स्थापना हुई। लगभग पांच दशक तक विश्व व्यापार पर निगरानी रखने वाले इस अंतर्राष्ट्रीय संगठन का अस्तित्व 12 दिसंबर 1995 को समाप्त हो गया। 1 जनवरी 1995 से विश्व व्यापार संगठन अस्तित्व में है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रत्येक देश कुछ वस्तुओं का अन्य देशों से आयात करता है जिसका उसे भुगतान करना पड़ता है तथा कुछ वस्तुओं का निर्यात करता है जिनके लिए उसे भुगतान प्राप्त होता है, इस प्रकार प्रत्येक देश को अपने विदेशी व्यापार से संबंधित स्थिति की वास्तविक जानकारी के लिए अपने आयातों व निर्यातों की कुल मात्रा व कुल मूल्य का ज्ञान होना चाहिए। इस संबंध में व्यापार संतुलन व भुगतान संतुलन दो महत्वपूर्ण तत्व हैं। इन तत्वों के विश्लेषण से देश के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की स्थिति, अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संभावनाओं तथा अंतर्राष्ट्रीय भुगतानों का अनुमान लगाया जा सकता है। किसी देश का भुगतान संतुलन एक देश का एक वर्ष में विश्व के अन्य राष्ट्रों से किए गए लेन–देन के विवरण का व्यवस्थित रिकॉर्ड होता है। यह एक देश का विश्व के बाकी देशों के साथ आर्थिक संबंधों की प्रकृति तथा विस्तार का सांख्यिकीय विवरण होता है।

एक देश का व्यापार संतुलन एक निश्चित अवधि के भीतर आयातों तथा निर्यातों की बीच के संबंधों को बताता है। किसी देश का व्यापार संतुलन उस देश के निर्यातों तथा आयातों के अंतर को बताता है। विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं के आयात व निर्यात के अतिरिक्त ब्याज, लाभ पूंजी हस्तांतरण व अन्य प्रकार के लेन देन होते हैं। भुगतान संतुलन में व्यापार संतुलन के अतिरिक्त अन्य सभी विदेशी लेन-देनों को शामिल किया जाता है। इस प्रकार एक देश का भुगतान संतुलन एक निश्चित अवधि के भीतर उसके बाकी विश्व के साथ सभी मौद्रिक सौदों का लेखा जोखा होता है।

इस इकाई में व्यापार में होने वाली शर्तो को विस्तारपूर्वक समझाया गया है।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- व्यापार की शर्तो का मूल्यांकन कर पाएंगे;
- अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रशुल्क और गैर प्रशुल्क बाधाओं का विश्लेषण कर पाएंगे;
- विश्व व्यापार संगठन के उद्देश्यों और कार्यों की विवेचना कर पाएंगे;
- भुगतान शेष की संकल्पना और प्रकारों का विश्लेषण कर पाएंगे;

- व्यापार शेष की संरचना और घटक तथा भुगतान संतुलन के साथ संबंध का आकलन कर पाएंगे;
- अंतर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाह को जान पाएंगे।

4.2 व्यापार की शर्तें : संकल्पना और प्रकार

व्यापार की शर्तें उस दर को बताती हैं जिस दर पर एक देश की वस्तुओं का दूसरे देश की वस्तुओं के साथ विनिमय किया जाता है। दो देशों में जिन दो वस्तुओं का अंतर्राष्ट्रीय व्यापार किया जाता है, उनके भौतिक विनिमय अनुपात को व्यापार की शर्तें कहा जाता है। अन्य शब्दों में जिस भौतिक विनिमय अनुपात पर वस्तुओं का अंतर्राष्ट्रीय विनिमय किया जाता है उसे व्यापार की शर्तें कहते हैं। यह दर किसी देश के आयातों के रूप में उस देश के निर्यातों की क्रय शक्ति की माप है और देश की निर्यात कीमतों तथा आयात कीमतों के बीच संबंध को व्यक्त करती है।

$$\text{व्यापार की शर्त} = \frac{\text{आयात का कुल मूल्य}}{\text{निर्यात का कुल मूल्य}}$$

$$Terms\ of\ Trade = \frac{Px}{Pm}$$

Px = निर्यात का कुल मूल्य

Pm = आयात का मूल्य

अनुकूल तथा प्रतिकूल व्यापार की शर्तें– किसी भी समय पर किसी भी देश की व्यापार की शर्तें अनुकूल अथवा प्रतिकूल हो सकती है। व्यापार की शर्तों का अनुकूल अथवा प्रतिकूल होना उसके आयातों तथा निर्यातों के मूल्य पर निर्भर करता है।

1. अनुकूल व्यापार की शर्तें– एक देश के लिए व्यापार की शर्तें उस समय अनुकूल होती है जब उसके आयातों के मूल्य उसके निर्यातों के मूल्यों की तुलना में कम होते हैं। अन्य शब्दों में जब दी हुई आयात की मात्रा के बदले कम मात्रा में निर्यात करना पड़े तो व्यापार की शर्तें अनुकूल होती हैं।

2. प्रतिकूल व्यापार शर्तें– एक देश के लिए व्यापार की शर्तें उस समय प्रतिकूल होती हैं जब उसके निर्यातों की तुलना में आयातों का मूल्य अधिक हो। अन्य शब्दों में जब दी हुई आयात की मात्रा के लिए वस्तुओं का निर्यात करना पड़े तो व्यापार की शर्तें प्रतिकूल होती हैं।

यह स्वाभाविक है कि व्यापार करने वाले देशों में जब व्यापार की शर्तें एक देश के लिए अनुकूल हो जाती है तो दूसरे देश के लिए व्यापार की शर्तें स्वतः ही प्रतिकूल हो जाती हैं अर्थात व्यापार की शर्तें एक ही समय पर दोनों देशों के लिए अनुकूल अथवा प्रतिकूल नहीं हो सकती हैं।

व्यापार की शर्तों का वर्गीकरण

व्यापार की शर्तों का वर्गीकरण इस आधार पर किया जाता है–

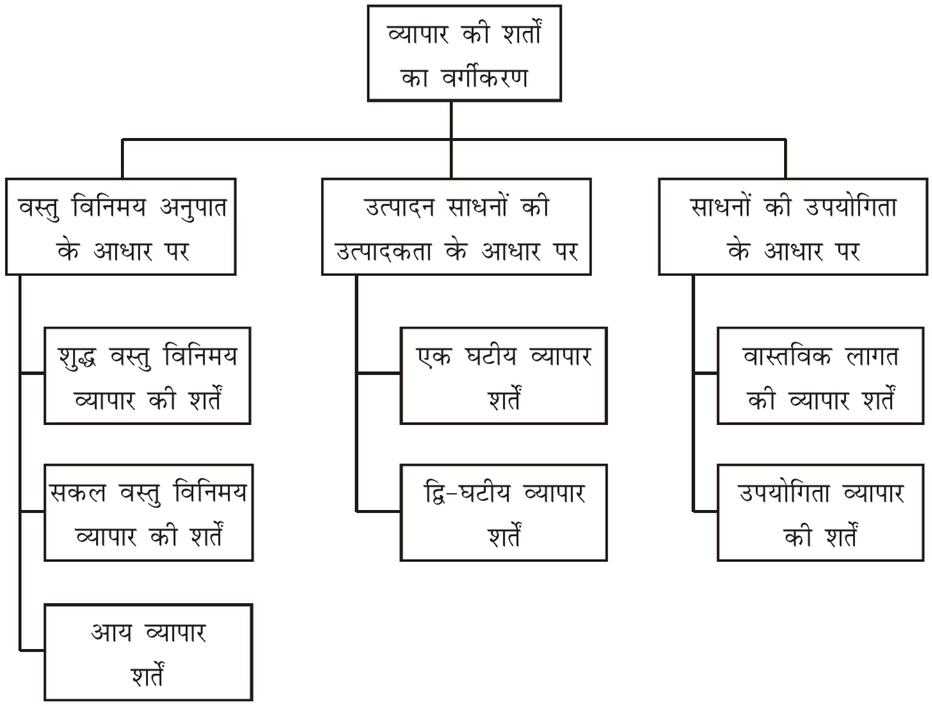

(क) वस्तु विनिमय अनुपात के आधार पर

वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तों का विवेचन प्रो. टॉजिंग द्वारा किया गया था। इन्होंने वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तों को तीन प्रकार से पारिभाषित किया–

1. शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें
2. सकल वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें
3. आय व्यापार शर्तें

1. शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें– शुद्ध वस्तु व्यापार की शर्तों का निर्धारण केवल आयात तथा निर्यात वस्तुओं के मूल्य के आधार पर किया जाता है। अन्य शब्दों में निर्यात और आयात की कीमतों में जो अनुपात होता है उसे शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें कहते हैं। इसे सरल सूत्र रूप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है–

$$NBTT = \frac{Px}{Pm}$$

NBTT = शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार शर्त

Px = निर्यात के मूल्य

Pm = आयात के मूल्य

$Px/Pm>1$ व्यापार की शर्तें अनुकूल हैं।

$Px/Pm<1$ व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हैं।

यदि दो समयावधियों के मध्य व्यापार की शर्त का अध्ययन करना हो अथवा किसी अवधि विशेष में व्यापार की वस्तु विनिमय शर्तों में हुए परिवर्तनों को मापने के

टिप्पणी

लिए आयात कीमतों में परिवर्तन से निर्यात कीमतों में परिवर्तन का अनुपात लिया जाता है। इसे निम्न सूत्र द्वारा व्यक्त किया जा सकता है–

$$NBTT = \frac{P_{x1} / P_{x}o}{P_{m_1} / P_{mo}}$$

Px_1 = वर्तमान समय में निर्यातों का मूल्य

$P_x o$ = आधार वर्ष में निर्यातों का मूल्य

Pm_1 = वर्तमान समय में आयातों का मूल्य

Pm_o = आधार वर्ष में आयातों का मूल्य

विश्लेषण के दोष

1. शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तों का प्रमुख दोष यह है कि इससे भुगतान संतुलन की स्थिति का ज्ञान नहीं हो पाता है।
2. शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्त के अंतर्गत व्यापार की मात्रा का ज्ञान नहीं हो पाता है।

2. सकल वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें– शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तों के दोषों को दूर करने के लिए प्रो. टॉजिंग ने सकल वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तों का प्रतिपादन किया। उनके मतानुसार सकल वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें आयात की कुल भौतिक मात्रा तथा निर्यात की कुल भौतिक मात्रा के संबंध को व्यक्त करती है। अन्य शब्दों में सकल वस्तु विनिमय व्यापार की शर्त देश के कुल निर्यातों और कुल आयातों के बीच विनिमय दर को व्यक्त करती है। यह किसी देश के आयातों तथा निर्यातों की कुल मात्रा के बीच के अनुपात को दर्शाता है। यह अनुपात जितना अधिक होगा, सकल व्यापार की शर्तें उतनी ही बेहतर होंगी। इसे सूत्र रूप में निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है।

$$GBTT = \frac{Qm}{Qx}$$

GBTT = सकल वस्तु विनिमय व्यापार की शर्त

Qm = सकल आयात मात्रा

Qx = सकल निर्यात मात्रा

दो समयावधियों के मध्य व्यापार की शर्तों का अनुमान लगाने के लिए अथवा किसी अवधि में व्यापार की वस्तु विनिमय शर्तों में हुए परिवर्तनों को मापने के लिए निम्न सूत्र का प्रयोग किया जाता है।

$$NBTT = \frac{Q_{m1} / Q_{mo}}{Q_{x1} / Q_{xo}} \times 100$$

अथवा

$$\frac{Qx_1}{Qm_1} \times \frac{Qm_0}{Qx_0}$$

टिप्पणी

Qm_1 = चालू वर्ष की आयातों की मात्रा

Qm_o = आधार वर्ष की आयातों की मात्रा

Qx_1 = चालु वर्ष की निर्यातों की मात्रा

Qx_o = आधार वर्ष की निर्यातों की मात्रा

यदि देश का व्यापार संतुलन संतुलित है तो कुल निर्यात मूल्य = कुल आयात मूल्य होगा अर्थात

$$\frac{Q_m}{Q_x} \times \frac{P_x}{P_m}$$

यदि देश का व्यापार संतुलित नहीं है तो

$$\frac{Qm}{Qx} \neq \frac{Px}{Pm}$$

जब देश का व्यापार संतुलित नहीं है तो ऐसे में देश के सामने दो स्थितियां हो सकती हैं– व्यापार की शर्तें अनुकूल हो सकती हैं अथवा प्रतिकूल हो सकती हैं।

यदि $Qm/(Qx) > Px/(Pm)$ प्रतिकूल व्यापार शर्त

यदि $Qm/(Qx) < Px/(Pm)$ अनुकूल व्यापार शर्त

3. आय व्यापार शर्तें– प्रो. डोरेन्स ने आय व्यापार शर्तों की धारणा प्रस्तुत करके शुद्ध वस्तु विनिमय शर्तों की धारणा पर सुधार किया है। मात्रा की यह धारणा किसी देश के निर्यातों में परिवर्तन के अनुपात में उसकी परिवर्तित होती हुई आयात क्षमता को प्रदर्शित करती है। डोरेन्स के अनुसार यदि निर्यातों से प्राप्त कुल आय को उसी वर्ष के आयातों के मूल्यों से गुणा करके आय व्यापार की शर्तों को ज्ञात किया जा सकता है उसके अनुसार

$$ITT = Qx \times Px = \frac{\text{निर्यात कीमतों का सूचकांक}}{\text{आयात कीमतों का सूचकांक}} \times \text{निर्यात की मात्रा}$$

ITT = आय व्यापार शर्त

$Qx \times Px$ = निर्यात की कुल प्राप्ति (आय)

Pm = आयातों के मूल्य

व्यापार की आय शर्तों के बढ़ने का अर्थ है कि देश अपने निर्यात के बदले अधिक वस्तुएं आयात कर सकता है। किसी देश के लिए व्यापार की आय शर्तें अनुकूल हो सकती हैं किंतु हो सकता है कि उसकी सकल वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें प्रतिकूल

हो जाएं। आयात कीमतें स्थिर मान लेने पर यदि निर्यात कीमतें कम हो जाएं तो निर्यात बढ़ेंगे। इस प्रकार हो सकता है कि जहां व्यापार की आय शर्तें अनुकुल हो गई हों, वही सकल वस्तु विनिमय व्यापार शर्तें प्रतिकूल हो गई हों।

(ख) उत्पादन साधनों की उत्पादकता के आधार पर

उत्पादन साधन की उत्पादकता के आधार पर व्यापार की शर्तों को दो भागों में वर्गीकृत किया गया है।

1. एक घटकीय व्यापार शर्तें– व्यापार की वस्तु विनिमय शर्तों की धारणा निर्यात उद्योगों में होने वाले उत्पादकता परिवर्तनों पर विचार नहीं करती है। प्रो. वाइनर ने व्यापार की एक घटकीय शर्तों की धारणा प्रस्तुत की है जो घरेलू निर्यात क्षेत्र में परिवर्तनों को बताती है।

प्रो. वाइनर के अनुसार यदि व्यापार की शर्तों के निर्देशांक को निर्यात वस्तु के तकनीकी गुणकों के निर्देशांकों के व्युत्क्रम से गुणा कर दिया जाए तो जो निर्देशांक प्राप्त होंगे वह व्यापार से लाभ की प्रवृत्ति के बारे में व्यापार शर्तों के निर्देशांकों की तुलना में अच्छा पथ प्रदर्शक होता है।

एक घटकीय व्यापार की शर्तों (SFTT) में केवल निर्यात के उत्पादन साधन की उत्पादकता को शामिल किया गया है।

$SFTT = P_x \times Z_x$ अथवा

$$SFTT = \frac{Px}{Pm} \times Zx \text{ अथवा}$$

यहां Px = निर्यात मूल्य Pm आयात मूल्य Zx निर्यात के उत्पादन साधन की उत्पादकता का निर्देशांक

एक घटकीय व्यापार शर्त (SFTT) का महत्वपूर्ण दोष यह है कि इसमें केवल निर्यात के साधन सूचकांक को शामिल किया गया है। आयात के साधन सूचकांक को नहीं। इस कमी को दूर करने के लिए प्रो. वाइनर ने द्विघटकीय व्यापार की शर्तों की विवेचना की।

2. द्वि घटकीय व्यापार की शर्तें (DFTT)– द्वि घटकीय व्यापार की शर्तों के अंतर्गत निर्यात के साथ साथ आयात के उत्पादन साधनों के निर्देशांकों को भी शामिल किया गया है। द्विघटकीय शर्तों को मापने वाले सूचक को निम्न सूत्र के रूप में व्यक्त किया जाता है।

$$DFTT = \frac{Px}{Pm} \times \frac{Zx}{Zm} \text{ अथवा } DFTT = NBTT \times \frac{Zx}{Zm}$$

Px = निर्यात मूल्य

Zx = निर्यात के उत्पादन साधन की उत्पादकता का निर्देशांक

Pm = आयात मूल्य

Zm = आयात के उत्पादन साधन की उत्पादकता का निर्देशांक

यदि DFTT > 1 व्यापार की शर्त देश के अनुकूल है

यदि DFTT < 1 व्यापार की शर्त देश के प्रतिकूल है

(ग) साधनों की उपयोगिता के आधार पर

उपयोगिता के आधार पर व्यापार की शर्तों का विवेचन भी प्रो. वाइनर ने किया है उनके अनुसार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के दो पक्ष होते हैं– (1) आयात पक्ष, (2) निर्यात पक्ष। यदि देश में आयातों में वृद्धि होती है तो देश में वस्तु की पूर्ति में वृद्धि होती है जिससे देशवासियों को अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है।

$Im \uparrow \rightarrow Sc \downarrow \Rightarrow$ उपयोगिता $\uparrow$ Im = आयात, Sc = पूर्ति

इसके विपरीत यदि देश से निर्यातो में वृद्धि होती है तो देश में वस्तु की पूर्ति कम हो जाती है जिसके कारण देशवासियों को अनुपयोगिता/कष्ट की प्राप्ति होती है।

$Ex \uparrow \rightarrow Sc \downarrow \Rightarrow$ अनुपयोगिता

इस दृष्टि से व्यापार की शर्तों को दो भागों में बांटा गया है-

1. **वास्तविक लागत व्यापार की शर्तें–** यदि एक घटकीय व्यापार की शर्तों को निर्यात से प्राप्त होने वाली अनुपयोगिता के निर्देशांक से गुणा कर दिया जाए तो RCTT ज्ञात हो जाएगी।

$$RCTT = SFTT \times Rx$$

अथवा

$$RCTT = NBTT \times Zx \times Rx$$

अथवा

$$RCTT = \frac{Px}{Pm} \times Zx \times Rx$$

यहां Rx निर्यात से प्राप्त होने वाली अनुपयोगिता का निर्देशांक है।

2. **उपयोगिता व्यापार की शर्तें–** यदि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभों अथवा आयातों से देशवासियों को प्राप्त होने वाली उपयोगिता को शामिल कर दिया जाए तो उपयोगिता व्यापार की शर्तें प्राप्त हो जाएंगी।

$UTT = SFTT \times Rx \times Rm$ अथवा $UTT = NBTT \times Zx \times Rx \times Rm$

अथवा

$$UTT = \frac{Px}{Pm} \times Zx \times Rx \times Rm$$

यहां Rm वस्तु के आयात के कारण देशवासियों को मिलने वाली उपयोगिता है वास्तविक लागत धारणा की तरह इस धारणा का कोई विशेष व्यावहारिक प्रयोग नहीं है। इस कारण विकसित और अविकसित देशों में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभों को मापने के लिए वस्तु शर्तों और व्यापार की आय शर्तों का प्रयोग किया गया है।

व्यापार की शर्तों को प्रभावित/निर्धारित करने वाले तत्व

किसी भी देश के व्यापार की शर्तें विभिन्न देशों के मध्य वस्तुओं की मांग तथा पूर्ति की लोच, देशों का आर्थिक स्तर, विकास की दर, धन का वितरण, राष्ट्रीय आय, प्रतिव्यक्ति आय, विदेशी मुद्रा कोष, आयात निर्यात नीति आदि पर निर्भर करती है।

1. मांग की लोच– व्यापार की शर्तें अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उत्पादित वस्तु की मांग की लोच पर निर्भर करती हैं। यदि मांग की लोच विदेशों में बेलोचदार है तो व्यापार की शर्त देश के लिए अनुकूल और यदि मांग की लोच विदेशों में लोचदार है तो व्यापार की शर्तें देश के प्रतिकूल होंगी।

यदि $ed < 1$ बेलोचदार है तब व्यापार की शर्त अनुकूल होगी

यदि $ed > 1$ लोचदार है तब व्यापार की शर्त प्रतिकूल होगी

किसी भी वस्तु की मांग की लोच, वस्तुओं की प्रकृति, मूल्य, स्थानापन्न वस्तु की उपलब्धि, व्यक्तियों की आय, रुचि, फैशन आदि पर निर्भर करती है।

2. पूर्ति की लोच– देश में व्यापार की शर्तों का अनुकूल होना अथवा प्रतिकूल होना वस्तु की पूर्ति पर निर्भर करता है।

यदि उत्पादित वस्तु की पूर्ति बेलोचदार है तो व्यापार की शर्त प्रतिकूल होगी इसके विपरीत यदि वस्तु की पूर्ति लोचदार है तो व्यापार की शर्त अनुकूल होगी।

$es < 1$ व्यापार की शर्त प्रतिकूल होगी

$es > 1$ व्यापार की शर्त अनुकूल होगी।

3. तटकर– विभिन्न परिस्थितियों में विश्व के अनेक राष्ट्र अपने व्यापार की शर्तों को सुधारने के लिए अथवा अपने भुगतान असंतुलन को संतुलित करने के लिए तटकर का प्रयोग करते हैं । तटकर का व्यापार की शर्तों पर प्रभाव वस्तु की मांग की लोच के आधार पर पड़ता है।

यदि निर्यातक देश तटकर लगाता है तथा वस्तु की मांग की लोच विदेशों में बेलोचदार हो जाती है तो तटकर का व्यापार की शर्तों पर अनुकूल प्रभाव होगा। इसके विपरीत यदि विदेशों में वस्तु की मांग लोचदार है तो व्यापार की शर्तों पर प्रतिकूल प्रभाव होगा।

माना कोई निर्यातक देश निर्यात पर तटकर लगाता है और वस्तु की मांग लोच बेलोचदार है तब ऐसी स्थिति में भुगतान संतुलन को संतुलित रखने के लिए आयातक देश को अपने निर्यातों का मूल्य कम करना पड़ेगा जिससे तटकर लगाने वाले देश का निर्यात महंगा तथा आयात सस्ता हो जाएगा और व्यापार की शर्तें तटकर लगाने वाले देश के अनुकूल हो जाएगी।

यदि मांग की लोच विदेशों में लोचदार तब जो व्यापार की शर्त तटकर लगाने वाले देश के प्रतिकूल हो जाएगी। तटकर के प्रभाव को निम्न चित्र द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है–

टिप्पणी

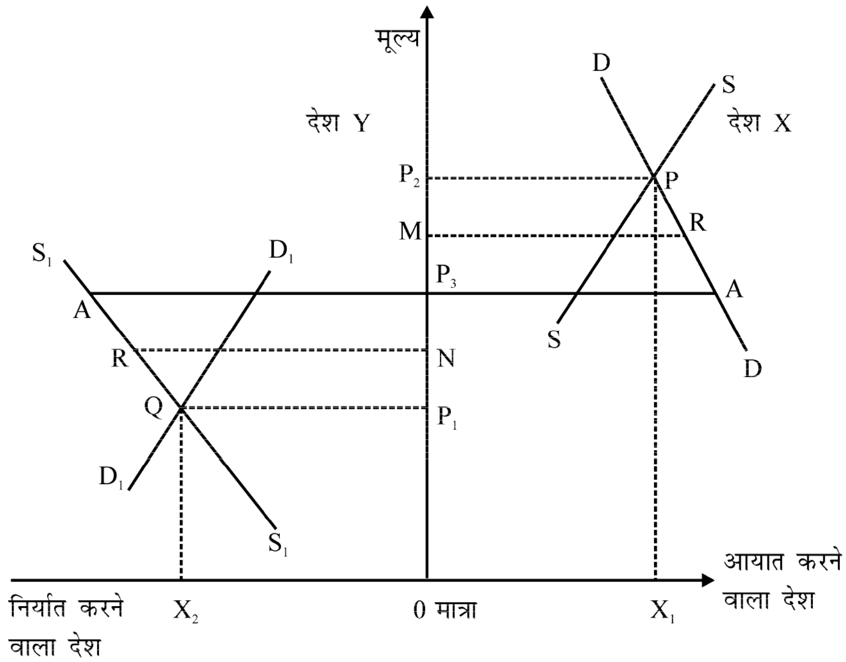

चित्र में देश X में SS पूर्ति तथा DD मांग रेखा है इसी प्रकार देश Y में D_1D_1 मांग रेखा तथा S_1S_1 पूर्ति रेखा है व्यापार से पूर्व X देश का संतुलन बिंदु P है जबकि Y देश का संतुलन बिंदु Q है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार op_3 मूल्यों पर हो रहा था। माना आयात करने वाला देश MN के बराबर आयातकर लगाता है तो इस स्थिति में-

आयातित देश में वस्तु का मूल्य = OM होगा और

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का मूल्य = AA होगा

तटकर की मात्रा = MN

आयातक देश को तटकर से प्राप्ति MP_3

निर्यातक देश को तटकर से प्राप्ति NP_3

यदि दोनों देशों में मांग की लोच समान है तो $MP_3 = NP_3$ है तो दोनों देशों को तटकर से समान लाभ की प्रप्ति होगी।

यदि $MP_3 > NP_3 \rightarrow$ आयातक देश को अधिक लाभ होगा।

$MP_3 < NP_3 \rightarrow$ निर्यात देश को अधिक लाभ होगा।

यदि दोनों देशो की मांग की लोच में भिन्नता होगी तो व्यापाय की शर्तों के निर्धारण से दोनों देशों के लाभों में भी भिन्नता होगी।

मार्शल एजवर्थ वक्र द्वारा व्यापार की शर्तो का प्रभाव/ प्रस्ताव वक्रों द्वारा स्पष्टीकरण

तटकर के द्वारा व्यापार की शर्तो पर पड़ने वाले प्रभावों को प्रो. मार्शल के प्रस्ताव वक्रों द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है। माना दो देश भारत एवं इंग्लैंड हैं तथा दो वस्तुएं गेहूं तथा कपास हैं। माना भारत गेहूं का निर्यात तथा कपास का आयात करता है। इंग्लैंड गेंहू का आयात व कपास का निर्यात करता है।

टिप्पणी

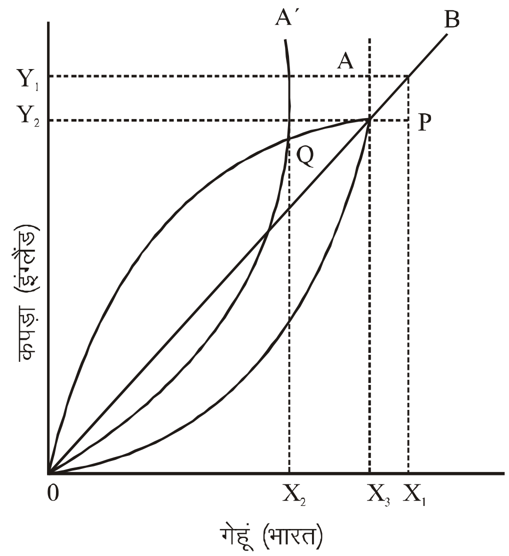

OA भारत का प्रस्ताव वक्र है जबकि OB इंग्लैंड का प्रस्ताव वक्र है। OP व्यापार की शर्तों पर दोनों देशों में दोनों वस्तुओं की विनिमय का निर्धारण करती है। इस व्यापार की शर्त पर भारत OX_1 गेंहू के बदले OY_1 कपास प्राप्त करने के लिए तैयार है। इसी प्रकार इंग्लैंड OY_1 कपास के बदले OX_1 गेहूं लेने को तैयार है।

यदि भारत कपास पर आयात कर लगा दे तो भारत का प्रस्ताव वक्र OA से परिवर्तित होकर OA′ हो जाएगा। जो इंग्लैंड के प्रस्ताव वक्र को Q बिंदु पर काटेगा अतः नई विनिमय रेखा OQ हो जाएगी। अब भारत OY_2 कपास के बदले OX_2 गेहूं देगा। तटकर न लगने की स्थिति में भारत का OY_2 कपास के बदले OX_3 गेहूं देना पड़ता। भारत का तटकर लगाने के कारण $X_2 X_3$ गेहूं की बचत हो रही है अथवा इंग्लैंड को $X_2 X_3$ के बराबर गेहूं की मात्रा कम प्राप्त हो रही है।

तटकर लगाने के कारण व्यापार की शर्तें भारत के अनुकूल हो गयी क्योंकि तटकर लगाने से भारत को लाभ तथा इंग्लैंड को हानि हुई है। यहां व्यापार की शर्तें तटकर लगाने वाले देश के पक्ष में हो गयी हैं। हां यदि प्रतिरोध स्वरूप इंग्लैंड भी तटकर का प्रयोग करता है तो ऐसी स्थिति में दोनों देशों के मध्य वस्तुओं की विनिमय अनुपात रेखा स्थिर बनी रहेगी तथा तटकर का किसी भी देश को लाभ प्राप्त नहीं होगा। व्यापार की कुल मात्रा में कमी हो जाएगी तथा व्यापार की शर्तें स्थिर बनी रहेंगी।

1. अवमूल्यन का व्यापार की शर्तों पर प्रभाव– अवमूल्यन के अंतर्गत एक देश विदेशी मुद्रा की तुलना में अपनी मुद्रा की क्रय शक्ति घटा देता है। अन्य शब्दों में वह अपनी मुद्रा की विनिमय दर को कम कर देता है, जिसके फलस्वरूप देश के निर्यात सस्ते तथा आयात महंगे हो जाते हैं। निर्यातों में वृद्धि तथा आयातों में कमी होने लगती है, और देश का भुगतान संतुलन पक्ष में हो जाता है जिसके कारण व्यापार की शर्तें प्रभावित होती हैं। अवमूल्यन के कारण आयात तथा निर्यात की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों को निम्न चित्र की सहायता से दिखाया जा सकता है।

टिप्पणी

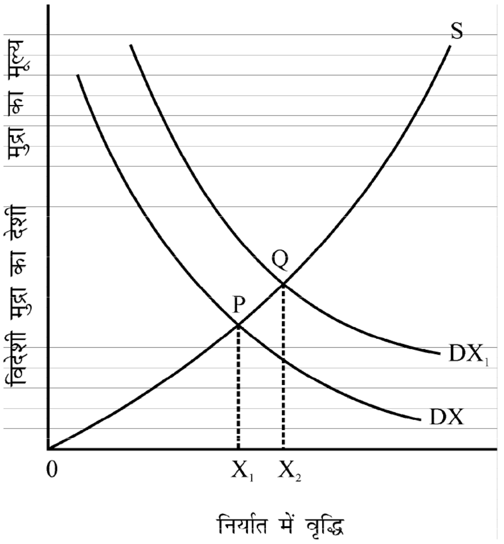

चित्र में S पूर्ति वक्र है तथा DX मांग वक्र है। P संतुलन बिंदु है। इस बिंदु पर OX_1 मात्रा का निर्यात किया जाता है। जब देश अवमूल्यन की नीति को अपनाता है तो अवमूल्यन के कारण विदेशी मुद्रा में देश के निर्यात सस्ते हो जाएंगें। वस्तु सस्ती होने के कारण विदेशों में वस्तु की मांग बढ़ेगी तो मांग वक्र DX से ऊपर सरक कर DX_1 हो जाएगा और संतुलन बिंदु p से Q हो जाएगा तथा निर्यात की मात्रा OX_1 से बढ़कर OX_2 हो जाएगी। इसके विपरीत अवमूल्यन के कारण आयात महंगे हो जाएंगे तो आयातित वस्तु की मांग व पूर्ति कम हो जाएगी।

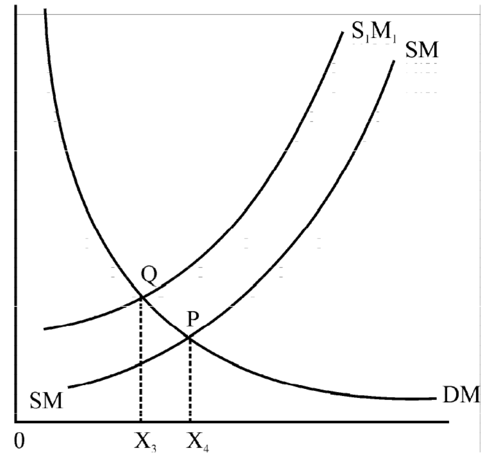

चित्र में SM पूर्ति रेखा है DM आयातित वस्तु की मांग रेखा है दोनों एक दूसरे को P बिंदु पर काटते हैं जो संतुलन बिंदु है। इस संतुलन बिंदु पर आयात की मात्रा OX_4 है अवमूल्यन के कारण जब आयात महंगे हो जाते हैं और पूर्ति कम होकर S_1M_1 पर सरक जाती है तब यहां नया संतुलन बिंदु Q है। अवमूल्यन के कारण आयातों में कमी होकर OX_3 हो जाती है।

कुल मिलाकर अवमूल्यन के कारण निर्यातों में वृद्धि तथा आयातों में कमी होगी और व्यापार की शर्तें देश के अनुकूल होंगी। व्यावहारिक रूप से अनुकूलता तथा प्रतिकूलता को इस आधार पर स्पष्ट किया जाता है–

यदि $X_1 X_2 > X_3 X_4$ व्यापार की शर्त अनुकूल होगी

$X_1 X_2 < X_3 X_4$ व्यापार की शर्त प्रतिकूल होगी

$X_1 X_2 = X_3 X_4$ व्यापार की शर्तों में कोई परिवर्तन नहीं होगा।

अवमूल्यन के प्रभाव को निम्न प्रकार से भी दिखाया जा सकता है–

SM SX > DM DX व्यापार की शर्त प्रतिकूल होगी

SM SX < DM DX व्यापार की शर्त अनुकूल होगी

SM SX = DM DX व्यापार की शर्तों में कोई परिवर्तन नहीं होगा।

यहां पर

SM = आयात की पूर्ति लोच

SX = निर्यात की पूर्ति लोच

DM = आयात की मांग लोच

DX = निर्यात की मांग

अवमूल्यन का व्यापार की शर्तों के साथ-साथ भुगतान पर भी प्रभाव पड़ेगा। अवमूल्यन के भुगतान संतुलन पर प्रभाव को निम्न चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। यहां भुगतान संतुलन को केवल संकुचित अर्थ में अर्थात आयात तथा निर्यात के शुद्ध (X-M) अंतर में लिया गया है। अवमूल्यन के कारण निर्यात में वृद्धि तथा आयात में कमी होती है जिससे (X-M) में शुद्ध वृद्धि होती है। जैसा चित्र से स्पष्ट है कि प्रारंभ में X-M रेखा X अक्ष को P बिंदु पर काटती है। अतः बिंदु P पर (X=M) चित्र में वक्र को AA रेखा द्वारा दर्शाया गया है। बिंदु P पर AA तथा BB के बीच की लंबवत् दूरी PQ अवमूल्यन के प्रारंभिक संतुलन प्रभाव को दिखाती है। धीरे-धीरे समय के साथ-साथ आयात निर्यात के अंतर में कमी होगी तथा व्यापार की शर्तों व अवमूल्यन का भुगतान संतुलन पर अंतिम प्रभाव पड़ेगा। अन्ततः (X-M) का अंतर समाप्त हो जाएगा तथा R बिंदु पर पुन (X=M) की स्थिति हो जाएगी। इससे स्पष्ट है कि अवमूल्यन का भुगतान संतुलन पर केवल अल्पकालीन प्रभाव पड़ता है लेकिन दीर्घकाल में आयात तथा निर्यात मूल्यों के प्रभाव शिथिल पड़ जाते हैं।

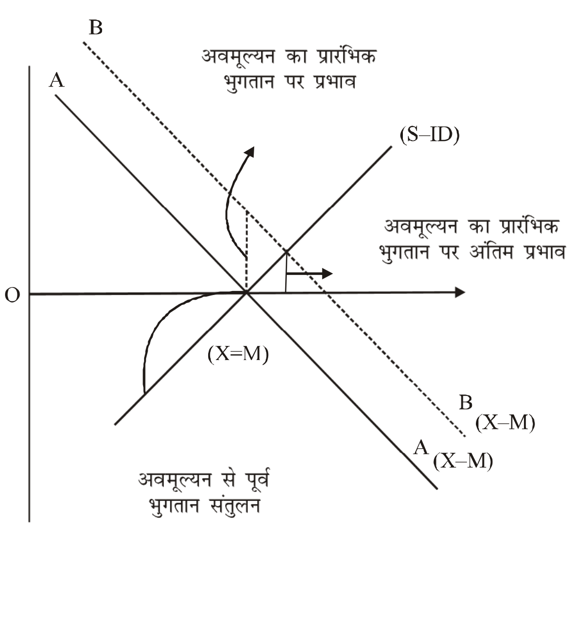

2. आर्थिक विकास पर व्यापार की शर्तों का प्रभाव– किसी देश का आर्थिक विकास देश के व्यापार की शर्तों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है, क्योंकि आर्थिक विकास से देश की उत्पादन तकनीक, उत्पादन की मात्रा, उपभोग रुचि तथा आय प्रभावित होते हैं। आर्थिक विकास के कारण देश के आयात व निर्यात के स्तर में भी परिवर्तन आता है और परिणामस्वरूप व्यापार की शर्तों में भी परिवर्तन आता है। माना प्रारंभ में PP देश का उत्पादन संभावना वक्र है जो व्यापार शर्त रेख TT हो P बिंदु पर स्पर्श करता है आर्थिक विकास के अभाव में P बिंदु पर देश की व्यापार शर्तों का निर्धारण हो जाता है।

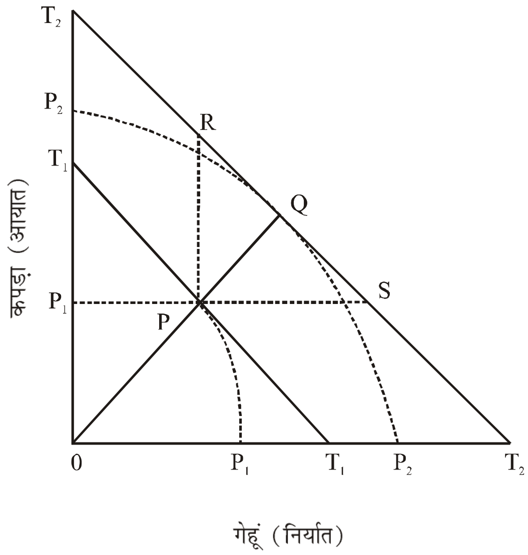

तकनीकी विकास के कारण देश के आर्थिक विकास में वृद्धि हो जाती है। किसी भी देश के आर्थिक विकास के कारण उसका उत्पादन संभावना वक्र मूल बिंदु से ऊपर की ओर खिसक जाता है। आर्थिक विकास में वृद्धि के कारण उत्पादन संभावना वक्र P_1P_1 हो जाएगा। इस स्थिति में नई व्यापार की शर्त रेखा नए उत्पादन संभावना वक्र को Q बिंदु पर स्पर्श करेगी अतः नई व्यापार की शर्तों का निर्धारण Q बिंदु पर होगा यदि विकास निष्पक्ष है तो OPQ एक सीधी रेखा होगी और व्यापार की शर्तों पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। P बिंदु से X अक्ष तथा Y अक्ष के सामानांतर रेखाएं खींचने पर त्रिभुज PRS प्राप्त होता है। नई व्यापार की शर्त रेखा T_1T_1 पर स्थित RQ तथा S बिंदु विकास की प्रकृति को बताते हैं।

R = बिंदु पर विकास आयात प्रेरित है।

Q = बिंदु पर विकास निष्क्रिय है।

S = बिंदु पर विकास निर्यात प्रेरित है।

यदि नई व्यापार शर्त रेखा T_2T_2 उत्पादन संभावना वक्र P_2P_2 को RT_2 के बीच से काटती है तो अति आयात प्रेरित स्थिति और यदि ST_2 के बीच से काटती है तो अति निर्यात प्रेरित स्थिति को बताती है।

यदि निर्यातक देश बहुत बड़ा है तथा अर्द्धविकसित / विकासशील राष्ट्र है और देश निष्क्रिय दर से व्यापार कर रहा है तो यह भी संभव है कि विकास होते हुए भी व्यापार की शर्तें देश के प्रतिकूल हो जाएं। सामान्यतः ऐसा विकास दरिद्र अर्थव्यवस्था में पाया जाता

टिप्पणी

है। प्रो. जगदीश भगवती ने इसे दरिद्रताओं को विकसित करने वाला विकास कहा है। इसे हम निम्न चित्र द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं।

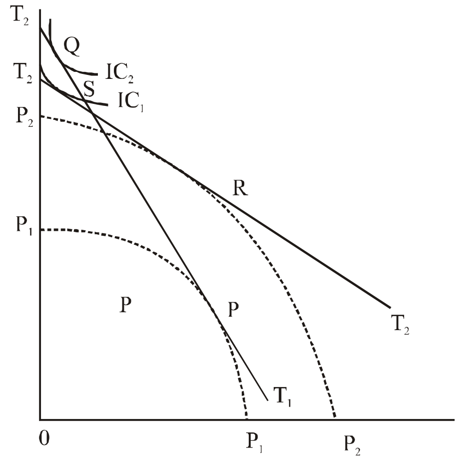

प्रारंभिक स्थिति– प्रारंभिक PPC उत्पादन संभावना वक्र = p_1p_1

प्रारंभिक व्यापार की शर्त = T_1T_1

प्रारंभिक व्यापार की शर्तों का निर्धारण बिंदु = p

प्रारंभिक उपभोग बिंदु = Q

क्योंकि Q बिंदु पर समुदाय उपभोग वक्र IC_2 व्यापार शर्त रेखा T_1T_1 को स्पर्श करती है।

विकास के बाद

नया उत्पादन संभावना वक्र = p_2p_2

नई व्यापार शर्त रेखा = T_2T_2

व्यापार की शर्तों का निर्धारण बिंदु = R नया उपभोग बिंदु = S क्योंकि S बिंदु पर समुदाय उपभोग वक्र IC_1 व्यापार की शर्त रेखा T_2T_2 को S बिंदु पर स्पर्श करता है। S बिंदु Q बिंदु से नीचे वाले समोत्पाद वक्र पर स्थित है अत: यहां विकास होते हुए भी व्यापार की शर्तें देश के प्रतिकूल हो गयी हैं। संतुलन की आधारभूत दशा में देश P बिंदु पर उत्पादन व Q बिंदु पर उपभोग कर रहा है जो स्पष्ट करता है कि देश का निर्यात कम है तथा आयात अधिक है लेकिन विकास के बाद उत्पादन R बिंदु पर है और उपभोग S बिंदु पर करता है। जहां निर्यात अधिक है तथा आयात कम है। अत: आर्थिक विकास की दशा में देश के व्यापार की शर्तें देश के प्रतिकूल हो गयी है।

अर्द्धविकसित राष्ट्र एवं व्यापार की शर्तें

प्राचीनकाल से ही विश्व में खाद्यान्न पदार्थों की तुलना में मशीनी वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि दर तीव्र रही है अथवा कच्चे माल की तुलना में निर्मित वस्तुओं के मूल्यों में तेजी से वृद्धि हुई है। अर्द्धविकसित राष्ट्र तकनीकी रूप से पिछड़े होते हैं। उनकी आय का मूल स्रोत कच्चेमाल अथवा खाद्यान्न पदार्थों का उत्पादन एवं निर्यात होता है। कच्चे माल तथा निर्मित माल के मूल्यों में असमान दर से वृद्धि होने के कारण जो देश निर्मित वस्तुओं अथवा पूंजीगत वस्तुओं का उत्पादन करते हैं वे धनवान हो गए तथा कच्चे माल व

खाद्यान्न का उत्पादन एवं निर्यात करने वाले राष्ट्र निर्धन हो गए जिसके कारण व्यापार की शर्तें विकसित राष्ट्रों के पक्ष में तथा अर्द्धविकसित राष्ट्रों के विपक्ष में होती चली गयी। बहुत से अर्थशास्त्रियों ने इस बात का समर्थन किया है कि अर्द्धविकसित राष्ट्रों की व्यापार की शर्तें प्रतिकूल रही हैं। प्रो. जगदीश भगवती ने अर्द्धविकसित राष्ट्रों की व्यापार की शर्तें प्रतिकूल होने का कारण इन राष्ट्रों में होने वाला झूठा विकास बताया है। भगवती के विचार में अर्द्धविकसित राष्ट्रों का आर्थिक विकास दरिद्रता को विकसित करने वाला रहा है।

सिंगर, लुइस, लिण्डर और मिर्डल आदि के मतानुसार निर्धन राष्ट्रों की व्यापार की शर्तों की प्रवृति दीर्घकाल में प्रतिकूल होने की रही है। इनके अनुसार अर्द्धविकसित राष्ट्रों में व्यापार की शर्तों के प्रतिकूल होने के निम्नलिखित कारक उत्तरदायी हैं-

1. **जनसंख्या में वृद्धि–** संसार की कुल जनसंख्या का अधिकतम भाग अर्द्धविकसित राष्ट्रों में रहता है क्योंकि इन राष्ट्रों में जनसंख्या वृद्धि की दर विकसित देशों की तुलना में अधिक होती है जिसके फलस्वरूप इन राष्ट्रों में वस्तुओं की मांग, मशीनों-उपकरणों की मांग तेजी से बढ़ती है जबकि विकसित राष्ट्रों में प्राथमिक वस्तुओं की मांग में उतनी तीव्र गति से वृद्धि नहीं होती है। अत: निर्धन राष्ट्रों में आयातों की मांग निर्यातों की तुलना में अधिक होती है जिसके कारण अर्द्धविकसित राष्ट्रों की व्यापार की शर्तें उनके प्रतिकूल होती हैं।
2. **प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन–** अर्द्धविकसित राष्ट्रों में कुछ प्राथमिक वस्तुओं का खाद्यान्न व कच्चे माल जैसे नारियल, रबड़ तथा तेल आदि का उत्पादन तथा निर्यात किया जाता है। इन राष्ट्रों में श्रम प्रधान अथवा भूमि प्रधान प्राथमिक वस्तुओं के उत्पादनों में विशिष्टीकरण किया जाता है। एक तो इन वस्तुओं की उत्पादकता कम होती है जिसके कारण अर्द्धविकसित राष्ट्रों में आय भी कम होती है जबकि विकसित राष्ट्र तकनीकी गत वस्तुओं को निर्मित करके उनको अधिक मूल्यों पर निर्यात करते हैं। अर्द्धविकसित राष्ट्रों को देश के विकास अथवा आंतरिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अधिक मूल्यों पर आयात करना पड़ता है। निर्यातों की तुलना में आयातों के कारण व्यापार की शर्त उनके प्रतिकूल हो जाती है।
3. **पिछड़ी तकनीक–** अर्द्धविकसित राष्ट्रों में उत्पादन की तकनीक काफी पिछड़ी हुई होती है जिसके कारण अधिक लागतों पर उत्पादन कम होता है। वस्तु के गुणों में कमी होती है। मूल्य ऊंचे होते हैं जिसके कारण इन देशों में निर्यात हतोत्साहित होते हैं। निर्यातों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अर्द्धविकसित राष्ट्रों के निर्यातों में कमी तथा आयातों में वृद्धि के कारण व्यापार की शर्तें अर्द्धविकसित राष्ट्रों के प्रतिकूल हो जाती हैं।
4. **उत्पादकता का निम्न स्तर–** अर्द्धविकसित राष्ट्रों में उत्पादकता का स्तर काफी निम्न होता है। प्रति श्रमिक अथवा प्रति इकाई उत्पादकता कम होती है। उत्पादकता निम्न होने के अनेक कारण होते हैं जैसे अशिक्षा, पुरानी तकनीक, रूढ़िवादिता आदि जिनके फलस्वरूप इन देशों में व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हो जाती हैं।
5. **सौदेबाजी की शक्ति का अभाव–** अर्द्धविकसित राष्ट्रों में ऐसी वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जो कालांतर में नष्ट हो जाती हैं। अत: विश्व बाजार में

उनकी मोलभाव करने की शक्ति कम होती है और उन्हें कम कीमत पर ही निर्यात करना पड़ता है। दूसरी ओर ये राष्ट्र स्वभावतः गरीब, साधनहीन, विदेशी ऋण से ग्रस्त होने के कारण निम्न विकास दर के कारण दबे रहते हैं। उनमें लेन-देन तय करने की शक्ति कम होती है। इसी कारण विकसित राष्ट्र अर्द्धविकसित राष्ट्रों पर दबाव डालकर अपनी व्यापार की शर्तों को अनुकूल कर लेते हैं।

6. **संगठन का अभाव–** अर्द्धविकसित राष्ट्रों में व्यापार की शर्तों के प्रतिकूल होने का एक कारण संगठन का अभाव भी होता है। ये राष्ट्र कुछ ऐसी वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जिनका उत्पादन विकसित राष्ट्रों में नहीं किया जाता है। जैसे चाय, काफी, शक्कर, कोको तथा जूट आदि। यदि अर्द्धविकसित राष्ट्र आपस में संगठित होकर यूरोपियन सांझा बाजार के समान संगठन बना लें तो विकसित राष्ट्रों में ऊंची कीमतों पर निर्यात बढ़ा सकते हैं तथा व्यापार की शर्तें अपने अनुकूल कर सकते हैं।
7. **लोच का अभाव–** विकसित राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था में विविधता होती है। अतः उनमें अर्द्धविकसित राष्ट्रों की तुलना में मांग की लोच अधिक होती है। इसके विपरीत अर्द्धविकसित राष्ट्र कुछ गिनी चुनी वस्तुओं का उत्पादन करते हैं उनमें विविध वस्तुएं बनाने की क्षमता नहीं होती है जिसके कारण उनका निर्यात बेलोचदार हो जाता है। अर्द्धविकसित राष्ट्रों में लोच के अभाव के कारण भी व्यापार की शर्तें इनके प्रतिकूल होती हैं।
8. **प्राथमिक उत्पादों के आयात पर नियंत्रण–** विकसित राष्ट्रों में कृषि उत्पादन को संरक्षण देने की दृष्टि से अर्द्धविकसित राष्ट्रों के प्राथमिक उत्पादनों के आयात पर प्रतिबंध लगा देते हैं जिससे इन देशों का निर्यात कम हो जाता है और व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हो जाती हैं।

9 **प्राकृतिक आपदाएं–** अर्द्धविकसित राष्ट्रों को समय-समय पर प्राकृतिक आपदाओं जैसे बाढ़, सूखा, महामारी आदि का सामना करना पड़ता है जिसके लिए तुरंत आयात की आवश्यकता होती है और व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हो जाती हैं।

10. **विकसित देशों में एकाधिकारी प्रवृत्ति–** अर्द्धविकसित राष्ट्रों में सिंगर ने प्रतिकूल व्यापार की शर्तों का कारण विकसित राष्ट्रों में एकाधिकार की बढ़ती प्रवृत्ति को माना है। उनके मतानुसार तकनीकी प्रगति से होने वाले लाभ उत्पादक स्वयं ऊंची आय के रूप में प्राप्त कर सकता है अथवा वस्तुओं की कीमतों को घटाकर इनका वितरण उपभोक्ताओं के बीच किया जाता है। विकसित राष्ट्रों में यह लाभ कीमतों को कम करके उपभोक्ताओं को दिया जाता है। कीमतों में कमी के कारण आयातों में वृद्धि तीव्र हो जाती है अर्द्धविकसित राष्ट्रों की तुलना में विकसित राष्ट्रों में एकाधिकारी तत्व अधिक होते हैं।
11. **प्रतिस्थापन्न वस्तुओं का अभाव–** अर्द्धविकसित राष्ट्र पूर्णरूप से विकसित राष्ट्रों के आयातों पर निर्भर रहते हैं क्योंकि उनके पास विकसित राष्ट्रों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की कोई प्रतिस्थापन्न वस्तुएं नहीं होती हैं। अतः इनके आयातों की मांग बेलोचदार होती है, परिणामस्वरूप व्यापार की शर्तें इनके प्रतिकूल हो जाती हैं।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अर्द्धविकसित राष्ट्रों में जनसंख्या की तीव्र वृद्धि दर, शिक्षा का अभाव, परंपरागत उत्पादन तकनीकी, प्राथमिक क्षेत्रों की प्रधानता, प्रस्थापित

वस्तुओं का अभाव, संगठन का अभाव आदि ऐसे अनेक कारक हैं जिनके कारण इन राष्ट्रों में व्यापार की शर्तें प्रतिकूल होती हैं।

व्यापार की शर्तों के प्रभाव

जब एक ऋणी देश अपना ऋण चुकाता है तो वह अपनी आय का एक भाग ऋणदाता देश को अंतरित करता है। अंतरण की यह प्रक्रिया देनदार देश में आय तथा व्यय कम करती है तथा लेनदार देश में बढ़ाती है। दोनों देशों के आय तथा व्यय में यह परिवर्तन दोनों देशों में वस्तुओं की सापेक्ष मांग को परिवर्तित करता है और इसका प्रभाव व्यापार की शर्तों पर पड़ता है। इस तरह आय के अंतरण का प्रभाव केवल सापेक्ष मांग पर होता है, वस्तुओं की सापेक्ष पूर्ति पर नहीं, बशर्तें कि भौतिक संसाधन अंतरित नहीं किए जा रहे हैं।

व्यापार की शर्तों के प्रभाव की दिशा दो देशों द्वारा A और B दो वस्तुओं पर व्यय की सीमांत प्रवृत्ति (Marginal Propensity of Spend) पर निर्भर करेगी। मान लीजिए, देनदार देश की निर्यात वस्तु A पर व्यय पर सीमांत प्रवृत्ति B से ज्यादा है। A और B की सापेक्ष कीमतें दी होने पर, ऋणदाता (लेनदार) देश को ऋणी (देनदार) देश द्वारा किया जाने वाला आय का अंतरण A की मांग को कम तथा B की मांग को बढ़ा देगा। A के मूल्य तथा मांग की यह कमी ऋणदाता देश की तुलना में ऋणी देश की व्यापार की शर्तों पर प्रतिकूल प्रभाव डालेगी। इसके विपरीत यदि देनदार देश द्वारा निर्यात माल पर A पर किए गए व्यय की सीमांत प्रवृत्ति अपेक्षाकृत कम है तो आय का अंतरण व्यापार की शर्तों में सुधार लाएगा। सामान्य तौर पर यदि लेनदार देश की निर्यात वस्तु पर व्यय की सीमांत प्रवृत्ति कम है तो आय का अंतरण इसकी व्यापार की शर्तों में सुधार करेगा। यदि इसकी निर्यात वस्तु पर व्यय की सीमांत प्रवृत्ति अधिक है तो इसकी व्यापार की शर्तों पर प्रतिकूल प्रभाव होगा।

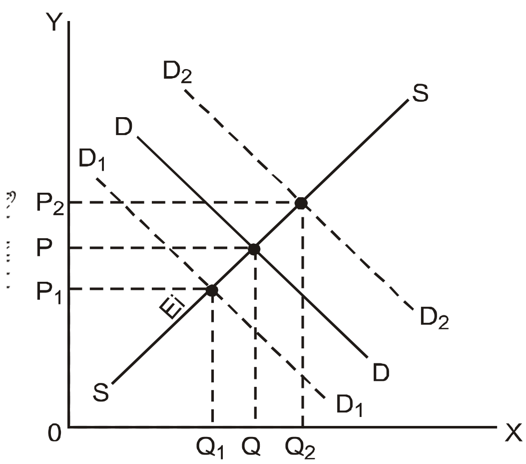

देनदार देश की व्यापार की शर्तों पर अंतरण के प्रभाव को चित्र में दर्शाया गया है। वक्र DD वस्तु A के लिए, वस्तु B की सापेक्षता में, मांग वक्र है। SS दिया हुआ पूर्ति वक्र है। B की सापेक्षता में A निर्यात वस्तु पर व्यय की उच्च सीमांत प्रवत्ति, लेनदार देश को आय के अंतरण के साथ उसकी A के लिए मांग में कमी लाती है। यह चित्र में DD वक्र के बाईं ओर D_1 पर सरकने से स्पष्ट है। नया संतुलन E_1 बिंदु पर होता

है। A की सापेक्ष मात्रा OQ से OQ_1 तक कम होती है तथा इसकी सापेक्ष कीमत OP से OP_1 तक। यह खराब व्यापार की शर्तों को दर्शाता है।

दूसरी ओर, यदि लेनदार देश की A के लिए व्यय की कम सीमांत प्रवृत्ति है तो लेनदार देश को आय का अंतरण सापेक्ष मांग वक्र को दाईं ओर DD से DD_2 पर उठाकर परिवर्तित कर देता है तथा A की सापेक्ष कीमत को OP से OP_2 तक बढ़ा देता है। यह व्यापार की शर्तों में सुधार को दर्शाता है।

देनदार देश की बाह्य अंतरण समस्या के बजट संबंधी पहलू को लें तो खर्च के तरीकों में परिवर्तन करना पड़ेगा अथवा खर्च घटाने को नीतियां अपनानी पड़ेंगी जैसे विनिमय दर अवमूल्यन, राजकोषीय घाटों में कटौती अथवा प्रत्यक्ष नियंत्रण। इन नीतियों से देनदार देश का आयात कम और निर्यात बढ़ता है, जिनसे निर्यात अतिरेक (Surplus) पैदा होता है जो ऋण के भुगतान में काम आता है।

जहां तक अंतरण समस्या के आंतरिक पहलू का प्रश्न है उसमें खर्चों में कटौती और राजस्व में वृद्धि शामिल है। यदि सार्वजनिक खर्चों में कटौती तथा राजस्व में वृद्धि बजट-नीतियों में नहीं की जाती तो स्फीति पैदा होती है जिसके कारण ऋण का भुगतान कठिन हो जाता है, क्योंकि उच्च-स्फीति LDCs में निवेश तथा बचत की सीमांत प्रवृत्ति को कम करती है, निर्यात कम और आयात बढ़ जाते हैं, राजकोषीय घाटा बढ़ता है जिससे निजी निवेश तथा सरकारी खर्चों में कटौती की स्थिति आ जाती है। इस प्रकार सार्वजनिक निवेश कम हो जाता है। इन परिस्थितियों के अंतर्गत एक LDCs अपनी ऋण भुगतान की अंतरण समस्या को स्फीति पर नियंत्रण, निर्यात में वृद्धि तथा आयात में वृद्धि के लिए बहुत-सी बाह्य तथा आंतरिक नीति उपायों द्वारा हल कर सकता है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. व्यापार की शर्तों को निम्न में से किस प्रकार बताया जा सकता है

   (क) $\text{व्यापार की शर्तें} = \dfrac{\text{आयात का कुल मूल्य}}{\text{निर्यात का कुल मूल्य}}$

   (ख) $\text{व्यापार की शर्तें} = \dfrac{\text{निर्यात मूल्य}}{\text{आयात मूल्य}}$

   (ग) $\text{व्यापार की शर्तें} = \dfrac{\text{निर्यात मांग}}{\text{निर्यात मूल्य}}$

   (घ) $\text{व्यापार की शर्तें} = \dfrac{\text{आयात पूर्ति}}{\text{निर्यात मांग}}$

2. तटकर का व्यापार की शर्तों पर प्रभाव वस्तु के किस आधार पर पड़ता है?

   (क) मांग की बेलोच (ख) मांग की लोच

   (ग) पूर्ति की लोच (घ) मांग की शून्य लोच

4.3 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रशुल्क और गैर प्रशुल्क बाधाएं

किसी भी देश के लिए संरक्षण की सफलता के लिये प्रशुल्क महत्वपूर्ण है। प्रशुल्क का प्रयोग विकसित व विकासशील दोनों ही देशों द्वारा किया जाता है। प्रशुल्क वस्तुओं पर लगाया गया एक कर अथवा शुल्क है जो एक देश की सरकार द्वारा लगाया जाता है जब वे वस्तुएं देश की राष्ट्रीय सीमाओं में से गुजरती हैं। प्रशुल्क आयातों और निर्यातों दोनों पर लागू किये जा सकते हैं।

वह प्रशुल्क अथवा कर जो घरेलू देश में उत्पादित और विदेश को भेजी जा रही वस्तु पर लागू किया जाता है, उसे निर्यात शुल्क कहा जाता है। जो देश निर्यातों को अधिकतम करना चाहते हैं वे इस प्रकार के प्रशुल्कों का प्रयोग नहीं करते हैं।

आयात प्रशुल्क अथवा आयात शुल्क उन वस्तुओं पर लगाये जाते हैं जो विदेशों में उत्पादित होती हैं और घरेलू देश में भेजी जा रही हैं।

कभी–कभी एक देश राहदरी शुल्क (Transit duty) को भी लागू कर सकता है। ये शुल्क ऐसी वस्तुओं पर लगाये जाते हैं जो विदेश में पैदा की जाती हैं और घरेलू देश की सीमाओं को पार करके तीसरे देश में भेजी जाती हैं। उदाहरण के लिये यदि भारत, बंगलादेश की वस्तु का भारत के क्षेत्र में से गुजरकर नेपाल को होने वाले निर्यात पर प्रशुल्क लागू करता है तो इसे राहदरी शुल्क अथवा पारगमन शुल्क कहा जाता है।

सामान्यतः राहदरी शुल्क वे शुल्क होते हैं जो एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र को माल जाते हुए बीच में पड़ने वाले राष्ट्रों द्वारा लगाए जाते हैं।

प्रशुल्क का वर्गीकरण

(1) पद्धति/वसूली के आधार पर –

(क) विशिष्ट प्रशुल्क

(ख) मूल्यानुसार प्रशुल्क

(ग) मिश्रित प्रशुल्क

(घ) विसर्पी प्रशुल्क

(2) उद्देश्य के आधार पर

(क) आय प्राप्त करने के उद्देश्य से

(ख) आंतरिक उद्योगों को संरक्षण देने के लिये

(3) विभेद के आधार पर –

(क) एक कॉलम प्रशुल्क

(ख) दोहरे कॉलम प्रशुल्क

(ग) बहु कॉलम प्रशुल्क

(4) उत्पादों के आधार पर –

(क) आयात–प्रशुल्क

(ख) निर्यात–प्रशुल्क

(5) प्रतिरोध के आधार –

(क) प्रतिरोधात्मक/प्रतिशोधात्मक प्रशुल्क

(ख) प्रतिकारी प्रशुल्क

(1) पद्धति/वसूली के आधार पर – इस आधार पर चार प्रकार से प्रशुल्क लगाये जाते हैं–

(क) विशिष्ट प्रशुल्क – ये प्रशुल्क वस्तु की मात्रा (प्रति इकाई) अथवा भार या माप के अनुसार आयात अथवा निर्यात की गई वस्तु पर लागू की गई मुद्रा की स्थिर राशि है इस प्रकार के प्रशुल्क गेहूं, चावल, चीनी, कपड़ा इत्यादि पर लागू किये जाते हैं। विशिष्ट शुल्कों पर प्रशासन काफी आसान है क्योंकि इसमें वस्तुओं का मूल्यांकन शामिल नहीं होता है।

(ख) मूल्यानुसार प्रशुल्क – मूल्यानुसार प्रशुल्क सर्वाधिक सामान्य प्रकार का आयात शुल्क है। यह आयातित वस्तु के कुल मूल्य की प्रतिशतता के रूप में लगाया जाता है जैसे कार पर 20 प्रतिशत, कपड़े पर 10 प्रतिशत आदि।

(ग) मिश्रित प्रशुल्क – प्रायः सरकारें मिश्रित शुल्क लगाती हैं ये मात्रानुसार प्रशुल्कों एवं मूल्यानुसार प्रशुल्कों का सम्मिश्रण होते हैं। मिश्रित प्रशुल्क न केवल राजस्वों को अधिक लचक प्रदान करते हैं बल्कि वे घरेलू उद्योगों को अधिक प्रभावपूर्ण संरक्षण का भी आश्वासन देते हैं।

(घ) विसर्पी प्रशुल्क – कभी–कभी सरकारें ऐसे आयात शुल्क भी लगाती हैं जो आयातिक वस्तुओं की कीमतों के साथ परिवर्तित होते हैं उन्हें विसर्पी प्रशुल्क कहा जाता है। ये या तो विशिष्ट या मूल्यानुसार आधार पर हो सकते हैं। व्यवहार में ये प्रायः विशिष्ट आधार पर होते हैं।

(2) उद्देश्य के आधार पर – उद्देश्य के आधार पर प्रशुल्क निम्न दो प्रकार के होते हैं–

(क) आय प्राप्त करने के उद्देश्य से – इस वर्ग वे प्रशुल्क आते हैं जो आय अर्जित करने के दृष्टि से लगाये जाते हैं ये प्रशुल्क संकटकाल के लिये विदेशी मुद्रा भंडारों को एकत्रित करने की दृष्टि से लगाये जाते हैं। जितने नीचे आयात शुल्क होंगे उनसे उतना अधिक राजस्व प्राप्त होता है क्योंकि नीचे आयात शुल्क के कारण आयातित वस्तुओं की कीमतें अधिक नहीं बढ़ती है। जिससे मांग पर कोई फर्क नहीं पड़ता है।

(ख) आन्तरिक उद्योगों को संरक्षण देने के लिए – आंतरिक उद्योगों को विदेशी प्रतिस्पर्द्धा से बचाने तथा उन्हें संरक्षण प्रदान करने की दृष्टि से प्रशुल्क लगाये जाते हैं तटकरों से आयात महंगे हो जाते हैं तथा आंतरिक वस्तुओं की मांग में वृद्धि होती है।

(3) विभेद के आधार पर – विभेद के आधार पर प्रशुल्कों को 3 वर्गों में वर्गीकृत किया जाता है–

(क) **एक कॉलम प्रशुल्क** – जब सभी वस्तुओं पर एक समान प्रशुल्क लागू किया जाता है चाहे वे किसी भी देश से आयात की गई हो तो इसे एक कॉलम प्रशुल्क कहते हैं। यह गैर–विभेदकारी प्रशुल्क होता है जिसका लागू करना बहुत सरल होता है। परन्तु यह लोचशील और पर्याप्त नहीं होता है इससे राजस्व एकत्र नहीं किया जा सकता है।

(ख) **दोहरे कॉलम प्रशुल्क** –इसके अंतर्गत कुछ या सभी प्रकार की वस्तुओं के लिए शुल्क की दो मिन्न दरें होती हैं। देश की सरकार दोनों दरों की घोषणा प्रारंभ में या एक प्रारंभ में और दूसरी व्यापार समझौतों के अंतर्गत दरों का फैसला करने के बाद करती हैं। इन्हें निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया किया जा सकता है–

(i) **सामान्य और परम्परागत प्रशुल्क** – सामान्य प्रशुल्क वह सूची होती है जिसकी घोषणा सरकार वर्ष के प्रारंभ में अपनी वार्षिक प्रशुल्क नीति के अंतर्गत करती है। वह यह विशेष दर होती है जो सभी देशों से ली जाती है।

परम्परागत प्रशुल्क दरें दूसरे देशों के साथ व्यापार समझौतों/संधियों पर आधारित होती है। ये भिन्न देशों के लिए भिन्न हो सकती है और वस्तु से वस्तु परिवर्तित हो सकती है। वे दरें लोचशील नहीं होती है क्योंकि ये केवल परस्पर सहमति से ही परिवर्तित की जा सकती है क्योंकि ये बेलोच होती है अतः ये व्यापार के प्रसार को रोकती है।

(ii) **अधिकतम और न्यूनतम प्रशुल्क** –सरकारें विभिन्न देशों से समान वस्तु आयात करने के लिये सामान्य तौर से दो प्रशुल्क दरें निश्चित करती है जिस देश के साथ सरकार का व्यापारिक समझौता/संधि होती है उससे आयात पर न्यूनतम प्रशुल्क दर लगायी जाती है दूसरी ओर अन्य देशों से आयात पर अधिकतम प्रशुल्क दर लगायी जाती है।

(ग) **बहु–कॉलम प्रशुल्क** – बहु–कॉलम प्रशुल्कों के अंतर्गत प्रत्येक वर्ग की वस्तु पर दो या अधिक शुल्क दरें लागू की जाती हैं। परंतु सामान्य रीति में प्रशुल्क में तीन विभिन्न प्रशुल्क की दरें शामिल होती हैं–सामन्य दरें, मध्यवर्ती एवं अधिमानी। सामान्य दरें उसी प्रकार लागू की जाती है जिस प्रकार ऊपर वर्णित अधिकतम दरें। इसी प्रकार मध्यवर्ती दरें न्यूनतम दरें होती हैं। स्वतंत्रता से पूर्ण अधिमानी दरें ब्रिटेन से आयातित वस्तुओं पर लगाई जाती थीं जिन पर कम दरें अथवा वे प्रशुल्क मुफ्त होती थीं। वर्तमान में सार्क (SAARC) देश एक दूसरे से अधिमानी प्रशुल्कों के आधार पर आयात करते हैं

(4) **उत्पादों के आधार पर** – उत्पादों के आधार पर प्रशुल्क को निम्न 2 वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है–

(क) **आयात प्रशुल्क** – यदि विदेशों के उत्पादों के घरेलू देश की सीमा में दाखिल होने पर घरेलू देश के द्वारा प्रशुल्क लागू किया जाता है तो इसे आयात प्रशुल्क कहा जाता है।

(ख) **निर्यात प्रशुल्क** – यदि घरेलू देश के उत्पादों के देश की सीमा को छोड़ने ताकि उन्हें विदेशों में बेचा जा सके, पर कर लागू किया जाता है तो इसे निर्यात प्रशुल्क कहा जाता है।

(5) **प्रतिरोध के आधार पर** – प्रतिरोध के आधार पर प्रशुल्क को निम्न 2 वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है–

(क) **प्रतिरोधात्मक/प्रतिशोधात्मक प्रशुल्क** – प्रतिरोधात्मक प्रशुल्क एक देश द्वारा दूसरे देश के आयात पर उसकी व्यापार नीति के लिए उसे दण्ड देने हेतु लगाया जाता है जो उसके निर्यातों को या व्यापार शेष को हानि पहुंचाता है। इस कदम को उठाते हुए, घरेलू देश का उद्देश्य न तो राजस्व में वृद्धि करना और न ही घरेलू उद्योगों को संरक्षण देना होता है, बल्कि उसका उद्देश्य जवाबी कार्यवाही करना होता है।

(ख) **प्रतिकारी प्रशुल्क** – यह एक अतिरिक्त शुल्क होता है जो एक वस्तु पर लगाया जाता है जिसकी निर्यात कीमत एक निर्यात सब्सिडी द्वारा दूसरा देश कम कर देता है। यह अतिरिक्त शुल्क उस वस्तु की कीमत को बढ़ाने के लिए लगाया जाता है ताकि आयात करने वाले देश में उसी वस्तु के उत्पादकों को सस्ती विदेशी वस्तु से संरक्षण दिया जा सके।

प्रशुल्कों के प्रभाव

प्रशुल्क के अनेक प्रभाव हैं जो उनकी आयात को घटाने की शक्ति पर निर्भर करते हैं। प्रशुल्क के मुख्य प्रभाव (i) आय प्रभाव (ii) संरक्षण प्रभाव, लेकिन इसके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रभाव भी देखने को मिलते हैं जैसे उपभोग प्रभाव, पुनर्वितरण प्रभाव, मूल्य प्रभाव, राजस्व प्रभाव, व्यापार की शर्तों पर प्रभाव आदि।

प्रशुल्क के प्रभावों को प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष प्रभावों के रूप में भी देखा जा सकता है।

प्रत्यक्ष प्रभाव – प्रत्यक्ष प्रभावों में मूल्य तथा उत्पादन पर प्रशुल्क प्रभावों का अध्ययन करते हें।

अप्रत्यक्ष प्रभाव –भुगतान सन्तुलन, पुनर्वितरण, आय, राजस्व आदि के प्रभावों को अप्रत्यक्ष प्रभाव में शामिल किया जाता है। प्रो. किण्डलबर्गर ने प्रशुल्क के निम्न नौ प्रभाव बताए हैं –

(i) कीमत प्रभाव

(ii) संरक्षण अथवा उत्पादन पर प्रभाव

(iii) उपभोग प्रभाव

(iv) राजस्व प्रभाव

(v) पुनर्वितरण प्रभाव

(vi) भुगतान सन्तुलन पर प्रभाव

(vii) व्यापार की शर्तों पर प्रभाव

(viii) प्रतियोगिता पर प्रभाव

(ix) आय प्रभाव

ये सभी प्रभाव कीमत प्रभाव का ही परिणाम हैं अतः सर्वप्रथम हम कीमत प्रभाव की व्याख्या करते हैं।

(1) कीमत प्रभाव – प्रशुल्क के कीमत व अन्य प्रभावों का निम्न चित्र की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है। चित्र में x अक्ष पर मांग एवं पूर्ति का लिया गया है और y अक्ष पर मूल्यों को लिया गया है।

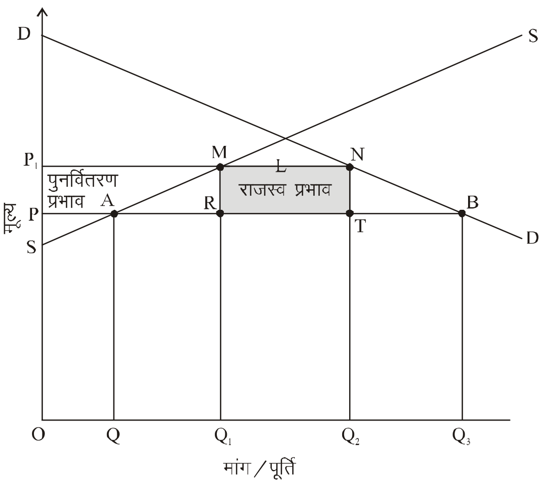

मांग / पूर्ति (Quantity)

चित्र से स्पष्ट है कि DD घरेलू मांग रेखा है तथा S घरेलू पूर्ति रेखा है। रेखा OP उस स्थिर कीमत को व्यक्त करती है जिस पर विदेशी उत्पादक अपनी वस्तु को घरेलू बाजार में बेचने को तैयार है। इस प्रकार क्षैतिज रेखा PB आयात का प्रर्ति वक्र है जो OP कीमत पर पूर्णतया लोचदार है। इस प्रकार प्रशुल्क लगाने से पूर्व सन्तुलन बाजार स्थिति बिन्दु B पर प्राप्त होती है जहां घरेलू मांग वक्र DD कीमत OP पर विश्व पूर्ति वक्र PB को काटता है। इस बिन्दु पर वस्तु की कुल मांग OQ_3 है। घरेलू पूर्ति OQ घरेलू मांग व पूर्ति के अंतर को OP कीमत पर वस्तु की QQ_3 मात्रा आयात करके पूरा किया जा सकता है।

मान लीजिए वस्तु के आयात पर PP_1 प्रशुल्क लगाया जाता है। स्थिर विदेशी कीमत ही होने पर वस्तु की घरेलू कीमत में प्रशुल्क की पूरी मात्रा के बराबर वृद्धि होती है और कीमत Op_1 हो जाती है। इस प्रकार वस्तु की कीमत में जो PP_1 के बराबर वृद्धि होती है वह प्रशुल्क का कीमत प्रभाव है। परिणामस्वरूप ऊंची कीमत पर बाजार की नई संतुलन स्थिति बिन्दु N पर प्राप्त होती है। वस्तु की कीमत ऊंची होने के कारण घरेलू मांग में कमी आती है जो OQ_3 से घटकर OQ_2 हो जाती है और घरेलू पूर्ति OQ से बढ़कर OQ_1 हो जाती है। अतः कीमत प्रभाव के कारण आयात QQ_3 से घटकर Q_1Q_2 होता है।

(2) **संरक्षण अथवा उत्पादन पर प्रभाव** – संरक्षण प्रभाव स्पष्ट करता है कि आयात शुल्क लगाकर घरेलू उद्योग को विदेशी प्रतियोगिता से कैसे बचाया जा सकता है चित्र से स्पष्ट है कि मुक्त व्यापार के अंतर्गत (संरक्षण से पूर्व) OP कीमत पर वस्तु की QQ_3 मात्र आयात की जाती है। जब PP_1 आयात शुल्क लगाया जाता है तो आयात की मात्रा घटकर Q_1Q_2 रह जाती है जबकि घरेलू उत्पादन (पूर्ति) OQ से बढ़कर OQ_1 हो जाता है इस प्रकार प्रशुल्क लगाने से घरेलू उत्पादन में QQ_1 जो वृद्धि हुई है, वह प्रशुल्क का **संरक्षण अथवा उत्पादन प्रभाव** है।

(3) **उपभोग प्रभाव**– प्रशुल्क प्रभाव के कारण वस्तु के उपयोग में कमी आती है। जैसा चित्र से स्पष्ट है कि प्रशुल्क लगाने से पूर्व उपभोक्ता OP कीमत पर वस्तु की OQ_3 मात्रा का उपभोग करते थे। लेकिन जब PP_1 प्रशुल्क लगाया जाता है तो वस्तु की कीमत बढ़कर OP_1 हो जाती है अब आयात में Q_2Q_3 गिरकर OQ_2 पर आ जाता है। इस प्रकार Q_2Q_3 के बराबर जो कमी हुई है वह प्रशुल्क का प्रभाव है। किण्डलबर्गर संरक्षण तथा उपभोग प्रभाव को मिलाकर व्यापार प्रभाव कहते हैं। क्योंकि प्रशुल्क लगाने से व्यापार के परिमाण में कमी आती है।

(4) **राजस्व प्रभाव** – प्रशुल्क के परिणास्वरूप सरकार की प्राप्तियों (आय) में जो परिवर्तन आता है, वह प्रशुल्क का राजस्व प्रभाव कहलाता है। चित्र से स्पष्ट है कि OP कीमत पर प्रशुल्क शून्य है। जब PP_1 आयात प्रशुल्क लगाया जाता है तो सरकार को आयात शुल्क गुणा आयात मात्रा (TariffXQm) के बराबर राजस्व प्राप्त होता है इसलिये चित्र में MRTN आयात राजस्व के प्रभाव को दर्शाता है।

(5) **पुनर्वितरण प्रभाव** – प्रशुल्क लगने के पश्चात् उत्पादक को अपनी वस्तु की अधिक कीमत प्राप्त होती है। यह प्रशुल्क का पुनर्वितरण प्रभाव है। इसे चित्र में PP_1MA द्वारा दिखाया गया है। यह राशि उत्पादन पर अतिरेक (Surplus) और आर्थिक लगान है जो उत्पादक को प्राप्त होता है। किण्डलबर्गर के अनुसार पुनर्वितरण प्रभाव ''उत्पादक के अधिक्य में होने वाली वृद्धि है जो उसे उपभोक्ता की बचत में होने वाली कमी के परिणामस्वरूप प्राप्त होती है।

(6) **भुगतान सन्तुलन पर प्रभाव** – प्रशुल्क से भुगतान सन्तुलन पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है क्योंकि प्रशुल्क से प्रशुल्क लगाने वाले देश के आयातों में कमी होती है और निर्यातकर्त्ता देश के निर्यातों में कमी होती है। इस प्रकार प्रशुल्क देश का अंतर्राष्ट्रीय व्यय घटाता है और भुगतान सन्तुलन में स्थिरता लाता है। चित्र में भुगतान संतुलन प्रभाव को दिखाया गया है मुक्त व्यापार स्थिति में (प्रशुल्क से पूर्व) OP कीमत पर वस्तु की QQ_3 मात्रा आयात की जाती है। चित्र में चतुर्भुज AQQ_3B आयात के कुल मूल्य को व्यक्त करता है यह भुगतान शेष के घाटे को प्रदर्शित करता है क्योंकि आयातकर्त्ता जो कीमत भुगतान करते हैं वह दूसरे देश को प्राप्त होती है। इस घाटे को पूरा करने के लिये सरकार आयातित वस्तु पर PP_1 आयात शुल्क लगा देती है जिसके परिणामस्वरूप आयात की मात्रा QQ_3 से घटकर QQ_2 रह जाता है। सरकार

को छायांकित भाग के बराबर राजस्व की प्राप्ति होती है। भुगतान सन्तुलन की स्थिति में सुधार होता है क्योंकि दूसरे देश को भुगतान की गई राशि RQ_1Q_2T क्षेत्र के बराबर है। जो प्रशुल्क से पूर्व भुगतान की गई AQQ_3B राशि से कम है।

(7) **व्यापार की शर्तों पर प्रभाव** – प्रशुल्क का व्यापार की शर्तों पर ऐसा प्रभाव पड़ता है जिससे प्रशुल्क लगाने वाले देश की व्यापार की शर्तों में सुधार होता है। व्यापार की शर्तों पर प्रशुल्क के प्रभाव को अग्र चित्र की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है–

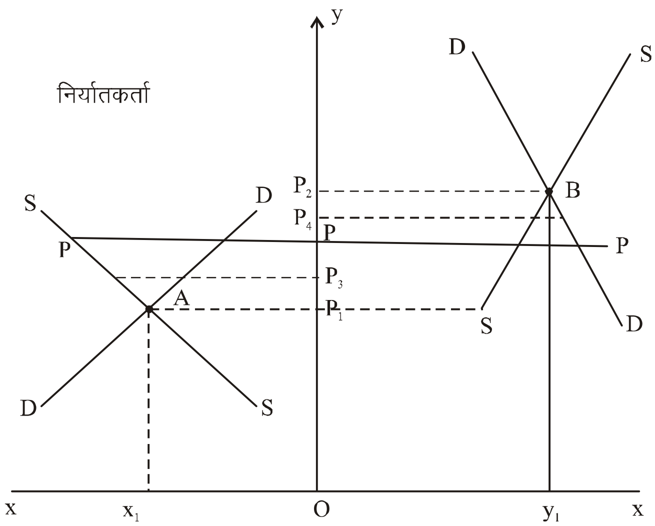

दो देश x तथा y है x निर्यातकर्त्ता तथा y आयातकर्त्ता देश है। निर्यातकर्त्ता देश का आन्तरिक सन्तुलन बिन्दु A है। आयातकर्त्ता देश का आन्तरिक संतुलन बिन्दु B है। निर्यात OP_1 मूल्यों पर Ox_1 वस्तुओं का उत्पादन एवं उपभोग करता है तथा आयातक देश OP_2 मूल्यों पर Oy_1 का उत्पादन एवं उपभोग करता है।

यदि दोनों देशों के बीच व्यापार हो तो दोनों देशों को लाभ प्राप्त हो सकता है माना आयातक देश P_3P_4 के बराबर आयात कर लगाता है तथा अंतर्राष्ट्रीय मूल्य PP पर निश्चित है तब निर्यातक देश का लाभ P_1P_3 तथा आयातक देश का लाभ P_2P_4 के बराबर होगा। क्योंकि निर्यातक देश को वस्तु निर्यात करने पर P_1P_3 के बराबर अतिरिक्त आय की प्राप्ति होगी तथा आयातक देश को P_2P_4 के बराबर सस्ती वस्तु प्राप्त होगी। आयात कर का P_3P_4 भाग दोनों देशों के मध्य बंट जायेगा। यह दोनों देशों में व्यापार की शर्तों तथा वस्तु की मांग एवं पूर्ति की लोच पर निर्भर करेगा। चित्र से स्पष्ट है कि आयात कर का P_3P भाग निर्यातक देश को तथा PP_4 भाग आयातक देश पर पड़ेगा। अतः दोनों देशों पर प्रशुल्क का प्रभाव $P_3P > PP_4$ का हो सकता है।

प्रशुल्क लागू करने के बाद व्यापार की शर्तें दो व्यापार करने वाले देशों के उत्पादों की मांग और प्रर्ति की लोच पर निर्भर है।

यदि $P_3P > PP_4$ है तो प्रशुल्क का प्रभाव आयातक देश के अनुकूल होगा।

यदि $P_3P < PP_4$ तब प्रशुल्क का प्रभाव निर्यातक देश के अनुकूल होगा।

(8) प्रतियोगिता पर प्रभाव – प्रशुल्क का प्रतियोगिता प्रभाव यह पड़ता है कि आयातित वस्तु पर प्रशुल्क लगाकर घरेलू उद्योग को विदेशी प्रतियोगिता से बचाया जाए। क्योंकि प्रशुल्क को लागू करने से शिशु उद्योग का विकास संभव हो सकता है जो इसके बिना विदेशी प्रतियोगिता का सामना करने की स्थिति में नहीं था। जब प्रशुल्क से विदेशी उत्पाद अधिक मंहगा हो जाता है तो घरेलू शिशु उद्योग को संरक्षणात्मक ढ़ाल के पीछे विकास करने का अवसर मिल जाता है। इस प्रकार प्रशुल्क से प्रशुल्क लागू करने वाले देश के उद्योगों की प्रतियोगिता क्षमता में वृद्धि होती है। जब शिशु उद्योग विदेशी प्रतियोगिता का सामना करने के योग्य हो जाता है तो प्रशुल्क हटाया जा सकता है। घरेलू उद्योगों की प्रशुल्क के द्वारा प्रतियोगिता करने की शक्ति में वृद्धि को प्रतियोगिता प्रभाव कहा जाता है। परन्तु यह आशंकायें प्रकट की जाती है कि संरक्षण से अकुशलता पैदा होती है और एकाधिकार को बढ़ावा मिलता है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए किण्डलबर्गर का मत है कि प्रशुल्क का प्रतियोगिता प्रभाव वास्तव में प्रतियोगिता विरोधी प्रभाव है, प्रशुल्क हटाने से प्रतियोगिता बढ़ती है। इसलिए वे इस पक्ष में थे कि अर्थव्यवस्था के हित में उन उद्योगों पर से प्रशुल्क हटा दिया जाए जो धीमें, भारी और सुस्त पड़ गए हैं।

(9) आय प्रभाव – प्रशुल्क लगाने के परिणामस्वरूप प्रशुल्क लगाने वाले देश की राष्ट्रीय आय पर जो प्रभाव पड़ता है उसे आय प्रभाव कहा जाता है। यदि यह मान लिया जाए कि दूसरे देश में बदले की भावना नहीं जागती, तो प्रशुल्क लगाने से आयात कम हो जाते हैं और आयातित वस्तुओं की मांग गिर जाती है तथा घरेलू उत्पादित वस्तुओं की मांग बढ़ जाती है इससे निर्यात अतिरेक (x-M) का मूल्य बढ़ेगा जो विदेशी क्षेत्र से आय का अन्तर्वाह बढ़ा देगा। आयात मोड़ी गई समस्त आय बचत के रूप में नहीं रखी जायेगी अपितु उसका कुछ भाग देश में खर्च किया जायेगा। अपूर्ण रोजगार की स्थिति में इससे मौद्रिक और वास्तविक आय एवं रोजगार में वृद्धि होगी।

प्रशुल्क के आय प्रभाव को निम्न चित्र की सहायता से स्पष्ट कर सकते हैं–

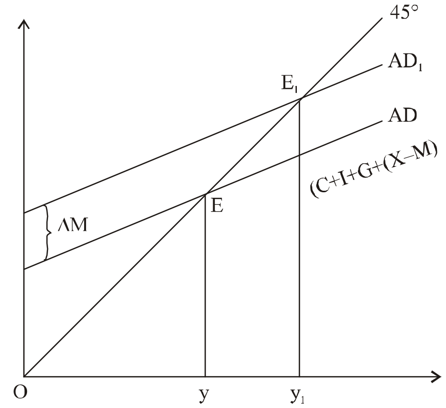

बेरोजगारी स्तर पर अर्थव्यवस्था का कुल व्यय वक्र AD है जो 45^0 रेखा को E बिन्दु पर काटता है जिससे आय का संतुलन स्तर Oy होता है। AD वक्र समस्त मांग को व्यक्त करता है जो (C+I+G+CxM) से बनता है। जब प्रशुल्क लगाया जाता है तो उससे आयात– M घट जाते हैं और घरेलू उत्पादित वस्तुओं की मांग बढ़ जाती है जिससे कुल मांग वक्र सरक कर AD_1 ($C+I+G+Cx-M_1$) पर पहुंच जाता है। इससे नया सन्तुलन E_1 बिन्दु पर प्राप्त होता है और आय का सन्तुलन स्तर Oy_1 पर आ जाता है। यदि Oy_1 आय का स्तर, पूर्ण रोजगार का स्तर हो तो समझो प्रशुल्क ने अर्थव्यवस्था को पूर्ण रोजगार के स्तर पर पहुंचा दिया है और आय का स्तर Oy_1 पर ला दिया है।

एक प्रशुल्क लगाने वाले देश के आय और रोजगार पर प्रशुल्क प्रभाव निम्न कारणों से नहीं हो सकता है

(i) जब घरेलू देश प्रशुल्क लगाता है तो दूसरे देश के निर्यात कम हो जाते हैं जो आगे उसके उत्पादन, रोजगार और आय को भी कमकर देते हैं। परिणामस्वरूप दूसरा देश घरेलू देश से अपने आयात कम कर देगा। यदि प्रशुल्क लगाने वाला देश दूसरे देश की कीमत पर अपने उत्पादन, रोजगार और आय स्तर को बढ़ाता है तो यह पड़ोसी को भिखारी बनाने अथवा दूसरे का धन हरण करने की नीति कहलाती है।

(ii) दूसरा देश प्रतिशोधकारी उपाय अथवा प्रतिकारी शुल्क अपना सकता है जो घरेलू देश के आय व रोजगार के प्रभावों को विफल कर सकते हैं।

मार्शल एजवर्थ वक्र तथा प्रशुल्क प्रभाव –माना दो देश x तथा y है जिनमें x गेहूं का उत्पादन व निर्यात करता है। तथा देश y कपड़े का उत्पादन व निर्यात करता है। मुक्त व्यापार की स्थिति में अर्थात् तटकर से पूर्व दोनों देशों की विनिमय दर रेखा Op है जैसा निम्न चित्र से स्पष्ट है–

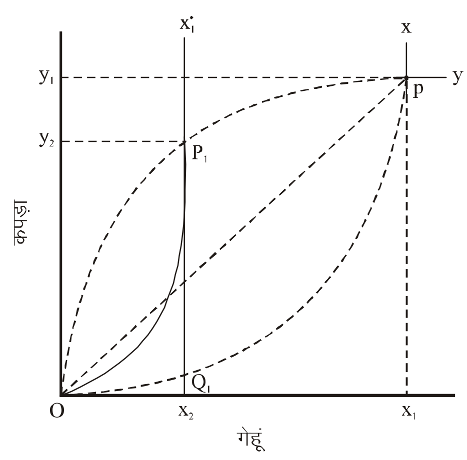

माना एक देश के प्रशुल्क पर दूसरा देश किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं करता है। अतः Ox_1 गेहूं के बदले Oy_1 कपड़े का विनिमय होता है।

यदि x देश प्रशुल्क लगाता है जिससे उसका प्रस्ताव वक्र Ox के स्थान पर Ox_1 हो जाता है। प्रशुल्क के बाद x देश Ox_2 गेहूं के बदले p_1x_2 कपड़े लेना चाहता है। p_1x_2 में से P_1Q_1 भाग सरकार को आयात कर के रूप में प्राप्त होगा। यहां आयातक

देश को x_2x_1 के बराबर गेहूं की बचत होगी जबकि केवल y_1y_2 के बराबर कम कपड़ा प्राप्त होगा। यहां $x_1x_2 > y_1y_2$ अतः प्रशुल्क लगाने वाले देश को लाभ होगा।

यदि तटकर/प्रशुल्क लगाने वाले देश का प्रस्ताव वक्र पूर्णतया लोचदार है तब तटकर/प्रशुल्क लगाने से तटकर लगाने वाले देश को ही हानि होगी जैसा इस चित्र से स्पष्ट है–

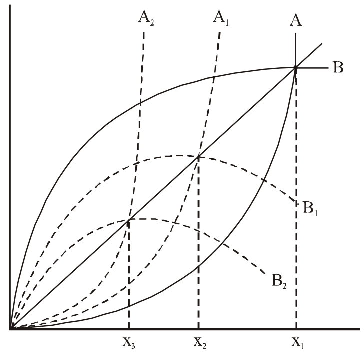

तटकर से पूर्व x देश का प्रस्ताव वक्र OA है इस पर Ox_1 गेहूं के निर्यात के बदले देश में Px_1 कपड़े का आयात होता है।

तटकर के पश्चात् प्रस्ताव वक्र क्रमशः A_1 तथा A_2 होंगे इस पर कुल निर्यात घटकर Ox_2 तथा Ox_3 हो जायेंगे। अतः ऐसी स्थिति में तटकर लगाने के कारण तटकर लगाने वाले देश के निर्यातों में कमी आयेगी और उस पर व्यापार का प्रतिकूल प्रभाव होगा।

अनुकूलतम प्रशुल्क – तटकर/प्रशुल्क लगाने से प्रशुल्क लगाने वाले देश को लाभ अथवा उसकी व्यापार की शर्तों में सुधार होता है या अपरिवर्तित रहती है यदि व्यापार की शर्तें अनुकूल होंगी तब तटकर लगाने वाले देश को लाभ होगा यदि प्रशुल्क की मात्रा से व्यापार की मात्रा में कमी होती है तब हानि होगी।

जिस बिन्दु पर प्रशुल्क लगाने से व्यापार की शर्तें अनुकूल होंगी व अनुकूलतम प्रशुल्क का बिन्दु होगा।

अनुकूलतम प्रशुल्क = प्रशुल्क लगाने से व्यापार की शर्तों के अनुकूल होने से प्राप्त लाभ–आयात में कमी के कारण हुई हानि = शुद्ध लाभ अधिकतम हो।

अनुकूलतम प्रशुल्क उस प्रशुल्क को भी कहते हैं जिस पर प्रशुल्क की मात्रा से उच्चतम संभव सामाजिक कल्याण हो या जब प्रशुल्क लगाने वाला देश उच्चतम समुदाय उदासीनता वक्र (Trade indifference Curute/TIC) पर पहुंच जाए। जैसा कि निम्न चित्र में स्पष्ट है। चित्र में OA देश x का प्रस्ताव वक्र है तथा OB देश y का प्रस्ताव वक्र है प्रशुल्क न लगाने की स्थिति में OP व्यापार की शर्तें निर्धारित होती हैं P बिन्दु पर दोनों देशों के प्रस्ताव वक्र TTC या तो काटते हैं या स्पर्श करते हैं अतः प्रारंभ में व्यापार OP व्यापार की शर्तों पर होता है। x देश का प्रस्ताव वक्र OA से OA_1 में परिवर्तित हो जाता है। अतः इस पर नया सन्तुलन का बिन्दु P से हटकर Q पर आ जाता है। इस Q बिन्दु पर $TICA_1$ देश y के प्रस्ताव वक्र OB को स्पर्श करता है। Q ही एक ऐसा बिन्दु है जो x देश के प्रस्ताव वक्र OA_1 तथा देश y के प्रस्ताव वक्र B

तथा $TICA_1$ से होता हुआ जाता है अतः Q अनुकूलतम प्रशुल्क की स्थिति को बताता है।

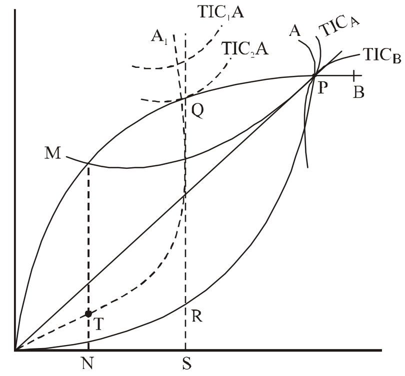

यहां अनुकूलतम प्रशुल्क $=\frac{QR}{RS}\times100$

न्यूनतम प्रशुल्क $=\frac{MT}{TN}\times100$

प्रशुल्क लागू करने वाले घरेलू देश के लिये व्यापार की शर्तें अनुकूल रहेंगी अथवा नहीं यह इस बात पर निर्भर है कि घरेलू देश के द्वारा अन्य देशों के उत्पादों पर प्रशुल्क नियंत्रण पर उनकी जवाबी कार्यवाही क्या होगी। इस का अध्ययन 2 प्रकार से कर सकते हैं–

केस I जब एक देश के प्रशुल्क लगाने से दूसरा देश कोई प्रतिक्रिया नहीं करता है।

केस II जब एक देश द्वारा प्रशुल्क लगाने पर दूसरा देश प्रतिक्रिया करता है।

केस **I** : जब एक देश के प्रशुल्क लगाने से दूसरे देश द्वारा कोई प्रतिक्रिया नहीं की जाती– यदि एक देश प्रशुल्क लागू करता है और दूसरे देश द्वारा प्रतिरोध अथवा जवाबी कार्यवाही नहीं की जाती है तो इससे देश पर दो प्रकार के प्रभाव संभव है (i) प्रशुल्क लगाने वाले देश के लिये व्यापार की शर्तों में सुधार हो सकता है (ii) प्रशुल्क के कारण व्यापार की मात्रा में कमी हो सकती है। प्रशुल्क के इन प्रभावों को निम्न चित्र की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है–

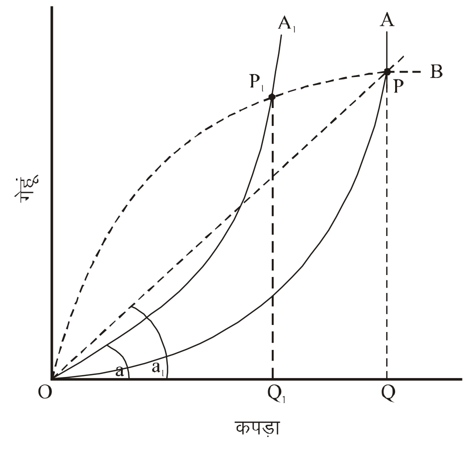

चित्र में OA देश A का प्रस्ताव वक्र है तथा OB देश B का प्रस्ताव वक्र है। आरंभ में व्यापार P संतुलन बिन्दु पर होता है जहां देश A कपड़े की OQ मात्रा का निर्यात और गेहूं की PQ मात्रा का आयात करता है। यदि घरेलू देश गेहूं पर प्रशुल्क लागू करता है तो इसका प्रस्ताव वक्र बाई ओर सरक कर OA_1 पर आ जाता है जो स्पष्ट करता है कि गेहूं कपड़े की तुलना में अधिक महंगा हो गया है अब नया संतुलन बिन्दु P_1 पर है जहां देश B का OB प्रस्ताव वक्र देश A के OA_1 प्रस्ताव वक्र को काटता है इस बिन्दु पर देश A गेहूं की P_1Q_1 मात्रा का आयात और कपड़े की OQ_1 मात्रा का निर्यात करता है। प्रशुल्क को लागू करने के बाद प्रशुल्क लागू करने वाले देश A के लिये व्यापार की शर्तों में सुधार होता है।

प्रशुल्क को लागू करने से पूर्व व्यापार की मात्रा में कपड़े के OQ निर्यात और गेहूं की PQ मात्रा आयात शामिल थे। प्रशुल्क लगाने के पश्चात् निर्यातों और आयातों दोनों की मात्रायें घटकर क्रमशः OQ_1 और P_1Q_1 हो गयी है इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रशुल्क लागू करने के बाद व्यापार की मात्रा में कमी होती है।

यदि विदेश द्वारा प्रतिरोध नहीं किया जाता और विदेश का प्रस्ताव वक्र पूर्णतया लोचशील है तो घरेलू देश द्वारा लागू किये गये प्रशुल्क से इसकी व्यापार की शर्तों में कोई सुधार नहीं होगा। इस परिस्थिति में केवल अंतराष्ट्रीय व्यापार की मात्रा में कमी होगी। चित्र में OA घरेलू देश का प्रस्ताव वक्र और OB विदेश B का प्रर्णतया लोचशील प्रस्ताव वक्र आरंभ में बिन्दु P पर विनिमय होता है। जहां देश A कपड़े की OQ मात्रा के बदले PQ मात्रा गेहूं का आयात करता है। देश A के द्वारा प्रशुल्क लागू करने के बाद इसका प्रस्ताव वक्र OA_1 पर सरक जाता है। परंतु प्रतिरोध न करने वाले देश B का प्रस्ताव वक्र पहले के समान OB ही रहता है तो विनिमय बिन्दु P_1 हो जाता है जहां कपड़े की OQ_1 मात्रा निर्यात के बदले P_1Q_1 गेहूं का आयात किया जाता है इससे स्पष्ट है कि प्रशुल्क लगाने वाले देश A के लिये व्यापार की शर्तों में कोई सुधार नहीं होता है। प्रशुल्क के प्रभाव के कारण व्यापार की मात्रा में कमी आती है।

केस **II विदेशी प्रतिरोध की स्थिति** – जब एक देश द्वारा प्रशुल्क लागू करने पर दूसरा देश प्रतिक्रिया करता है–माना दो देश x तथा y है। x देश गेहूं का निर्यात तथा कपड़े का आयात करता है तथा देश y कपड़े का निर्यात तथा गेहूं का आयात करता है यहां हम यह मानकर चलते हैं कि एक देश द्वारा प्रशुल्क लगाये जाने की स्थिति में दूसरा देश प्रतिक्रिया स्वरूप प्रशुल्क लगाता है यहां दो संभावनाएं हैं–

(i) दूसरा देश भी समान मात्रा में प्रशुल्क का प्रयोग करे।

(ii) दूसरे देश द्वारा प्रयोग की गयी प्रशुल्क की मात्रा पहले देश के प्रशुल्क से भिन्न है।

(i) यदि दूसरा देश भी समान मात्रा में प्रशुल्क का प्रयोग करें – यदि एक देश प्रशुल्क लागू करता है और दूसरा देश भी समान मात्रा में प्रशुल्क का प्रयोग करता है तो उसका कोई लाभ नहीं होता है। प्रारंभ में देश x का प्रस्ताव वक्र OA और OB प्रस्ताव वक्र देश B का है जो एक दूसरे को P बिन्दु पर काटते हैं अतः व्यापार की शर्त OP द्वारा निर्धारित होती है। देश x द्वारा प्रशुल्क लगाने से उसका प्रस्ताव वक्र OA से OA_1 में परिवर्तित हो

जाता है। यदि देश y भी समान मात्रा में प्रशुल्क लगाता है तो y देश का प्रस्ताव वक्र OB से बदलकर OB_1 हो जाता है। यहां OA_1 तथा OB_1 एक दूसरे को Q बिन्दु पर काटते है जो OP पर ही आधारित हैं अतः प्रशुल्क लगाने से व्यापार की शर्त पूर्ववत् बनी रहती है लेकिन कुल व्यापार Ox_1 से घटकर Ox_2 हो जाता है। इसी प्रकार देश x द्वारा पुनः प्रशुल्क लागू करने पर उसका प्रस्ताव वक्र सरक OA_2 हो जाता है देश y भी प्रतिक्रिया में पुनः प्रशुल्क लागू करता है तो उसका प्रस्ताव वक्र OB_2 हो जाता है जो एक दूसरे को R बिन्दु पर काटते हैं प्रशुल्क समान मात्रा में लागू करने के कारण व्यापार की शर्तें पूर्ववत् बनी रहती हैं जबकि व्यापार Ox_2 से घटकर Ox_3 पर हो गया। अर्थात् समान मात्रा में प्रतिक्रिया होने से किसी भी देश को कोई लाभ नहीं होगा।

दूसरे देश द्वारा प्रयोग की गयी प्रशुल्क की मात्रा पहले देश की प्रशुल्क की मात्रा से भिन्न है। अर्थात्

(ii) यदि दोनों देशों की प्रशुल्क की मात्रा में अंतर हो–यदि एक देश प्रशुल्क लागू करता है और प्रतिक्रिया में दूसरा देश भी प्रशुल्क का प्रयोग उसी अनुपात में न करके अधिक करता है तो व्यापार की शर्तों में परिवर्तन होगा और व्यापार की मात्रा कम जायेगी अतः प्रशुल्क का व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव होगा।

प्रशुल्क के बाद x देश द्वारा प्रशुल्क लगाने के बाद प्रस्ताव व़क्र OA से परिवर्तित होकर OA_1 हो जाता है जो y देश के प्रस्ताव वक्र OB को Q बिन्दु पर काटता है यहां व्यापार की शर्त OQ द्वारा निर्धारित होती है।

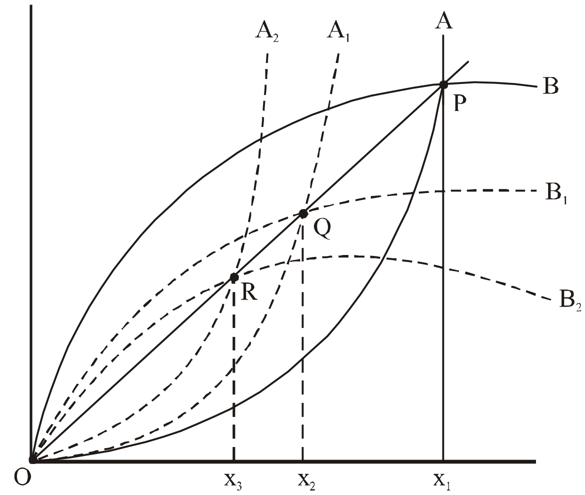

देश y द्वारा प्रतिक्रिया करने पर x देश के प्रशुल्क लगाने पर देश y द्वारा प्रतिक्रिया में प्रशुल्क लागू किया जाता है इससे उसका नया प्रस्ताव वक्र OB_1 होगा जो OA_1 को जिस बिन्दु पर स्पर्श करता है उसी बिन्दु पर व्यापार निर्धारित होगा। यदि दोनों देश पुनः प्रतिक्रिया करें तो कुल व्यापार में और कमी आयेगी। इस प्रकार स्पष्ट है कि एक देश की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप व्यापार की शर्तें निरंतर परिवर्तित होती जायेंगी तथा व्यापार की मात्रा कम होती जायेगी अतः प्रशुल्क का व्यापार की मात्रा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

प्रशुल्क का कल्याणकारी प्रभाव – यदि एक देश अपनी स्थिति को सुधारने के लिये प्रशुल्क लगाता है तथा प्रशुल्क लगाने के बाद वह देश उच्चतम संभावित व्यापार उदासीनता वक्र (TIC) पर पहुंच जाता है तो वह उस देश की अधिकतम कल्याण की स्थिति होगी। इसी प्रकार दूसरा देश भी प्रशुल्क का प्रयोग करे तो उसे भी अधिकतम लाभ उस बिन्दु पर प्राप्त होगा वहां वह उच्चतम TIC पर पहुंच जाये।

प्रशुल्क के कल्याणकारी प्रभाव को निम्नचित्र की सहायता से समझा जा सकता है–

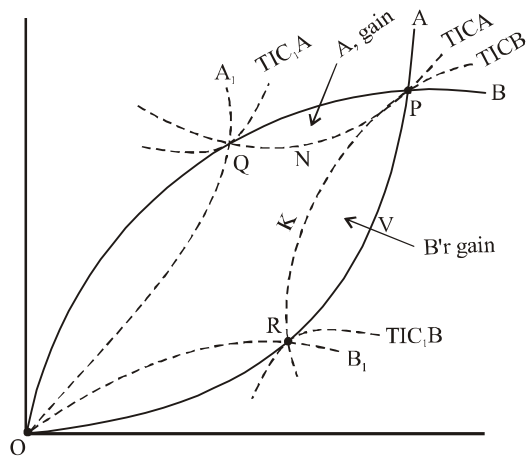

चित्र में OA देश x का तथा OB देश y का प्रस्ताव वक्र है ये दोनों प्रस्ताव वक्र एक दूसरे को बिन्दु P पर काटते हैं अतः प्रशुल्क से पूर्व व्यापार OP शर्तों पर होगा। x देश द्वारा प्रशुल्क लगाने से उसका प्रस्ताव वक्र OA_1 देश y के प्रस्ताव वक्र OB को Q बिन्दु पर काटता है। Q बिन्दु पर TIGA भी स्पर्श करता है अतः इस स्थिति में देश x को प्रशुल्क लगाने से PNQM क्षेत्र के बराबर लाभ प्राप्त होगा। इसी प्रकार से देश y द्वारा प्रशुल्क लगाने से उसका प्रस्ताव वक्र

OB_1 देश x के प्रस्ताव वक्र OA को R बिन्दु पर काटता है तथा इसी R बिन्दु पर ही TICB भी स्पर्श करता है अतः देश y को PKRL क्षेत्र के बराबर लाभ प्राप्त होगा। कल्याण में वृद्धि अथवा कमी मांग वक्रों की लाच पर निर्भर करेगी।

सीटोविस्की के अनुसार–" एक उपयुक्त प्रशुल्क सदैव कल्याण में वृद्धि करेगा, यदि विदेशी पारस्परिक मांग की लोच इकाई के बराबर अथवा इकाई से कम है।"

यदि कोई देश प्रशुल्क को संकुचित रूप में प्रयोग करता है अर्थात् केवल आयात करो का ही प्रयोग करता है तो इससे एक ओर देश को आयात कर के रूप में विदेशी मुद्रा की प्राप्ति होगी तथा दूसरी और आयात करों के कारण वस्तु का मूल्य बढ़ जायेगा और आयातों में कमी होगी। इस प्रकार देश की भुगतान असंतुलन की स्थिति में एक सीमा तक सुधार होगा।

इसके विपरीत यदि सरकार प्रशुल्क का विस्तृत रूप में प्रयोग करती है तो इससे सरकार को आयात कर, निर्यात कर तथा परिवहन करों से अधिक आय की प्राप्ति होगी तथा सरकार अपनी भुगतान असंतुलन की समस्या से छुटकारा पा सकती है।

प्रशुल्क के लाभ तथा विदेशी मुद्रा की प्राप्ति वस्तु की मांग तथा पूर्ति की लोच के अतिरिक्त इस बात पर भी निर्भर करेगी कि दूसरे देश पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होती है।

गैर प्रशुल्क उपाय

घरेलू उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने तथा विदेशी वस्तुओं के आयात को सीमित करने के लिये सरकारें अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रशुल्क अथवा तटकरों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के उपायों का सहारा लेती है जैसे आयात अभ्यंश/कोटा, स्वैच्छिक निर्यात नियंत्रण, निर्यात सब्सिडी, तकनीकी उपाय, आयात लाइसेसिंग प्रक्रिया, सरकारी वसूली, सीमा शुल्क मूल्यांकन, अंतर्राष्ट्रीय कार्टेल, राजकीय व्यापार, राशिपातन आदि।

प्रमुख गैर–प्रशुल्क उपायों का विवरण निम्नवत् है–

1. आयात अभ्यंश –

अनेक राष्ट्र आयातों को नियंत्रित करने के लिये अथवा आयातों पर प्रतिबंध लगाने की दृष्टि से अथवा अपने व्यापार की मात्रा में परिमाणात्मक नियंत्रण करने के लिए आयात अभ्यंश का प्रयोग करते हैं। आयात अभ्यंश/कोट का उद्देश्य आन्तरिक उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना अथवा भुगतान असन्तुलन को दूर करना होता है। यह एक प्रमुख एवं प्रचलित गैर–प्रशुल्क उपाय है आयात अभ्यंश से तात्पर्य, वस्तु की उस निश्चित मात्रा अथवा मूल्य से है जिसका समय की एक निश्चित अवधि में देश में आयात किया जा सकता है।

प्रो. स्नाइडर–अभ्यंश उस माल की मात्रा की सीमायें हैं जिसका एक निश्चितकाल में आयात या निर्यात किया जाता है।

प्रो. हैबरलर–आयात अभ्यंश के अंतर्गत आयात की जाने वाली वस्तु की निर्धारित मात्रा से अधिक आयात नहीं किया जा सकता है।

जब कोई देश आयातों की सीमा निर्धारित करता है तो उसे आयात अभ्यंश तथा जब देश निर्यातों की सीमा निर्धारित करता है उसे निर्यात अभ्यंश कहते हैं।

व्यवहार में आयात अभ्यंश को दो रूपों में प्रयोग किया जाता है–

(i) प्रत्यक्ष आयात अभ्यंश (ii) अप्रत्यक्ष आयात अभ्यंश

(i) **प्रत्यक्ष आयात अभ्यंश** – जब आयातों की भौतिक मात्रा निश्चित कर दी जाती है तो उसे प्रत्यक्ष आयात अभ्यंश कहते हैं। जैसे 10 टन चावल

(ii) **अप्रत्यक्ष आयात अभ्यंश** –जब आयातों के मूल्य की मात्रा निर्धारित कर दी जाती है तो उसे अप्रत्यक्ष अभ्यंश कहते हैं। जैसे 19000 रूपये के चावल।

आयात अभ्यंश के उद्देश्य – विभिन्न सरकारें समय–समय पर अपने निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये आयात अभ्यंशों का प्रयोग करती हैं आयात अभ्यंश के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

(1) आयातों को तुरंत नियंत्रित करने के लिये

(2) भुगतान असंतुलन की स्थिति को सुधारने के लिये

(3) आन्तरिक उद्योगों को संरक्षण देने के लिये

(4) अनावश्यक एवं विलासिता की वस्तुओं के आयातों पर प्रतिबंध लगाने के लिये

(5) बहुमूल्य विदेशी मुद्रा का संग्रहण करने के लिये ताकि भविष्य में आवश्यकता पड़ने पर तुरंत प्रयोग किया जा सके

(6) आयात व्यापार में होने वाली सट्टे की प्रवृत्ति को रोकने के लिये

(7) दूसरे देशों द्वारा लागू अभ्यंश प्रणाली के प्रतिशोध के रूप में।

इस प्रकार के अभ्यंशों का प्रयोग संकटकालीन स्थिति तथा तुरंत लाभ प्राप्त करने की दृष्टि से किया जाता है।

आयात अभ्यंशों के प्रकार – आयात अभ्यंशों को निम्न पांच भागों में विभाजित किया जाता है–

(क) **एक पक्षीय अभ्यंश** – इसके अंतर्गत एक निश्चित अवधि में आयात की जाने वाली वस्तु की मात्रा निश्चित कर दी जाती है और निर्धारित सीमा से अधिक मात्रा का आयात नहीं किया जा सकता। अभ्यंश का निर्धारण दो प्रकार का हो सकता है–

- विश्व कोटा–इसके अंतर्गत आयात की जाने वाली निर्धारित मात्रा को विश्व के किसी भी देश से आयात किया जा सकता है।
- विभाजित कोटा–इसके अंतर्गत कुछ वस्तुओं की कुछ विशिष्ट मात्रा का अभ्यंश कुछ निश्चित देशों के लिए निर्धारित कर दिया जाता है, अर्थात् कुल आयात में से कितनी–कितनी मात्रा किस–किस देश से आयात की जानी है, इसका पहले से ही निर्धारण कर दिया जाता है।

(ख) **द्विपक्षीय अभ्यंश** – इस प्रणाली के अंतर्गत आयात कोटा दोनों पक्षों– आयातकर्त्ता देश के पूर्व समझौते से निर्धारित किया जाता है इसके अंतर्गत दोनों देश आपसी सहमति से विचार–विमर्श द्वारा आयात की मात्रा निर्धारित करते हैं। अतः दोनों देशों के बीच किसी प्रकार के विवाद अथवा तनाव की संभावना नहीं रहती है। चूंकि इसके अंतर्गत आयात कोटा का निर्धारण केवल दो ही देशों के मध्य होता है, इसलिए इसे द्विपक्षीय अभ्यंश कहते हैं।

(ग) **मिश्रित अभ्यंश** – इसका प्रयोग सामान्यतः कच्चे माल के आयात पर प्रतिबंध लगाने की दृष्टि से किया जाता है। इसके अंतर्गत निर्मित माल बनाने वाले उत्पादकों द्वारा एक निश्चित मात्रा तक घरेलू कच्चे माल का प्रयोग अनिवार्य कर दिया जाता है इसके दो उद्देश्य होते हैं–(i) घरेलू कच्चा माल उत्पादित करने वालों को सहायता प्रदान करना (ii) आयातों की मात्रा नियंत्रित कर देश से बहुमूल्य विदेशी मुद्रा के बहिर्गमन को रोकना। इसके अंतर्गत देश में उत्पादकों से आशा की जाती है कि वे आयातित कच्चे माल के साथ आंतरिक कच्चे माल का भी प्रयोग करें, इसलिए इसमें विदेशों से कच्चे माल के आयात की सीमा निर्धारित कर दी जाती है।

(घ) **आयात लाइसेंसिंग** – आयात लाइसेंस आयातों की मात्रा को नियंत्रित करने का शक्तिशाली प्रयास है। इसके अंतर्गत आयात करने का अधिकार

कुछ संस्थाओं अथवा कुछ व्यक्तियों को दिया जाता है जो एक निर्धारित मात्रा तक ही निर्धारित वस्तु का आयात कर सकते हैं। इस प्रणाली के अंतर्गत आयातकर्त्ताओं को सरकार से आयात लाइसेंस लेना अनिवार्य होता है।

(च) **प्रशुल्क अभ्यंश** – इसके अंतर्गत आयात की एक निश्चित मात्रा कम अथवा बिना किसी प्रशुल्क के निर्धारित की जा सकती है, लेकिन निश्चित सीमा से अधिक आयात करने पर अधिक दर से प्रशुल्क देना पड़ता है। अतः आयात को निश्चित करने या आंतरिक उद्योगों को संरक्षण देने की दृष्टि में यह अभ्यंश तथा प्रशुल्क का मिश्रण है। यह पद्धति उन्नसवीं शताब्दी के मध्य से अधिक प्रचलित हुई है। वर्तमान में यह प्रणाली अपने दोषों के कारण प्रयोग में नहीं लायी जाती है।

आयात अभ्यंश के प्रभाव

आयात अभ्यंश के कई प्रभाव हैं जैसे कीमत प्रभाव, संरक्षणात्मक प्रभाव, उत्पादन प्रभाव, उपभोग प्रभाव, राजस्व प्रभाव, पुनः वितरण प्रभाव, व्यापार की शर्त प्रभाव, भुगतान सन्तुलन पर प्रभाव आदि।

- **कीमत प्रभाव** :

आयात अभ्यंश विदेश से आयात की गई वस्तु की मात्रा पर प्रत्यक्ष भौतिक सीमा है आयात अभ्यंश लागू करने से घरेलू बाजार में इसकी उपलब्धि पर नियन्त्रण लग जाता है। आयात अभ्यंश के कारण देश में आयातित वस्तु की पूर्ति कम हो जाती है; जबकि मांग अप्रभावित रहती है जिसके परिणामस्वरूप आयातित वस्तु के मूल्य में वृद्धि हो जाती है! वस्तु के मूल्य में परिवर्तन–(i) आयातित वस्तु की पूर्ति (मात्रा तथा आयातित वस्तु की मांग की लोच पर निर्भर करता है। कीमत प्रभाव की निम्न चित्र की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है।

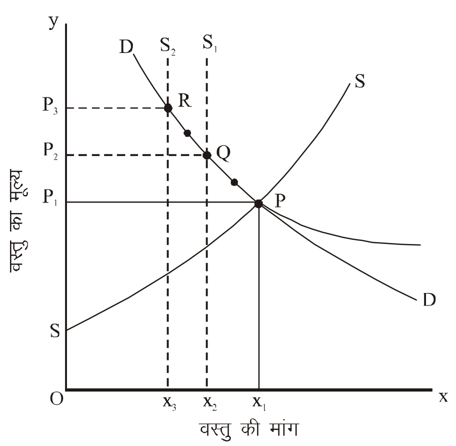

अभ्यंश से पूर्व

SS पूर्ति वक्र है DD मांग वक्र है P सन्तुलन बिन्दु है जिस पर वस्तु की कुल मांग OX_1 है तथा मूल्य OP_1 है। सरकार आयात अभ्यंश का प्रयोग करती है। माना आयात अभ्यंश = OX_2 है अत : नया पूर्ति वक्र = S_1 तथा नया सन्तुलन बिन्दु Q है इस स्थिति में D = S = OX_2 है इस पर नया कीमत स्तर OP_2 है जो यह स्पष्ट करता है कि

अभ्यंश के प्रयोग के कारण वस्तु का मूल्य OP से बढ़कर OP_2 हो गया अतः कीमत प्रभाव = $P_1 P_2$ है। जैसे–जैसे अभ्यंश की मात्रा कम करते हैं कीमत प्रभाव की मात्रा बढ़ती जायेगी। अभ्यंश की मात्रा OX_3 करने पर कीमत बढ़कर OP_3 हो जायेगी यहां कीमत प्रभाव $P_1 P_2$ होगा। अत : कीमत प्रभाव = 1 अभ्यंश की मात्रा

• व्यापार की शर्त पर प्रभाव

आयात अभ्यंश का प्रयोग करने से व्यापार की शर्तें बदल जाती हैं। व्यापार की शर्तों का अनुकूल या प्रतिकूल होना निर्यातक देश के प्रस्ताव वक्र पर निर्भर करता है। यदि निर्यातक देश के प्रस्ताव वक्र की मांग की लोच इकाई से कम है तो व्यापार की शर्त निर्यातक देश के अनुकूल तथा आयातक देश की व्यापार की शर्तें प्रतिकूल होंगी तथा यदि निर्यातक देश का प्रस्ताव वक्र लोचदार है तो आयातक देश की व्यापार की शर्तें अनुकूल हो जाएंगी जैसा निम्न चित्र से स्पष्ट है :

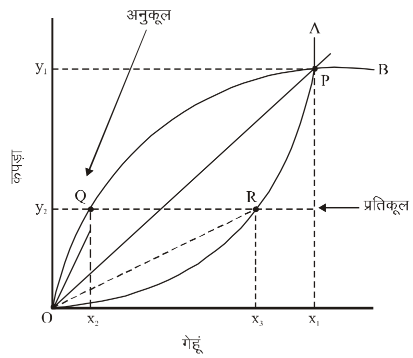

प्रारम्भ में अर्थात् आयात अभ्यंश से पूर्व X देश का प्रस्ताव वक्र OA है तथा प्रदेश का प्रस्ताव वक्र OB है इनका सन्तुलन बिन्दु P है व्यापार की शर्त का निर्धारण OP रेखा द्वारा निर्धारित होता है अर्थात् OX_1 गेहूं के बदले OY_1 कपड़े का विनिमय होता है।

आयात अभ्यंश के प्रयोग के बाद यदि x देश y देश से आयात की मात्रा oy_2 निश्चित कर देता है तो यहां व्यापार की शर्तें अनुकूल तथा प्रतिकूल दोनों हो सकती हैं y_2 बिन्दु से x अक्ष के समान्तर रेखा खींची जिसने y देश के प्रस्ताव वक्र को Q तथा ब देश के प्रस्ताव वक्र को R बिन्दु पर काटा है। यदि व्यापार Q बिन्दु पर होता है तो व्यापार की शर्ते OQ द्वारा निर्धारित होंगी जो आयातक देश के अनुकूल होंगी। इसके विपरीत यदि व्यापार R बिन्दु पर होता है तो व्यापार की शर्त OR द्वारा निर्धारित होंगी जो आयातक देश के प्रतिकूल होंगी क्योंकि Q बिन्दु पर x देश को oy_2 कपड़े के आयात के बदले ox_2 गेहूं देना पड़ेगा (x देश के लिए अनुकूल है) और R बिन्दु पर x देश को oy_2 कपड़े के बदले ox_3 गेहूं देना पड़ेगा (x देश के लिए प्रतिकूल है)

• संरक्षात्मक अथवा उत्पादन प्रभाव

आयात अभ्यंश का संरक्षणात्मक प्रभाव पड़ता है जब आयात अभ्यंश के कारण आयातों में कमी होती है तो घरेलू उत्पादकों को आयात प्रतिस्थापनों के उतपादन में वृद्धि करने की प्रेरणा मिलती है आयात अभ्यंश के कारण घरेलू उत्पादन की वृद्धि को संरक्षणात्मक अथवा उत्पादन प्रभाव कहा जाता है इसे निम्न चित्र की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है–

टिप्पणी

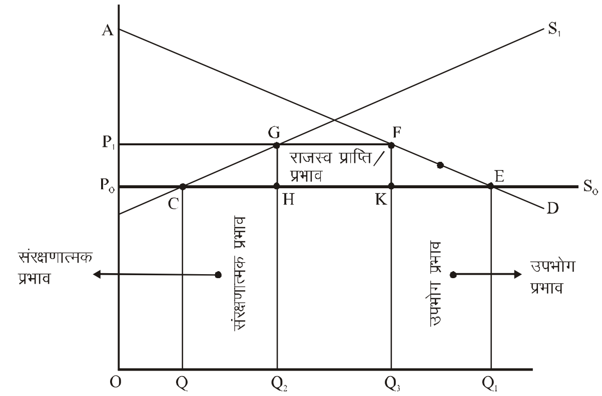

चित्र के अनुसार आरम्भ में घरेलू उत्पादन OQ था Q_2Q_3 आयात अभ्यंश निर्धारित होने के पश्चात् घरेलू उत्पादन OQ से बढ़कर OQ_2 हो जाता है। इस प्रकार Q Q_2 उत्पादन में वृद्धि संरक्षणात्मक अथवा उत्पादन प्रभाव को बताती है।

- **उपभोग प्रभाव**

आयात अभ्यंश निर्धारित करने के पश्चात् वस्तु की घरेलू कीमत में वृद्धि हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप वस्तु के उपभोग में कमी आती है इसे ही उपभोग प्रभाव कहते हैं। उपरोक्त चित्र से स्पष्ट है कि मुक्त व्यापार की स्थिति में उपभोग OQ_1 है। जब आयात अभ्यंश Q_2Q_3 किया जाता है तो ऊँची कीमत P_1 पर कुल उपभोग घटकर OQ_3 हो जाता है। उपभोग में कमी $OQ_1 - OQ_3 = Q_1\ Q_3$ होती है यह उपभोग प्रभाव है।

- **राजस्व प्रभाव**

प्रशुल्क की तुलना में आयात अभ्यंश का राजस्व प्रभाव निश्चित करना कठिन होता है। यदि सरकार आयात लाइसेंसों की नीलामी करने की नीति अपनाती है तो सरकार की राजस्व प्राप्ति चित्रानुसार GHKF होगी। इस प्रकार राजस्व प्रभाव प्रशुल्क प्रभाव के समान ही है परन्तु हाल के समय में सरकारें लाइसेंस नीलामी नहीं करती है इसी स्थिति में राजस्व घरेलू आयातकों अथवा विदेशी निर्यातकों से प्राप्त किया जाता है।

- **पुनः वितरण प्रभाव**

आयात अभ्यंश लागू करने से वस्तु की कीमत में वृद्धि होती है इससे आयातक देश के उपभोक्ता की बेशी की हानि होती है दूसरी ओर ऊँची कीमत और उत्पादन में वृद्धि के कारण उत्पादक की बेशी में लाभ होता है इसे ही पुन : वितरण प्रभाव कहा जाता है। चित्र के अनुसार आयात अभ्यंश निर्धारित करने के बाद कीमत P_0 से बढ़कर P_1 हो जाती है और उपभोक्ता की बेशी की हानि P_0EFP_1 के समान होती है और उत्पादक की बेशी में वृद्धि P_0CGP_1 के समान होती है। यदि आयातक संगठित हैं तो उन्हें राजस्व की प्राप्ति GHKF के समान होगी। परिणामस्वरूप समुदाय की शुद्ध हानि $P_0EFP_1 - (P_0CGP_1 + GHKF) = GCH + KFE$ के समान होगी। यदि राजस्व प्रभाव न तो सरकार को और न ही आयातकों को प्राप्त होता है तो पुनः वितरण प्रभाव से कल्याण में हानिकारक होगी।

- **भुगतान शेष प्रभाव**

आयात अभ्यंश करने का एक उद्देश्य भुगतान शेष के घाटे में कमी लाना होता है राष्ट्रीय आय का वह भाग जिसे आयात पर खर्च किया जाता था, उसका प्रयोग आयात

प्रतिस्थापन अथवा निर्यात उद्योगों में निवेश के रूप में प्रयोग लाया जा सकता है। आयात में कमी के साथ निर्यात के विस्तार से देश की भुगतान शेष की अवस्था में सुधार होने की सम्भावना होती है। चित्र में मुक्त व्यापार की स्थिति में P_0 कीमत पर OQ_1 मात्रा आयात की जाती थी और आयात का कुल कूल्य QCEQ है। जब सरकार Q_2Q_3 आयात अभ्यंश निर्धारित कर देती है तो आयात की भौतिक मात्रा में कमी हो जाती है। आयात की गई वस्तु की कीमत P_1 तक बढ़ जाती है आयात का मूल्य Q_2GFQ_3 हो जाता है यदि सरकार आयात लाइसेंसों की नीलामी करती है तो इसकी राजस्व प्राप्ति GFKH होती है। वैकल्पिक रूप में यदि आयातक संगठित है तो ऊँची कीमत के कारण उन्हें अतिरिक्त लाभ प्राप्त हो सकता है। दोनों में से किसी भी अवस्था में विदेशी मुद्रा की मात्रा में GFKH के बराबर बचत हो सकती है विदेश को वास्तविक भुगतान Q_2HKQ_3 होता है जो मुक्त व्यापार के अन्तर्गत आयात के लिये किये गये भुगतान QCEQ से कम है। इस प्रकार आयात अभ्यंश भुगतान शेष के घाटे को कम करने में मदद करता है।

2. स्वैच्छिक निर्यात नियन्त्रण (VER)

स्वैच्छिक निर्यात नियन्त्रण एक ऐसा समझौता है जो निर्यातक देश के निर्यातकों अथवा सरकार द्वारा आयातक देश के साथ उसके निर्यातों को सीमित करने के लिए किया जाता है। यह आयातक देश द्वारा तब किया जाता है जब उसका घरेलू उद्योग बड़े पैमाने पर आयातों द्वारा पीड़ित होता है। आयात की सीमा, मात्रा, मूल्य अथवा बाजार के अंश के अनुसार निश्चित की जा सकती है। स्वैच्छिक निर्यात नियन्त्रण में निर्यातक देश अपनी इच्छा से ही आयात करने वाले देश को निर्यातों का प्रवाह घटा देता है। स्वैच्छिक निर्यात नियन्त्रण कभी–कभार ही स्वैच्छिक होता है। इन्हें निर्यातकों को विवशता से स्वीकार करना पड़ता है अन्यथा आयातक देश उन पर अधिक शक्तिशाली व्यापार बाधाओं द्वारा प्रतिबन्ध लगा सकते हैं। फिर भी यदि निर्यातक देश ऊँची कीमतों पर कम निर्यात करके अधिक लाभ कमाने की आशा रखता है तो वह अपने निर्यात पर स्वैच्छिक रुकावटों को स्वीकार कर सकता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका, यूरोपीय आर्थिक समुदाय तथा अन्य औद्योगिक देशों द्वारा स्वैच्छिक निर्यात नियन्त्रण का प्रयोग 1950 के दशक में जापान के साथ सफलतापूर्वक बातचीत करके उसे उन देशों को अपने कपड़े के निर्यातों को घटाने के लिए विवश किया। 1980 के दशक में अमेरिका ने पुनः इस दंग के प्रयोग द्वारा जापान और कुछ अन्य देशों को अपनी इच्छा से अपने मोटरकारों, स्टील, जूतों, टी.वी. वस्त्र और कुछ कृषि वस्तुओं के निर्यात घटाने केक लिए राजी किया।

स्वैच्छिक निर्यात नियन्त्रण कभी–कभी एक से अधिक देशों पर लागू होते हैं इस प्रकार के समझौते का सबसे प्रसिद्ध उदाहरण बहु–रेशा समझौता है जो 22 देशों से कपड़े के निर्यात पर नियन्त्रण लगाता था।

आयातक देश पर स्वैच्छिक निर्यात नियन्त्रण के प्रभाव : चित्र में Dd घरेलू मांग वक्र है तथा Sd घरेलू पूर्तिवक्र है जो दूसरे देश को विश्व कीमत OPW पर भेजी जाती है इस कीमत पर OM घरेलू उत्पादकों द्वारा निर्मित होती है तथा MM_3 आयात की जा रही है। यदि M_1M_2 मात्रा के बराबर किसी निर्यातक देश द्वारा स्वैच्छिक निर्यात

नियन्त्रण अपनाया जाए तो उसके प्रभाव प्रशुल्क अथवा आयात अभ्यंश के बराबर होंगे। VER तथा आयात अभ्यंश के बीच एक भाग अन्तर किराया अथवा अतिरिक्त लाभ है जो निर्यातक देश के पूर्तिकर्त्ताओं को जाता है।

VER के मामले में घरेलू मांग वक्र Dd ही रहता है जबकि पूर्ति वक्र Sd बदलकर Sv हो जाता है। ताकि उच्च कीमत OPv पर सन्तुलन हो सके। VER के साथ पूर्ति वक्र Sd यह दर्शाता है कि OPv कीमत पर, मात्रा OM की पूर्ति आयातक देश द्वारा की जाती है तथा M_1M_2 इसके आयात पर VER है। यह मात्रा आयातक देश को बेचकर निर्यातक देश के पूर्तिकर्त्ता VER से किराया प्राप्त कर लेते हैं यह क्षेत्र चित्र में a+R+b के बराबर है जो आयातक देश की राष्ट्रीय देश की शुद्ध कल्याण हानि है।

आयातक देश की उपभोक्ता अतिरेक की कुल हानि क्षेत्र z+a+R+b है जो प्रशुल्क अथवा आयात अभ्यंश के बराबर है। क्षेत्र z घरेलू उत्पादकों को चला जाता है क्षेत्र Q तथा b वाले दो त्रिभुज कुल राष्ट्रीय हानि है क्षेत्र R उस राजस्व का प्रतीक है जो निर्यातक देश को पूर्तिकर्त्ताओं को VER से मिलता है। VER का आयातक देश में यह प्रभाव पड़ता है कि उसकी व्यापार की शर्तें निर्यातक देश की तुलना में सुधार की बजाय उन्हें और खराब करती हैं। यही नहीं VER पक्षपाती होती है जो आयातक देश का आयात बढ़ा सकते हैं।

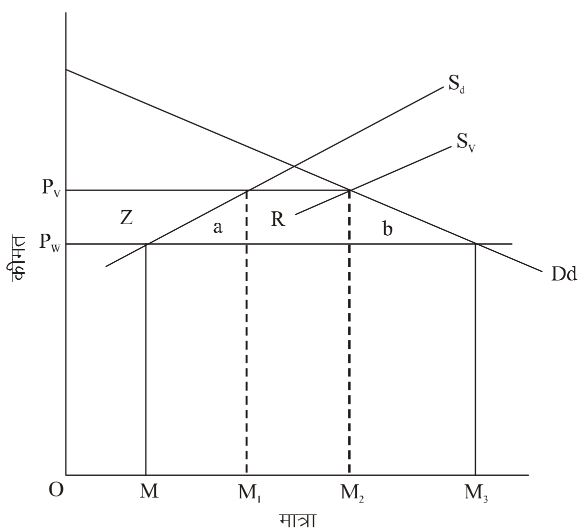

निर्यातक देश पर प्रभाव : VER का निर्यातक देश को लाभ मिलता है तथा उनकी व्यापार की शर्तों में सुधार होता है। निर्यातक देश आयातक देश द्वारा प्रशुल्क अथवा आयात अभ्यंश लागू करवाने के स्थान पर VER को प्राथमिकता देना। चूंकि VER स्थायी नहीं है अत : निर्यातक देश बाद में इनमें छूट दिए जाने अथवा हटा लिये जाने के लिए आयातक देश पर दबाव डाल सकता है।

जब VER निर्यात को रोकती है जो निर्यातकों को पास अधिशेष उत्पादन होता है उसके कारण निर्यात योग्य वस्तुओं की कीमत गिर जाती है और आय में कमी होती है और उत्पादन के साधन अन्य उद्योगों की ओर जाने लगते हैं निर्यातक नए बाजार की खोज तक निर्यात को कम करेंगे VER से निर्यातक देश को कुल मिलाकर आर्थिक हानि का सामना करना पड़ सकता है।

3. निर्यात सब्सिडी

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रभावित करने के लिये विशेष रूप से घरेलू निर्यातों का विस्तार करने के लिये एक महत्वपूर्ण ढंग निर्यात सब्सिडी है। निर्यात सब्सिडी किसी सरकार द्वारा एक निर्यातक को दी जाने वाली आर्थिक सहायता है ताकि निर्यात वस्तुओं की कीमत में कमी की जा सके। इससे किसी फर्म को घरेलू बाजार की बजाय निर्यात बाजार में अपनी वस्तु अधिक मात्रा तथा कम कीमत पर बेचने में आसानी होती है निर्यात सब्सिडी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से दी जा सकती है, प्रत्यक्ष सब्सिडी GATT समझौता के अन्तर्गत प्रतिबन्धित है। अतः सरकारें विभिन्न प्रकार से अप्रत्यक्ष निर्यात सब्सिडी देती है जैसे रियायती दरों पर ऋण, प्रशुल्कों में वापसी, कमी वाले कच्चे माल के आवंटन में उन्हें प्राथमिकता, विदेशी मुद्रा के आवंटन में प्राथमिकता, व्यापार मेले जैसी गतिविधियों को प्रोत्साहित करने हेतु वित्तीय सहायता, बाजार अनुसंधान, विज्ञापन, कर राहत आदि में वित्तीय सहायता आदि।

निर्यात सब्सिडी के प्रभाव अथवा सब्सिडी के कारण संरक्षण की लागत की व्याख्या निम्न चित्र की सहायता से की जा सकती है–

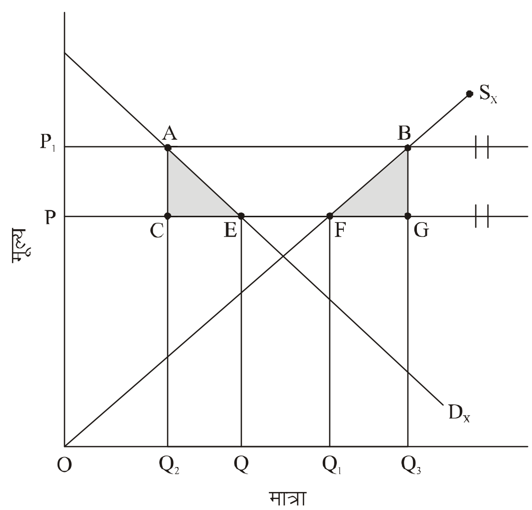

चित्र में Dx निर्यात योग्य वस्तु x का मांग वक्र है तथा Sx निर्यात योग्य वस्तु x का पूर्ति वक्र है। मुक्त व्यापार के अन्तर्गत वस्तु की विश्व कीमत OP है।

इस कीमत OP पर घरेलू पूर्ति OQ_1 है और मांग OQ है। इस प्रकार निर्यात योग्य अधिक्य QQ_1 है। यदि प्रति इकाई PP_1 की सब्सिडी प्रदान की जाती है तो घरेलू उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं के लिये कीमत OP_1 है। हम नई कीमत OP_1 पर मांग एवं पूर्ति की मात्राएं क्रमश : OQ_2 तथा OQ_3 है अब निर्यात योग्य अधिक्य QQ_1 से बढ़कर Q_2 Q_3 हो जाता है। घरेलू कीमत में वृद्धि के कारण उपभोक्ता की बेशी की हानि $PEAP_1$ होती है। उत्पादकों की बेशी में वृद्धि $PFBP_1$ होती है। सब्सिडी की लागत $PP_1XQ_2Q_3$ = AC x AB = ACGB है।

शुद्ध हानि अथवा संरक्षण लागत = उपभोक्ता की बेशी की हानि + सब्सिडी की लागत – उत्पादकों की बेशी में वृद्धि

$$PEAP_1 + ACGB - PFBP_1 = ACE + FBG$$

इस प्रकार निर्यात सब्सिडी के पुनः वितरण प्रभाव निर्यात करने वाले देश में कल्याण में शुद्ध हानि करने के अतिरिक्त अन्य देशों के उत्पादों को विदेशी बाजारों में कुछ हानि की स्थिति में कर देते हैं। जब अन्य देश भी प्रतिकारात्मक कार्यवाही करते हैं तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर गम्भीर प्रतिबन्धात्मक प्रभाव होता है।

4. तकनीकी, प्रशासनिक और अन्य विनियमन

आयातक देश कभी–कभी गैर आर्थिक प्रकृति की तकनीक व्यापार बाधाओं को अंगीकार करके अपने देश में आयात की मात्रा को घटाने का प्रयास करते हैं तकनीकी बाधाएं कई तरह की होती हैं जो आयात को प्रतिबन्धित करती है इन तकनीकी प्रशासनिक विनियमनों में मोटरकारों और कई अन्य प्रकार की मशीनों के लिये सुरक्षा विनियमन, खाद्य उत्पादों के उत्पादन और पैकिंग से सम्बन्धित स्वास्थ्य विनियमन, स्वच्छता विनियमन, औद्योगिक मानक, लेबलिंग एवं पैकेजिंग विनियमन, पेटेंट और कॉपीराइट प्रावधान आदि शामिल हैं। ये विनियमन विदेशी आपूर्तिकर्त्ताओं पर उनके माल का आयात बनाए रखने के लिए अतिरिक्त लागतों का भार डालते हैं। इनमें से कुछ विनियमन निःसन्देह वैध है जबकि कुछ का उद्देश्य आवश्यक रूप से घरेलू उतपादों को विदेशी आयातों से बचाना है।

5. आयात लाइसेंसिंग प्रक्रियाएं

बहुत से देश आयात को प्रतिबन्धित करने के लिए जटिल तथा महंगी आयात लाइसेंसिंग प्रक्रियाओं को अपनाते हैं। आयात लाइसेंस प्रायः ऊँची बोली लगाने वालों को दिए जाते हैं। आयातकर्त्ताओं को आयात लाइसेंस प्राप्त करने के लिए एक भारी धनराशि सरकार के पास जमा करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त आयातकर्त्ताओं को कुछ प्रशासनिक अड़चनों का सामना भी करना पड़ता है। आयातकर्त्ताओं को परमिट प्राप्त करने के लिए लम्बे–लम्बे फार्म भरने पड़ते हैं, कार्यालयों के बार–बार चक्कर लगाने पड़ते हैं तथा सीमा शुल्क विभाग से माल छुड़ाने में भी तरह–तरह की अड़चनों का सामना करना पड़ता है। यह प्रक्रियाएं प्रशुल्क की भाँति आयात में रुकावट उत्पन्न करती हैं।

6. सरकारी वसूली

सरकार अपने विभागों की आवश्यकता की वस्तुओं की पूर्ति घरेलू उत्पादों से करती है चाहे वे विदेशों से अधिक कीमतों पर ही क्यों न मिलें। उदाहरण के लिये अमेरिकी खरीदों अधिनियम के अन्तर्गत अमेरिका के सरकारी विभागों अथवा एजेन्सियों को घरेलू निविदाएं ही स्वीकार करनी होती हैं चाहे वे विदेशी निविदाओं से 12% तक अधिक मूल्य की ही क्यों न हों। रक्षा के सम्बन्ध में यह 50 प्रतिशत अधिक होने पर भी मान्य होता है। इसी प्रकार, जापान सरकार विदेशी निविदाओं पर विचार नहीं करती। विदेशी आपूर्तिकर्त्ताओं की निविदाएं स्वीकार करने अथवा अस्वीकार करने में सरकारें अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग करती हैं। इसका उद्देश्य घरेलू उद्योगों का संरक्षण प्रदान करना होता है। इस तरह सरकारें वांछित वस्तुओं एवं सेवाओं के सन्दर्भ में घरेलू तथा विदेशी आपूर्तिकर्त्ताओं के बीच भेद करती हैं।

7. सीमा शुल्क मूल्यांकन तथा वर्गीकरण

सीमा शुल्क अधिकारी प्रायः आयात का मूल्यांकन वस्तुओं के लिए निर्धारित प्रशुल्क दर से अधिक करते हैं। उदाहरण के लिये अप्रैल 1999 तक अमेरिका में कुछ रसायनों के आयात का मूल्यांकन बीजक पर लिखी कीमत के अनुसार लगाने की बजाय अमेरिका में उत्पादित अमेरिकी रसायनों के थोक मूल्य अथवा जो अधिक हो, के अनुसार लगाते थे। सीमा शुल्क मूल्यांकन का एक अन्य तरीका जान बूझकर माल छोड़ने में देरी करना ताकि आयातित वस्तुओं की लागत बढ़ जाए जैसा कि आयात प्रशुल्क करता है।

इसके अतिरिक्त सीमा शुल्क सूची में बहुत सी वस्तुओं का वर्णन होता है और प्रत्येक वर्ग के लिए प्रशुल्क दर का निर्धारण अलग–अलग होता है। सीमा शुल्क अधिकारी प्रायः वस्तुओ का अपना वर्गीकरण ऊँची दरों पर करके अधिक प्रशुल्क लगाते हैं। ऐसी प्रक्रियाएं आयात को प्रतिबंधित करती हैं, क्योंकि इससे वस्तुएं प्राय : महंगी तथा घरेलू बाजार में गेर–प्रतिस्पर्धात्मक हो जाती हैं। इससे आयातकों में अनिश्चतता उत्पन्न हो जाती है।

प्रतिकारात्मक शुल्क

प्रतिकारात्मक शुल्क एक प्रकार का आयात शुल्क अथवा आयातक देश द्वारा सब्सिडीयुक्त वस्तु की अपेक्षाकृत कम कीमत में वृद्धि हेतु लगाया गया प्रशुल्क है। प्रतिकारात्मक शुल्क के लिये (i) वस्तुओं की पूर्ति लोचदार होती है (ii) निर्यात वस्तु सब्सिडी युक्त होती है (iii) आयातक देशों द्वारा इस वस्तु पर लगाया गया शुल्क निर्यात सब्सिडी के बराबर होता है। प्रतिकारात्मक शुल्क की व्याख्या निम्न चित्र के माध्यम से की जा सकती है। चित्र में Dm आयात मांग वक्र है तथा PwS पूर्ति वक्र है सब्सिडी से पूर्व OPw कीमत पर वस्तु की OM मात्रा का निर्यात तथा आयात तथा आयात किया जाता है

वस्तु को सब्सिडी प्राप्त होने के पश्चात् पूर्ति वक्र PsS_1 तक नीचे सरक जाता है जो सब्सिडी की पूरी राशि के बराबर है। माना कीमत घटकर OPs हो जाने पर मांग में कोई परिवर्तन नहीं होता ऐसी दशा में नया सन्तुलन E_1 पर होगा तथा आयात OM से बढ़कर OM_1 हो जायेगा। इससे विदेशी उपभोक्ताओं को लाभ के रूप में F+G उपभोक्ता की बचत होगी। निर्यातक देश की सब्सिडी की लागत F+G+H क्षेत्र है चूंकि उत्पादक अतिरेक में लाभ F+G है अत : निर्यात सब्सिडी से हानि त्रिभुज H है।

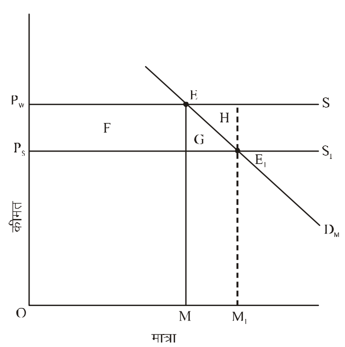

यद्यपि सब्सिडी विदेशी उपभोक्ताओं को लाभ पहुंचाती है फिर भी आयातकर्त्ता देश को क्षेत्र H के बराबर उसकी कीमत कम होने के कारण इन वस्तु के उत्पादन में हानि

होगी। इसकी क्षतिपूर्ति के लिए वह निर्यात सब्सिडी के बराबर प्रतिकारात्मक शुल्क लगा देता है फलस्वरूप वस्तु की कीमत OPs से बढ़कर OPw हो जाती है अर्थात् वह सब्सिडी पूर्व स्तर पर वापस चली जाती है इस प्रकार सारी उपभोक्ता बचत आयातक देश में समाप्त हो जाती है परन्तु सरकार F क्षेत्र के बराबर शुल्क से राजस्व प्राप्त करती है, जिससे उपभोक्ताओं की बचत कुछ हद तक क्षतिपूर्ति हो जाती है दूसरी ओर शुल्क द्वारा निर्यातक देश का निर्यात घट जाता है परन्तु सरकार निर्यात सब्सिडी के रूप में G+H क्षेत्र बचा लेती है।

8. अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल

गैर–प्रशुल्क बाधाओं का एक स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल में भी निहित है। अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में एकाधिकारी की स्थिति बनाए रखने में सफल हो जाता है, जिसका मुख्य उद्देश्य परस्पर लाभ के लिए वस्तुओं की कीमतों पर नियन्त्रण रखना होता है, OPEC इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

9. राजकीय व्यापार

राजकीय व्यापार से तात्पर्य उस व्यवस्था से है जिसमें वस्तुओं के आयात निर्यात का समस्त दायित्व सरकार द्वारा नियन्त्रित संस्था पर छोड़ दिया जाता है। राजकीय व्यापार का उद्देश्य होता है कि दुर्लभ विदेशी विनियम का उपयोग विदेशों से केवल अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं आवश्यक वस्तुओं के आयात हेतु किया जाए। इसके अतिरिक्त घरेलू उद्योगों को विदेशी प्रतिस्पर्धा से बचाने के लिए भी यह उपयुक्त समझा जाता है कि आयात व निर्यात पर राज्य का नियन्त्रण रहे।

10. राशिपातन

राशिपातन के सम्बन्ध में व्यापक धारणा यह है उत्पाद को विदेशी बाजार में लागत से कम कीमत पर बेचा जाता है परन्तु राशि पातन की यह धारणा दोषपूर्ण है हैबरलर के शब्दों में राशिपातन एक ही वस्तु का, एक ही समय पर और एक ही परिस्थिति में, परिवहन लागतों के अन्तरों को ध्यान में रखते हुए, विदेशी बाजार में घरेलू बाजार की तुलना में कम कीमत पर बिक्री करना है।"

राशिपातन की आवश्यक विशेषता दो बाजारों में कीमत विभेद है। कीमत विभेद और राशि–पातन घरेलू बाजार और विदेशी बाजार में होता है। यह घरेलू बाजार के दो क्षेत्रों अथवा दो विदेशी बाजारों में हो सकता है। राशिपातन स्थायी, लुटेरा और आकस्मिक हो जाता है।

स्थायी राशिपातन तब होता है जब घरेलू एकाधिकारी अधिकतम लाभ कमाने के उद्देश्य से अपने उत्पाद को विदेशी बाजार की अपेक्षा घरेलू बाजार में ऊँची कीमत पर बेचता है। स्थायी राशि पातन तब पाया जाता है जब घरेलू बाजार में वस्तु की मांग लोचहीन तथा विदेशी बाजार में मांग अधिक लोचपूर्ण है। लुटेरा राशि पातन वह है जिसमें प्रतियोगियों को विदेशी बाजार से खदेड़ने के लिये वस्तु काके अस्थायी तौर पर विदेशी बाजार में लागत से कम कीमत पर बेचा जाता है। आकस्मिक राशिपातन में मालसूचियों के आधिक्य को जिन्हें घरेलू बाजार में नहीं बेचा जा सकता, से छुटकारा पाने के लिए विदेशी बाजार में घरेलू बाजार की अपेक्षा कम कीमत पर बेचा जाता है।

टिप्पणी

राशिपातन तभी सफल हो सकता है जब उत्पादक घरेलू बाजार में एकाधिकारी हो तथा विदेशी बाजार में बेची गई सस्ती वस्तुओं की घरेलू बाजार में आने की कोई सम्भावना न हो।

अभ्यंश व प्रशुल्क नीतियों का तुलनात्मक अध्ययन

	अभ्यंश		प्रशुल्क
1.	अभ्यंश कठोर व लोचहीन होते हैं और आयातों को कठोरता से सीमित करते हैं।	1.	प्रशुल्क प्रणाली लोचपूर्ण होती है। इनका आयात तथा प्रतिबंधात्मक प्रभाव लचीला होता है।
2.	इनका प्रभाव पूर्ण संरक्षणात्मक होता है।	2.	इनका प्रभाव पूर्ण संरक्षणात्मक नहीं होता।
3.	लाइसेंस प्रदान करने में भेदभाव बरता जाता है। लाइसेंस प्रायः पुरानी फर्मों को ही दिए जाते हैं।	3.	विदेशी प्रतियोगिता में घरेलू उत्पादकों को संरक्षण मिलता है और इसमें भेदभाव नहीं बरता जाता।
4.	अभ्यंश प्रणाली के कीमत प्रभाव अनिश्चित तथा अस्पष्ट होते हैं, जबकि आयात प्रतिबंध प्रभाव निश्चित व तुरंत होते हैं।	4.	प्रशुल्क के कीमत प्रभाव स्पष्ट होते हैं किंतु आयात प्रतिबंध संबंधी प्रभाव अनिश्चित होते हैं।
5.	आयात की मात्रा निश्चित होने के कारण शक्तियों पर नियंत्रण लग जाता है।	5.	प्रशुल्क चुकाने के बाद मांग व पूर्ति की शक्तियां स्वतंत्र रूप से कार्यशील रहती हैं।
6.	केवल लाइसेंस शुल्क के रूप में ही राजस्व प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त इसके राजस्व प्रभाव नहीं होते।	6.	प्रशुल्क के कारण वस्तु की कीमत में वृद्धि होती है और इसका एक भाग सरकारी राजस्व में आता है। अतः प्रशुल्क के राजस्व प्रभाव होते हैं।
7.	वस्तु की घरेलू कीमतों में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि होती है क्योंकि इसमें आयात की मात्रा निश्चित रहती है और मांग के अनुसार कीमत बढ़ जाती है।	7.	वस्तु की घरेलू कीमतों में लगभग प्रशुल्क के बराबर वृद्धि होती है।
8.	अभ्यंश लाइसेंस के कारण एकाधिकारिक प्रवृत्तियां पनपती हैं।	8.	एकाधिकारिक प्रवृत्तियां नहीं पनपती।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आयात प्रतिबंध के एक उपाय के रूप में अभ्यंश–प्रणाली की अपेक्षा प्रशुल्क–प्रणाली अधिक–अच्छी है।

अपनी प्रगति जांचिए

3. एक अनुकूलतम प्रशुल्क/तटकर लगाने वाले देश की–
   (क) व्यापार की शर्तों में सुधार होता है
   (ख) व्यापार की शर्तें स्थिर रहती है
   (ग) व्यापार की शर्तें न्यून रहती हैं
   (घ) देश का कल्याण स्तर घटता है
4. सरकार घरेलू उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने के लिए निम्न में से किस उपाय का सहारा लेती है?
   (क) व्यापार संतुलन (ख) अवमूल्यन
   (ग) आयात अभ्यंश (घ) अनुदान

4.4 विश्व व्यापार संगठन (WTO) उद्देश्य और कार्य

विश्व व्यापार संगठन गैट का उत्तराधिकारी है। गैट एक मंच था जहां सदस्य देश समय समय पर एकत्रित होकर विश्व व्यापार की समस्याओं पर वार्तालाप करते हैं तथा उन्हें सुलझाते हैं लेकिन विश्व व्यापार संगठन एक सुव्यवस्थित और स्थायी विश्व व्यापार संस्था है। इसकी एक कानूनी स्थिति है, और यह विश्व बैंक तथा अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के समकक्ष ही स्थान रखता है। इसकी स्थापना 1 जनवरी 1995 में हुई, तब विश्व व्यापार संगठन के 77 सदस्य थे जिनकी संख्या बढ़कर अब 164 हो गयी है। भारत विश्व व्यापार संगठन के संस्थापक देशों में से एक है विश्व व्यापार संगठन में वस्तुओं तथा सेवाओं का व्यापार ही नहीं होता वरन इसमें बौद्धिक संपत्ति अधिकार के व्यापार संबंधी विषय तथा कई और समझौते भी होते हैं। यह किसी भी बहुपक्षीय समझौते के अंतर्गत सभी मामलों पर निर्णय लेता है।

विश्व व्यापार संगठन की संरचना

विश्व व्यापार संगठन का संचालन मंत्रियों के एक सम्मेलन द्वारा होता है, जिसमें सभी सदस्य देशों के प्रतिनिधि होते हैं जो कम से कम 2 वर्ष में एक बार अवश्य मिलते हैं। इनकी बैठक हर 2 वर्ष के अंतराल पर बुलायी जाती है।

मंत्रिय सम्मेलन विश्व व्यापार संगठन की शीर्षस्थ अधिकारिणी समिति है जो सभी सदस्यों के प्रतिनिधियों वाली सामान्य काउंसिल की कार्यप्रणाली पर और मंत्री निर्णयों पर नियमित रूप से दृष्टि रखती है। यह झगड़ा निपटान संस्था और व्यापार नीति पुनरावलोकन संस्था के रूप में भी कार्य करती है जिनके अपने अलग-अलग अध्यक्ष हैं। सामान्य काउंसिल परिषद के अधीन ये तीन अन्य काउंसिल परिषद भी होती हैं-

(क) विश्व व्यापार परिषद

(ख) सेवा व्यापार परिषद

(ग) व्यापार संबंध बौद्धिक संपदा की काउंसिल

इन काउंसिलों की अपनी संस्थाएं होती हैं। ये काउंसिल समय-समय पर आवश्यकतानुसार अपनी बैठकें करती रहती हैं। इसके अतिरिक्त व्यापार और विकास समिति, भुगतान शेष रुकावटों की समिति तथा बजट, वित्त प्रशासन समिति भी हैं, जो विश्व व्यापार संगठन समझौते द्वारा प्रदत्त कार्य, बहुपक्षीय व्यापार समझौता तथा सामान्य काउंसिल में बताए हुए कार्य करती है। विश्व व्यापार संगठन सचिवालय के शीर्ष पर डायरेक्टर जनरल होता है। मंत्रिय सम्मेलन डायरेक्टर जनरल का चयन करता है। उसके अधिकार कर्तव्य, सेवा की शर्तें व पद की शर्तें मंत्रियों का सम्मेलन ही निर्धारित करता है। डायरेक्टर जनरल का कार्यकाल चार वर्ष का होता है। उसके विभिन्न देशों से चुने हुए चार सहायक होते हैं।

डायरेक्टर जनरल, कार्यालय के कर्मियों की नियुक्ति करता है और उनके कार्यों तथा सेवा के नियमों का निर्धारण करता है जो मंत्रिय सम्मेलन द्वारा निश्चित नियमनों के अंतर्गत ही होते हैं।

डायरेक्टर जनरल बजट, वित्त और प्रशासन समिति को वार्षिक बजट के अनुमान और वित्तीय विवरण देता है और सामान्य काउंसिल की अंतिम स्वीकृति के लिए

सिफारिश करता है। सामान्य काउंसिल दो तिहाई बहुमत से, जिसमें आधे से अधिक विश्व व्यापार संगठन के सदस्य हो, वार्षिक बजट के अनुमान और वित्तीय विवरण को पारित करती है। अंशदान का अनुपात तथा बजट संबंधी वित्तीय नियमन गैट नियमों पर ही आधारित होते हैं।

विश्व व्यापार संगठन एक मत द्वारा निर्णय पद्धति का अनुसरण करता है जिसे गैट द्वारा सन् 1947 निर्धारित किया गया था। जब एक मत द्वारा निर्णय संभव नहीं होता है तो विचाराधीन प्रश्न का हल 'एक देश एक वोट' के आधार पर 2/3 बहुमत द्वारा किया जाता है, लेकिन समझौते के प्रावधानों की व्याख्या में मतभेद और किसी सदस्य देश के दायित्वों मे छूट की दशा में सदस्यों का बहुमत 3/4 होता है। सामान्य नियमों में संशोधन केवल सदस्यों की सर्वसम्मति से ही किया जा सकता है।

विश्व व्यापार संगठन के उद्देश्य

विश्व व्यापार संगठन के निम्नलिखित उद्देश्य हैं–

1. वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन एवं व्यापार को बढ़ावा देना।
2. पूर्ण रोजगार एवं प्रभावपूर्ण मांग में बृहत् स्तरीय, परंतु ठोस वृद्धि करना।
3. विश्व के संसाधनों का अनुकूलतम उपयोग करना।
4. सतत् विकास की अवधारणा को स्वीकार करना।
5. पर्यावरण का संरक्षण एवं उसकी सुरक्षा करना।
6. जीवन स्तर में वृद्धि करना।
7. व्यापारिक नीतियों, पर्यावरण संबंधी नीतियों और सतत् विकास में संबंध स्थापित करना।

विश्व व्यापार संगठन के कार्य

विश्व व्यापार संगठन निम्नलिखित कार्यों को करता है–

1. यह विश्व व्यापार समझौता एवं बहुपक्षीय समझौता का कार्यान्वयन, प्रकाशन एवं परिचालन की सुविधाएं उपलब्ध कराता है।
2. व्यापार एवं प्रशुल्क संबंधी किसी भी भावी मसले पर सदस्य देशों के बीच विचार विमर्श हेतु एक मंच के रूप में कार्य करता है।
3. विवादों के निपटारों से संबंधित नियमों एवं प्रक्रियाओं को प्रशासित एवं संचालित करता है।
4. व्यापार नीति समीक्षा प्रक्रिया से संबंधित नियमों एवं प्रावधानों को लागू करता है।
5. वैश्विक आर्थिक नीति निर्माण में अधिक सांमजस्य स्थापित करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं विश्व बैंक से सहयोग करता है।

विश्व व्यापार संगठन के समझौते

विश्व व्यापार संगठन समझौता दौर की वार्ताओं के परिव्ययों पर आधारित है विश्व व्यापार संगठन समझौते में निम्नलिखित को शामिल किया गया है–

1. कृषि से संबंधित समझौते
2. वस्तुओं में व्यापार के बहुपक्षीय समझौते
3. सेवाओं में व्यापार का सामान्य समझौता
4. बौद्धिक संपत्ति अधिकारों का व्यापार संबंधी समझौता
5. बहुपक्षीय व्यापार समझौते
6. व्यापार नीति पुनरावलोकन तंत्र
7. कपड़ा और वस्त्रों का समझौता
8. व्यापार में तकनीकी बाधाओं का समझौता
9. व्यापार संबंधी निवेश उपायों के पहलुओं का समझौता
10. प्रति-राशिपातन पर समझौता

1. कृषि से संबंधित समझौते– कृषि को गैट के आठवें दौर की वार्ता में प्रथम बार शामिल किया गया। विश्व व्यापार संगठन का कृषि से संबंधित समझौता घरेलू सब्सिडी, निर्यात सब्सिडी, न्यूनतम बाजार घरेलू सहायता, स्वास्थ्य, वनस्पति तथा खाद्य सहायक कार्यों से संबद्ध है। यह समझौता, गैर-टैरिफ उपायों के स्थान पर साधारण कस्टम ड्यूटी लगाकर जो धीरे-धीरे कम की जाएगी घरेलू बाजार को अंतर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता के लिए खोलता है तथा यह सरकारी सहायता को धीरे-धीरे कम करके अति उत्पादन को धीरे-धीरे नियंत्रित करने का प्रयास करता है और परिणामस्वरूप अतिरेकों का जो या तो निर्यात सब्सिडी द्वारा बेचे जाते हैं अथवा नष्ट किए जाते हैं। यह नई नियमावलियों के अनुसार सब्सिडी तथा सब्सिडी प्राप्त निर्यातों की मात्रा को कम करने के प्रयत्नों को प्रेरित करता है।

(अ) अनुदान की समाप्ति– कृषि से संबंधित समझौते में कृषि क्षेत्र में दिए जाने वाले अनुदान की समाप्ति की बात रखी गयी क्योंकि अनुदान के कारण कृषि उत्पादों की कीमतों और अंतर्राष्ट्रीय कीमतों में कमी आती है। यह सब्सिडी दो प्रकार की होती है- उपादानों से संबंधित अनुदान- इसके अंतर्गत बीज, खाद, उर्वरक, सिंचाई तथा कृषि ऋण आदि पर दिए जाने वाले अनुदान शामिल होते हैं। उत्पादन से संबंधित अनुदान- इस प्रकार के अनुदान कुछ विशेष प्रकार की फसलों के उत्पादन के लिए दिए जाते हैं।

(ब) निर्यात अनुदान– विश्व व्यापार संगठन के सदस्यों के लिए आवश्यक है कि वे 6 वर्ष के कार्यकाल में प्रत्यक्ष निर्यात अनुदान का मूल्य कम करके 1986-90 की आधार अवधि स्तर के नीचे 36 प्रतिशत पर ले जाएं और सब्सिडी प्राप्त निर्यात की मात्रा को उसी अवधि में 21 प्रतिशत के स्तर पर ले जाएं। विकासशील देशों में यह कटौती 10 वर्ष के कार्यकाल में की जानी चाहिए।

(स) न्यूनतम मार्किट प्रवेश वचनबद्धता– न्यूनतम मार्किट प्रवेश वचनबद्धता उन्हीं देशों पर लागू होती है जो कृषि संबंधी आयातों में भिन्न प्रकार की रुकावटों का प्रयोग करते हैं। इन रुकावटों को टैरिफ रूप देने व इन टैरिफों

को 6 वर्षों में कम करने को बाध्य है। इन देशों के लिए आवश्यक है कि वे विदेशी कृषि उत्पादों की खपत को न्यूनतम मार्किट प्रवेश सुविधा दे।

(द) घरेलू सहायता– ऐसी घरेलू सहायता जिनका व्यापार पर न्यूनतम प्रभाव पड़ता है तथा जिन्हें ग्रीन बॉक्स नीतियां भी कहते हैं, में कोई कटौती लागू नहीं होगी। इन नीतियों में सरकारी सेवाएं-अनुसंधान, रोग नियंत्रण, बुनियादी ढांचा, खाद्य सुरक्षा शामिल है। इसमें उत्पादकों को आय सहायता, संरचनात्मक समायोजन सहायता व क्षेत्रीय सहायता प्रोग्रामों के अंतर्गत सहायता के रूप में सीधे भुगतान भी शामिल होते हैं।

(य) स्वास्थ्य और पशु स्वास्थ्य के उपाय– समझौता स्वीकृत करता है कि विभिन्न देशों की सरकारों को पूर्ण अधिकार है कि वे मनुष्य, पशु व वनस्पति के जीवन स्वास्थ्य की रक्षा के लिए उचित उपाय करें।

(र) खाद्य भंडारण और खाद्य सहायता– समझौते में विकासशील देशों में कृषि विकास के लिए खाद्य सहायता और मूल खाद्यान्नों में पूर्ण अनुदान और सहायता के लक्ष्य रखे हैं। कृषि समझौते के प्रावधानों के कार्यान्वयन के पुनरावलोकन के लिए एक कृषि समिति भी बनाई गयी है।

2. वस्तुओं में व्यापार के बहुपक्षीय समझौते– वस्तुओं में व्यापार का सामान्य समझौता गैट 1994 को परिभाषित करता है। इसमें वस्तुओं के व्यापार संबंधी विभिन्न पहलुओं के बारे में सभी समझौते शामिल हैं। अनुच्छेद 11(1) कानूनी अधिकारों और अनुबंधों में तथा किन्हीं अन्य शुल्कों एवं प्रभारों के प्रकार स्तर जो रियायतों की मदों, वर्णित बंधित टैरिफ वाली वस्तुओं पर 15 अप्रैल 1995 से लागू है, में पारदर्शिता लाना। गैट को अनुच्छेद XVII के अनुसार सदस्य देशों के लिए आवश्यक है कि वे ऐसी संस्थाओं की सूचना वस्तओं के व्यापार की समिति को दे ताकि कार्य प्रणाली में पारदर्शिता सूचित हो सके जिनका कार्यकारी दल वर्ष में कम से कम एक बार उनके कार्यों का पुनरावलोकन करके काउंसिल को सूचित करे।

गैट के भुगतान शेष के प्रावधानों पर समझौता– जो सदस्य भुगतान शेष के लिए रुकावटें डालते हैं वे उन्हें न्यूनतम विघटनकारी ढंग से करे, वे कीमत आधारित उपायों को ही प्राथमिकता दे; जैसे आयात अधिभार, आयात जमा आदि। परिमाणात्मक रुकावटों से दूर ही रहें, सार्वजनिक रूप से सारणियों की घोषणाएं करें ताकि भुगतान शेष संबंधी आयात विरोधी रुकावटों को दूर किया जा सके।

गैट 1994 अनुच्छेद XXVIII कस्टम संघों और मुफ्त व्यापार क्षेत्रों का समझौता, मापदंड और कार्य विधियां निश्चित करता है जिसके द्वारा वह मुफ्त व्यापार क्षेत्रों तथा नये अथवा वर्धित कस्टम संघों का पुनरावलोकन करता है। यदि अनुबंधित सदस्य बंधित टैरिफ के लिए कस्टम संघ बनाना चाहे तो ऐसा समझौता आवश्यक क्षतिपूरक समायोजन को भी स्पष्ट करता है।

अनुच्छेद XXVIII गैट की सारणियों के संशोधन से संबंधित है। जब टैरिफ के बंधनों में परिवर्तन हो या वे हटा दिया जाएं तो क्षतिपूर्ति की वार्ताओं की प्रणाली इसके द्वारा निर्धारित होती है।

3. सेवाओं में व्यापार का सामान्य समझौता– इन समझौतों के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय व्यापार योग्य सभी सेवाएं आती हैं। इन समझौते के अनुसार विदेशी सेवाएं और सेवा प्रदाता, घरेलू सेवाएं एवं सेवा प्रदाताओं को बराबर समझा जाएगा। समझौते के आधार पर सेवाओं के व्यापार संबंधी कानून नियमनों का प्रकाशन हो ताकि पारदर्शिता को बल मिल सके और सेवाओं के व्यापार संबंधी अंतर्राष्ट्रीय भुगतानों और हस्तांतरण में रुकावटें डाली जाएगी। सेवाओं में व्यापार का उदारीकरण उत्तरोत्तर होगा। सेवाओं के व्यापार में प्रतिकूल प्रभावों की कटौती अथवा नितांत समाप्ति तथा सरकारों की विशिष्ट वचन बद्धताओं के सामान्य स्तर को ऊंचा रखना ये सब प्रति 5 वर्ष के अंतराल पर वार्ताओं द्वारा किया जाएगा। वित्तीय सेवाओं के संबंध में यह देशों की सरकारों को अधि कार देता है कि निवेश को जमाकर्ताओं तथा पॉलिसी धारकों के लिए उचित उपाय करे तथा आर्थिक प्रणाली की स्थिरता एवं अखंडता को सुनिश्चित करे।

दूरसंचार के क्षेत्र में यह देशों को निर्देश देता है कि वे दूरसंचार वहन तंत्रों की स्थापना, निर्माण, अधिग्रहण पटटे पर देना, संचालन या पूर्ति सुनिश्चित करें। विकासशील देश अपने घरेलू दूरसंचार ढांचे व सेवाओं की तथा सेवा सीमाओं की पुष्टता अंतर्राष्ट्रीय दूरसंचार संघ तथा अंतर्राष्ट्रीय मानकीकरण संगठन के सहयोग से दूरसंचार सेवाओं के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में सहयोग प्रदान करें। यह नियम विमानों की मरम्मत और रख-रखाव, कम्प्यूटर आरक्षण सेवाओं पर भी लागू होता है।

व्यावसायिक सेवाओं के क्षेत्र में देशों की सरकारें संचालन दलों की नियुक्ति के लिए भी तत्पर है जो सेवाओं में व्यापार और पर्यावरण के बीच संबंधों का परीक्षण रिपोर्ट और संस्तुति आदि करेंगे जिसमें दीर्घकालिक विकास भी शामिल है।

4. बौद्धिक संपत्ति अधिकारों का व्यापार संबंधी समझौता– बौद्धिक संपदा का अर्थ किसी डिजाइन, प्रौद्योगिकी एवं वस्तु का किसी व्यक्ति द्वारा या किसी निगम अथवा कंपनी द्वारा आविष्कार करना है और अधिकार का अर्थ है आविष्कार का किसी अन्य के द्वारा प्रयोग किए जाने पर आविष्कारक से स्वीकृति प्राप्त करना तथा आविष्कारक को प्रतिफल देने की वैधानिक व्यवस्था करना। विश्व व्यापार संगठन का यह समझौता बौद्धिक संपदा के अधिकारों के सरंक्षण से संबंधित है। इस समझौते के अंतर्गत 7 प्रकार की बौद्धिक संपत्ति आती है–

(i) **कॉपीराइट और संबंधित अधिकार–** कॉपीराइट और संबंधित अधिकार में साहित्यिक और कलात्मक रचनाओं को संरक्षण दिया जाता है। इसमें कम्प्यूटर प्रोग्राम भी शामिल है। यह सरंक्षण ध्वनि रिकॉर्डिंग के निर्माताओं और अभिनय कर्ताओं के लिए कम से कम 50 वर्षों तथा प्रसारण संस्थाओं के लिए कम से कम 20 वर्षों के लिए दिया जाता है।

(ii) **ट्रेडमार्क (चिह्न)–** कोई चिह्न या चिह्नों के समूह जो किसी संस्थान के पदार्थों अथवा सेवाओं में दूसरे संस्थाओं के पदार्थों अथवा सेवाओं से भिन्नता को बताते हैं ट्रेड मार्क कहलाता है। किसी ट्रेडमार्क के नवीनीकरण की अवधि 7 वर्ष से कम नहीं होती है। ट्रेडमार्क का रजिस्ट्रेशन अनिश्चित काल तक बढ़ाया जा सकता है।

(iii) **भौगोलिक संकेत–** किसी सदस्य के क्षेत्र में उत्पादित वस्तु की पहचान, उस क्षेत्र अथवा स्थान जिसमें उसके भौगोलिक उत्पादन की गुणवता/प्रसिद्धि है, उसका भौगोलिक संकेत करता है।

(iv) **औद्योगिक डिजाइन–** औद्योगिक डिजाइन का तात्पर्य सृजनात्मक क्रियाकलाप से है जिसके परिणामस्वरूप उत्पाद की सजावट या औपचारिक प्रकटन होता है। औद्योगिक डिजाइनों का संरक्षण 10 वर्षों की अवधि के लिए होता है।

(v) **पेटेंट–** पेटेंट, प्रौद्योगिकी के सब क्षेत्रों में किसी भी आविष्कार पर हो सकता है चाहे वह किसी वस्तु का हो अथवा किसी प्रक्रिया का। समझौते के अनुसार पेटेंट संरक्षण 20 वर्ष के लिए आवश्यक होगा।

(vi) **संघटित सर्किट–** समझौते में संघटित सर्किटों के खाका डिजाइनों को 10 वर्षों की अवधि के लिए संरक्षण का प्रावधान है। खाका डिजाइन बनाने के समय से 15 वर्ष बाद संरक्षण समाप्त हो जाएगा।

(vii) **व्यापारिक रहस्य–** वाणिज्य मूल्य वाले व्यापारिक रहस्य तथा जानकारियों का विश्वासघातकर्ता तथा अन्य कुकार्यो से संरक्षण किया जाएगा। औषधियों तथा कृषि रसायनों की व्यापारिक स्वीकृति के लिए भेजे गए परीक्षण फलों को अनैतिक प्रयोग से संरक्षित किया जाएगा।

5. बहुपक्षीय व्यापार समझौते– बहुपक्षीय व्यापार समझौते में नागरिक विमानन व्यापार, समझौता, सरकारी खरीद का समझौता, अंतर्राष्ट्रीय दुग्धोत्पादन समझौता तथा अंतर्राष्ट्रीय गोमांस समझौता शामिल हैं। इसमें पहला समझौता अप्रैल 1979 में जेनेवा में हुआ। बाद में इसमें संशोधन करके इसे परिमार्जित किया गया। अंतिम तीन समझौते 15 अप्रैल 1994 में मोरक्कों में हुए।

6. व्यापार नीति पुनरावलोकन तंत्र– यह बहुपक्षीय व्यापार तंत्र को सुचारु रूप से चलाने के लिए बहुपक्षीय व्यापार समझौतों के अंतर्गत व्यापार नीतियों और प्रक्रियाओं का पुनरावलोकन करता है। इस उद्देश्य के लिए यह व्यापार नीति पुनरावलोकन संस्था की स्थापना का संकेत करता है। पूर्ण पारदर्शिता प्राप्त करने के लिए यह प्रत्येक सदस्य को अपने द्वारा जारी व्यापार नीतियों और प्रक्रियाओं की रिपोर्ट देता है। व्यापार नीति पुनरावलोकन संस्था बहुपक्षीय व्यापार तंत्र पर प्रभावपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के वातावरण में वर्तमान प्रवृत्तियों का वार्षिक अति निरीक्षण करता है।

डायरेक्टर जनरल द्वारा समर्पित वार्षिक रिपोर्ट इस अति-निरीक्षण में सहायक होती है जो विश्व व्यापार संगठन के मुख्य कार्यों की व्याख्या करती है और बहुपक्षीय व्यापार तंत्र पर प्रभाव डालने वाले नीति विषयों पर विशेष प्रकाश डालती है।

7. कपड़ा और वस्त्रों का समझौता– इस समझौते में गैट 1994 का उद्देश्य कपड़ा और वस्त्र क्षेत्रों का एकीकरण करना है यह एकीकरण चार चरणों में होगा।

प्रथम चरण 1 जनवरी 1995 को प्रत्येक सदस्य देश द्वारा इस समझौते की विशेष सूची में गैर उत्पादों को शामिल किया गया। जो 1990 में उसके आयात की कुल सम्मिलित मात्रा का कम से कम 16 प्रतिशत था।

द्वितीय चरण में 1 जनवरी 1998 से वे उत्पाद शामिल हुए जो 1990 के आयात से 17 प्रतिशत से कम नहीं थे।

तृतीय चरण में 1 जनवरी 2002 से वे उत्पाद शामिल होंगे जो 1990 के आयात से 18 प्रतिशत से कम न थे।

चतुर्थ चरण में 1 जनवरी 2005 को संक्रमणकाल की समाप्ति पर शेष सभी उत्पाद इसमें शामिल होंगे। इसके अंतर्गत अधोवस्त्र, सूत, कपड़ा, सिले हुए वस्त्रों पर गैट के साधारण नियम संचालित होंगे। बहुतंत्रीय समझौते 31 दिसंबर 1994 की स्वीकृत रुकावटे नए समझौते में शामिल कर ली गयी हैं और यह उस समय तक रहेंगी जब तक या तो रुकावटें हटा ली जाए अथवा गैट में शामिल कर ली जाए। कुछ सदस्यों द्वारा लगाई गयी गैर-बहुतंत्रीय रुकावटें भी समझौते के लागू होने के एक वर्ष के भीतर गैट 1994 में शामिल कर ली गयी या 2005 तक धीरे-2 समाप्त कर दी गई।

जो उत्पाद गैट 1994 में किसी रूप में शामिल नहीं हुए उनके लिए विशेष संक्रामक सुरक्षा तंत्र का प्रावधान है इसमें आयातकर्ता देश को यदि यह ज्ञात हो जाए कि कोई उत्पाद इतनी अधिक मात्रा में आयात हुआ है कि उससे उसके घरेलू उद्योग पर गंभीर क्षति पहुंची है तो निर्यातकर्ता देश पर कार्यवाही की जाती है। एकीकरण की प्रक्रिया में भाग स्वरूप सभी सदस्य देश कपड़ा और वस्त्र के क्षेत्र में गैट के अनुरूप कार्य करेंगे जिससे मार्किट प्रवेश में सुधार हो तथा न्यायोचित व्यापार नीतियों का पालन हो और आयात विरोधी मतभेद उत्पन्न न हो ।

8. व्यापार में तकनीकी बाधाओं का समझौता– यह समझौता टोकियो दौर के स्वीकृत व्यापार में तकनीकी बाधाओं के समझौते का विस्तारण और स्पष्टीकरण है। यह व्यापार यह सुनिश्चित करने की चेष्टा करता है कि तकनीकी विमर्श और मानक परीक्षण और प्रमाणन प्रणालियां व्यापार के मार्ग में अनावश्यक रुकावट न बनें। तथापि यह भी स्वीकार करता है कि देशों में मानवीय, पशु या वनस्पतीय स्वास्थ्य तथा पर्यावरण की रक्षा का अधिकार है। समझौते का मानकीकरण संस्थाओं द्वारा मानकों की संरचना स्वीकृति और उपयोग की संहिता सम्मिलित है।

9. व्यापार संबंधी निवेश उपायों के पहलुओं का समझौता– यह 5 वर्ष में सभी व्यापार संबंधी निवेश उपायों को हटाने का निर्देश देता है। यह उपाय मात्रात्मक रुकावटें और राष्ट्रीय व्यवहार तक ही सीमित है। वस्तुत: यह जिन उपायों पर लागू होता है वे हैं– चुने हुए क्षेत्रों में निवेश, विदेशी कंपनियों को राष्ट्रीय कंपनियों के बराबर रखने के लिए विदेशी निवेश का स्तर, निर्यात दायित्व और कच्चे माल का घरेलू उपयोग। यह विदेशी विनिमय के अर्जनों, विदेशी इक्विटी हिस्सेदारी और तकनीकी स्थानांतरण से संबद्ध विदेशी निवेशकों पर कोई शर्त लगाने का निषेध करता है। यह आदेश देता है कि विदेशी निवेश कंपनियों को घरेलू कंपनियों के बराबर ही रखा जाए। यह निवेश के क्षेत्र में रुकावटें लगाने को रोकता है। यह कच्चे माल, कलपूर्जो और मध्यवर्ती के मुक्त आयात की अपेक्षा करता है।

यह समझौता स्वीकार करता है कि कुछ निवेश उपाय व्यापार में रुकावट डालते हैं और उसे विकृत कर देते हैं इसलिए यह अपेक्षा रखता है कि विकसित देश 2 वर्ष में, विकासशील देश 5 वर्ष में और न्यूनतम विकसित देश 7 वर्ष में सब गैर-अनुरूप

व्यापार संबंधी निवेश उपायों को अनिवार्य रूप से सूचित करेंगे और उन्हें समाप्त कर देंगे इसने व्यापार संबंधी निवेश उपायों पर एक समिति का गठन किया है जो इन वचनबद्धताओं के पालन को मॉनीटर करेगी और इसकी रिपोर्ट वस्तुओं में व्यापार की काउंसिल को प्रतिवर्ष देगी।

10. **प्रति-राशिपातन पर समझौता–** गैट के अनुच्छेद-VI के अनुसार यदि राशिपातन आयात, आयातकर्ता देश के घरेलू उद्योग को हानि पहुंचाता है तो अनुबंधित सदस्य को अधिकार है कि वे राशिपातन विरोधी उपायों को अपनाएं। संशोधित समझौता टोकियो दौर के समझौते का परिवर्धित रूप है। यह राशिपातन आयात से घरेलू उद्योग की क्षति का मूल्यांकन, राशिपातन विरोधी छानबीन प्रारंभ करने और उसे कार्यरूप देने, घरेलू अधिकारियों द्वारा की गई राशिपातन के झगड़े निपटाने की कार्यवाही करने की प्रक्रिया में अधिक स्पष्टता,अधिक विस्तृत नियम और मापदंड निर्धारित करता है। नए नियमों के अंतर्गत राशिपातन विरोधी छानबीन तुरंत बंद कर दी जाएगी यदि डंपिंग की सीमा निर्यात कीमत 2 प्रतिशत से कम है या किसी विशेष देश से डंप किए आयात की मात्रा उस उत्पाद के कुल आयात से 3 प्रतिशत कम है बशर्ते कि यह ऐसे कुल डंप किए आयात की 7 प्रतिशत की सीमा के अंतर्गत हो। वस्तुओं के व्यापार के बहुपक्षीय समझौते के अंतर्गत कस्टम मूल्यांकन, आयात लाइसेंस प्रक्रिया और सुरक्षाएं भी आती हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

5. विश्व व्यापार संगठन की स्थापना कब की गई

   (क) 1 जनवरी 1990 (ख) 1 जनवरी 1993

   (ग) 1 जनवरी 1995 (घ) 1 जनवरी 1997

6. ट्रेडमार्क के नवीनीकरण की अवधि कम से कम कितने वर्ष की होती है?

   (क) पांच (ख) सात

   (ग) नौ (घ) ग्यारह

4.5 भुगतान शेष : संकल्पना और प्रकार

किसी देश के अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक संबंधों के विश्लेषण के लिए भुगतान संतुलन एक अत्यंत महत्वपूर्ण यंत्र है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के अंतर्गत प्रत्येक देश कुछ वस्तुओं का अन्य देशों से आयात करता है जिसका उसे भुगतान करना होता है तथा कुछ वस्तुओं का निर्यात करता है जिसके बदले में अन्य देशों से भुगतान प्राप्त करता है। विदेशी व्यापार से संबंधित वास्तविक जानकारी के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक देश को अपने आयातों तथा निर्यातों की कुल मात्रा तथा उनके मूल्य के बारे में पूर्ण जानकारी हो। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से संबंधित दो महत्वपूर्ण शब्द हैं– व्यापार संतुलन तथा भुगतान संतुलन। इन्हीं के विश्लेषण से देश के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की स्थिति, अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संभावनाओं तथा अंतर्राष्ट्रीय भुगतानों की स्थिति का अनुमान लगाया जाता है। अन्य शब्दों में व्यापार संतुलन तथा भुगतान संतुलन एक देश के अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक संबंधों के बारे में जानकारी प्रदान करते हैं।

4.5.1 भुगतान संतुलन की संकल्पना और प्रकार

किसी देश का भुगतान संतुलन किसी निश्चित अवधि में अन्य देशों से किए गए आर्थिक लेन देनों का रिकॉर्ड होता है। एक निश्चित अवधि में एक देश को विदेशों से जो भुगतान प्राप्त होता है और जो भुगतान उसके द्वारा करना होता है, भुगतान संतुलन उसका क्रमबद्ध विवरण होता है। अन्य शब्दों में एक देश का एक भुगतान संतुलन एक निश्चित अवधि में उसके विश्व के बाकी राष्ट्रों के साथ मौद्रिक सौदों का लेखा होता है अथवा भुगतान शेष एक देश के अंतर्राष्ट्रीय लेन देनों में प्राप्तियों तथा भुगतानों को दर्ज करने का एक तरीका है। भुगतान संतुलन सदैव संतुलित रहता है क्योंकि असंतुलन की स्थिति में उसे संतुलित करने के लिए स्वर्ण भुगतान अथवा ऋण की व्यवस्था कर दी जाती है। भुगतान संतुलन के अंतर्गत आयात व निर्यात को तो शामिल किया जाता है साथ ही ब्याज, एवं हस्तांतरण को भी शामिल किया जाता है इसके अंतर्गत उन मदों को भी शामिल किया जाता है जिनका भुगतान बंदरगाहों पर नहीं होता है।

किसी देश का भुगतान शेष उसके किसी दिए हुए वर्ष में बाहर के सभी देशों से किए गए समस्त आर्थिक लेन-देनों का व्यवस्थित रिकॉर्ड है।

एक देश का भुगतान शेष लेखा दोहरी प्रविष्टि बहीखाता (Double entry system) सिद्धांत के आधार पर बनाया जाता है। प्रत्येक सौदा चिट्ठे के क्रेडिट तथा डेबिट पक्ष में दर्ज किया जाता है। किसी देश का भुगतान शेष उसके संपूर्ण विदेशी लेन–देन का विवरण होता है। भुगतान शेष लेखांकन में क्रेडिट प्रविष्टियां चिट्ठे के बायीं ओर तथा डेबिट प्रविष्टियां दायीं ओर दिखाने की प्रथा है। जब किसी अन्य देश से भुगतान प्राप्त होता है तो यह क्रेडिट सौदा होता है और जब किसी बाहर के देश को भुगतान किया जाता है तो वह डेबिट सौदा कहलाता है।

भुगतान शेष के विवरण में सम्मिलित विभिन्न मदों का वर्गीकरण लीग ऑफ नेशंस ने तीन मुख्य शीर्षकों के अंतर्गत किया था। अधिकांश देश इसी के आधार पर भुगतान शेष का विवरण तैयार करते हैं।

(i) **चालू खाता–** भुगतान शेष का प्रमुख शीर्षक चालू खाता होता है जिसमें दृश्य तथा अदृश्य मदें शामिल रहती हैं। अमौद्रिक उद्देश्यों से विभिन्न देशों के बीच स्वर्ण का आयात–निर्यात तथा अनुमान में भूल–चूक की संभावनाओं को भी चालू खाते में ही सम्मिलित किया जाता है।

देश के चालू खातें में वे सभी लेन–देन आते हैं जो वस्तुओं व सेवाओं के व्यापार तथा एकपक्षीय हस्तांतरणों से संबंध रखते हैं। इसमें भौतिक वस्तुओं के निर्यात एवं आयात दृश्य मदें होती हैं तथा सेवाएं और हस्तांतरण भुगतान एवं प्राप्तियां अदृश्य मदें कहलाती हैं। सेवाओं के लेन–देन में बैंकिंग सेवा, बीमा, विशेषज्ञ शिक्षा यात्रा तथा परिवहन विदेशी निवेशों पर आय अर्थात लाभांश को शामिल किया जाता है। हस्तांतरण भुगतानों का संबंध उपहारों, पेंशनों, निजी प्रेषणों दान उपहार आदि से है। भुगतान शेष के चालू खाते की तालिका निम्न है–

टिप्पणी

भुगतान शेष का चालू लेखा

क्रेडिट (+) (प्राप्तियां)		डेबिट (-) भुगतान)	
1.	वस्तुओं का निर्यात।	1.	वस्तुओं का आयात।
2.	स्वदेशी कंपनियों द्वारा दी गई सेवाएं जैसे जहाजरानी, और भाड़ा, बीमा, बैंकिंग सेवाएं आदि।	2.	विदेशी कंपनियों द्वारा दी गई सेवाएं जैसे जहाजरानी एवं भाड़ा, बीमा, बैंकिंग सेवाएं आदि।
3.	डॉक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक आदि विशेषज्ञों की सेवाएं।	3.	डॉक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक आदि विशेषज्ञों की सेवाएं।
4.	विदेशियों द्वारा यात्रा व्यय।	4.	स्वदेशियों द्वारा विदेशों में यात्रा।
5.	स्वदेशियों द्वारा स्वामित्व की विदेशी प्रतिभूतियों पर ब्याज और लाभांश ।	5.	विदेशियों द्वारा स्वामित्व वाली स्वदेशी प्रतिभूतियों पर ब्याज और लाभांश।
6.	विदेशी सरकारों द्वारा दूतावासों, और उनके स्टाफ आदि पर व्यय।	6.	स्वदेशी सरकार द्वारा विदेशों में अपने दूतावासों और उनके स्टॉफ आदि पर व्यय।
7.	विदेशों में किए गए निवेशों से प्राप्त आय।	7.	विदेशियों द्वारा स्वदेश में किए गए निवेशों का भुगतान।
8.	विदेशों से मिश्रित प्राप्तियां जैसे रॉयल्टी, किराया, पेटेंट, फीस, पत्रिकाओं के शुल्क आदि।	8.	स्वदेश से मिश्रित भुगतान जैसे रॉयल्टी, किराया, पेटेंट फीस, पत्रिकाओं के शुल्क आदि।
9.	हस्तांतरण प्राप्तियां जैसे दान, उपहार, पेंशन, निजी प्रेषण (remittance) आदि।	9.	विदेशों को हस्तांतरण भुगतान जैसे दान, उपहार, पेंशन, प्रेषण आदि।

(ii) **पूंजी खाता–** जिस प्रकार वस्तुओं, सेवाओं तथा कुछ अन्य लेन-देनों से चालू खाता बनता है उसी प्रकार पूंजी खाता विदेशी परिसंपत्तियों से बनता है। देश के पूंजी खाते के अंतर्गत देश की वित्तीय परिसंपत्तियों के लेन–देन आते हैं जो अल्पावधि एवं दीर्घावधि, उधार–दान तथा उधार–ग्रहण और निजी तथा सरकारी निवेशों के रूप में पाए जाते हैं। दूसरे शब्दों में, पूंजी लेखा–ऋणों और निवेशों के अंतर्राष्ट्रीय प्रवाह को दर्शाता है और देश की परिसंपत्तियों और देयताओं में हुए परिवर्तनों को व्यक्त करता है। दीर्घावधि लेन–देन उन अंतर्राष्ट्रीय पूंजीगतियों से संबंध रखते हैं जिनकी परिपक्वता की अवधि एक वर्ष या एक वर्ष से अधिक होती है और उनमें प्रत्यक्ष निवेश जैसे विदेशी प्लांट लगाना, विदेशी बॉण्डों और स्टॉकों का क्रय और अंतर्राष्ट्रीय ऋण शामिल रहते हैं। चालू लेखे और पूंजी लेखे का जोड़ बुनियादी शेष (Basic Balance) कहलाता है। पूंजी–लेखा की मदों को निम्न तालिका में दिखाया गया है–

भुगतान शेष का पूंजी लेखा

क्रेडिट (+) (प्राप्तियां)		डेबिट (-) (भुगतान)	
1.	विदेशों से सरकारी ऋण प्राप्तियां।	1.	विदेशों को सरकारी ऋण देना।
2.	विदेशों द्वारा किए गए स्वदेश में प्रत्यक्ष निजी निवेश और बाण्ड, शेयर आदि खरीदना।	2.	विदेशों में किए गए प्रत्यक्ष निजी निवेश तथा विदेशी बाण्ड, शेयर आदि खरीदना।
3.	अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं जैसे IMF, World Bank, IFC आदि से प्राप्त ऋण।	3.	अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं को ऋणों की वापसी।
4.	बैंकिंग पूंजी का आंतरिक प्रवाह।	4.	बैंकिंग पूंजी का बाह्य प्रवाह।

(iii) **सरकारी व्यवस्थापन लेखा–** सरकारी व्यवस्थापन लेखा अथवा सरकारी रिजर्व परिसंपत्ति लेखा वास्तव में पूंजी लेखा का ही एक भाग है लेकिन इंग्लैंड संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य विकसित देशों के भुगतान शेष लेखे इसे अलग लेखे के रूप में दिखाते हैं। यह लेखा सामान्यत: वर्ष के दौरान देश की विदेशी सरकारी धारकों के पास तरल तथा अतरल देयताओं में परिवर्तन को और राष्ट्र की सरकारी रिजर्व परिसंपत्तियों में परिवर्तन को मापता है। किसी देश की सरकारी रिजर्व परिसंपत्तियों में उसके स्वर्ण का स्टॉक, उसकी परिवर्तनीय विदेशी करेंसियां तथा विशेष आहरण अधिकार (Special Drawing Rights -SDRs) के धारण और IMF में उसकी निवल स्थिति शामिल है। इसकी मदों को निम्न तालिका में दर्शाया गया है–

सरकारी रिजर्व परिसंपत्तियों की निवल मदें

क्रेडिट (+) (प्राप्तियां)		डेबिट (-) (भुगतान)	
1.	स्वर्ण निर्यात।	1.	स्वर्ण आयात।
2.	परिवर्तनीय विदेशी करेंसियों की प्राप्तियां।	2.	विदेशों को स्वदेशी करेंसी का भुगतान।
3.	SDRs के धारण।	3.	SDRs में से भुगतान।
4.	IMF में कोटा (Quota) ।	4.	IMF कोटा में वृद्धि होने पर उसमें भुगतान।

(iv) **अशुद्धियां एवं भूल चूक–** यह मद प्रत्येक देश के भुगतान संतुलन लेखा में होती है ताकि दोहरी प्रविष्टी बही खाता नियमों के अनुसार तीनों लेखों के कुल क्रेडिट तथा कुल डेबिट अवश्य ही एक दूसरे के बराबर हों क्योंकि लेखांकन की दृष्टि से किसी देश का भुगतान संतुलन, संतुलन में होते हैं। तीनों लेखे के निवल (Net) क्रेडिट और डेबिट शेषों का बीजगणीतीय जोड़ हर हाल में शून्य होगा।

4.5.2 व्यापार शेष/व्यापार संतुलन की संरचना और घटक

किसी देश का व्यापार संतुलन उस देश के आयातों तथा निर्यातों के संबंध को बताता है। यह एक ऐसा विवरण होता है जिसमें वस्तुओं के आयातों तथा निर्यातों का विस्तृत ब्यौरा होता है। अन्य शब्दों में एक देश का व्यापार संतुलन, एक निश्चित अवधि के भीतर आयात निर्यात मूल्य के बीच के संबंध को बताता है। व्यापार संतुलन किसी देश के आयातों तथा निर्यातों के अंतर की ओर संकेत करता है।

फ्रेडरिक बेन्हम के अनुसार, "एक देश का व्यापार संतुलन एक अवधि के उसके निर्यातों के मूल्यों और उसके आयातों के मूल्य का संबंध है, यदि पहला दूसरे से अधिक है तो इस अंतर को निर्यात आधिक्य और दूसरा पहले से अधिक है तो इस अंतर को आयात आधिक्य कहते है।

सैम्यूलसन के अनुसार, "यदि व्यापारिक माल के निर्यात का मूल्य आयात-माल के मूल्य से अधिक है तो "अनुकूल व्यापार शेष" कहते हैं। यदि आयात निर्यात से अधिक है तो यह "प्रतिकूल व्यापार शेष" है।

व्यापार संतुलन के घटक

व्यापार संतुलन की तीन घटक होती हैं। इन तीन घटकों का वर्णन निम्न प्रकार से है–

1. प्रतिकूल व्यापार संतुलन- जब किसी देश में एक निश्चित अवधि में आयात का मूल्य निर्यात के मूल्य की अपेक्षा अधिक होता है तो उस देश का व्यापार संतुलन प्रतिकूल या विपरीत कहलाता है। इसे ऋणात्मक चिह्न (–) से व्यक्त करते है।
2. अनुकूल व्यापार संतुलन- जब एक निश्चित अवधि में एक देश के आयात मूल्य निर्यात मूल्यों की अपेक्षा कम होते हैं तो उस देश का व्यापार संतुलन अनुकूल कहलाता है। इसे सदैव धनात्मक चिह्न (+) से व्यक्त करते है।
3. संतुलित व्यापार संतुलन- जब एक निश्चित अवधि में किसी देश के आयात मूल्य निर्यात मूल्यों के बराबर होते हैं तो उसे संतुलित व्यापार संतुलन कहते हैं।

व्यापार संतुलन का प्रभाव

व्यापार संतुलन के प्रभाव को निम्न प्रकार से समझ सकते हैं-

1. **व्यापार की शर्तें**- व्यापार की शर्तो का भावी व्यापार निर्धारण में बहुत महत्व होता है। यदि व्यापार संतुलन अनुकूल रहता है तो अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्ते भी अनुकूल होती है इसके विपरीत प्रतिकूल व्यापार संतुलन होने पर व्यापार प्रतिकूल हो जाता है।
2. **भुगतान संतुलन पर प्रभाव**- भुगतान संतुलन का प्रभाव भी व्यापार संतुलन पर पड़ता है। यदि व्यापार संतुलन अनुकूलन की स्थिति में है तो भुगतान संतुलन में भी अनुकूलन होने की संभावना बहुत अधिक होती है क्योंकि व्यापारिक माल के अधिक निर्यातों के कारण उस देश की विदेशों से अधिक लेनदारियां होगी। इसके विपरीत प्रतिकूल व्यापार संतुलन के कारण भुगतान संतुलन में भी प्रतिकूलता होने की संभावना अधिक होगी।

3. **विदेशी मुद्रा कोष**- यदि हमारे देश का व्यापार संतुलन अनुकूल है तो इससे देश में विदेशी मुद्रा कोषों में वृद्धि होती है और यह स्थिति अच्छी मानी जाती है इसके विपरीत प्रतिकूल व्यापार संतुलन होने के कारण देश में विदेशी मुद्रा की कमी हो जाती है और यह स्थिति व्यापार के लिए अच्छी नहीं मानी जाती है।
4. **सुविधाजनक आयात**- जिन देशों का व्यापार संतुलन लगातार अनुकूल रहता है वहां पर सरलतापूर्वक अन्य वस्तुओं का आयात किया जा सकता है इससे भुगतान संबंधी कोई भी कठिनाइयां नहीं होती है। इसके विपरीत यदि व्यापार संतुलन प्रतिकूल है तो वस्तुओं के आयात में कठिनाइयां होती है। ऐसे देशों को जिनका व्यापार संतुलन प्रतिकूल है अपनी आवश्यकताओं की वस्तुओं के लिए अन्य देशों पर निर्भर रहना पड़ता है। निर्यातक देश आयातक देश को ऋण सुविधाएं देते समय शर्तों के निर्धारण में अनेक दबाब डालने का प्रयत्न करते है।
5. **विदेशी विनिमय दर**- अनुकूल विदेशी व्यापार संतुलन होने पर विदेशी विनिमय दर भी अनुकूल होती है क्योंकि वस्तुओं के निर्यात अधिक होने से विदेशी बाजारों में निर्यातक देशों की मुद्रा पूर्ति अधिक होगी। इससे स्वदेशी मुद्रा का मूल्य अधिक होगा और विदेशी मुद्रा का मूल्य कम हो जाएगा।

   इसके विपरीत प्रतिकूल व्यापार संतुलन होने पर स्वदेशी बाजारों में विदेशी मुद्रा का मूल्य आयातों की अधिकता के कारण अधिक होगा और स्वदेशी मुद्रा का मूल्य कम होगा। इससे प्रतिकूल विनिमय दर की स्थिति उत्पन्न होगी।

प्रतिकूल व्यापार संतुलन को ठीक करने के उपाय

1. **आयात प्रतिस्थापन**- हमें उन मालों को देश में बनाने का प्रयत्न करना चाहिए जिनका विदेशों से आयात किया जाता है। इससे दो प्रकार के लाभ प्राप्त है पहला हमें भविष्य में उन वस्तुओं का आयात नहीं करना पड़ता है और दूसरा देश में ही नए-नए उद्योगों, कारखानों, प्रयोगशालाओं की स्थापना की जाती है।
2. **निर्यातों में वृद्धि**- निर्यातों को प्रोत्साहित करके भी व्यापार संतुलन के प्रतिकूलता को दूर किया जा सकता है। निर्यात संवर्द्धन के लिए मुद्रा का अवमूल्यन, राशिपातन, निर्यात संवर्द्धन संस्थानों एवं उपक्रमों की स्थापना, विदेशों से द्विपक्षीय समझौते, विज्ञापन प्रदर्शनी आदि का आयोजन तथा ऐसे ही अनेक प्रयत्न किए जाते हैं।
3. **भुगतान संतुलन में साम्य**- यदि व्यापार संतुलन प्रतिकूल है तो भुगतान संतुलन की मदों तथा सेवाओं जैसे बैंक, बीमा, समुद्री परिवहन, पर्यटन आदि के माध्यम से विदेशी मुद्रा प्राप्तियों को अधिक करने का प्रयत्न किया जाता है।

भुगतान संतुलन के साथ संबंध– भुगतान संतुलन में सदा लेन–देन साम्य की स्थिति में रहते हैं। बही खाते के सिद्धांतों के आधार पर समस्त डेबिट, समस्त क्रेडिट के बराबर अवश्य होने चाहिए अर्थात भुगतान संतुलन का विवरण बही खाते के समान दोहरी प्रविष्टि के आधार पर तैयार किया जाता है जिसमें लेन–देन के दोनों पक्षों की योग राशि बराबर होती है। यदि दोनों पक्षों में कोई अंतर होता है तो ऋण के द्वारा पूर्ति करके दोनों के अंतर को समान कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए जब किसी व्यक्ति का व्यय उसकी आय की अपेक्षा अधिक हो जाता है तो वह उसे ऋण लेकर अथवा अपनी

पिछली बचतों का प्रयोग करके अपने आय–व्यय को संतुलित कर लेता है। ठीक उसी प्रकार जब एक देश की देनदारियां लेनदारियों की अपेक्षा अधिक हो जाती हैं तो वह देश इस घाटे की पूर्ति अनेक प्रकार से कर सकता है जैसे एकत्रित विदेशी मुद्रा देकर, विदेशी ऋण अथवा सहायता लेकर, अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाओं से सहायता लेकर अथवा स्वर्ण का निर्यात करके। इनमें से कोई भी उपाय अलग से अथवा अन्य किसी उपाय के साथ मिलाकर अपनाया जा सकता है।

भुगतान शेष हमेशा संतुलित होता है इसका अर्थ है कि चालू लेखा, पूंजी लेखा और सरकारी व्यवस्थापन लेखा के निवल क्रेडिट और डेबिट शेषों का बीजगणितीय जोड़ शून्य होना चाहिए। भुगतान शेष को निम्न प्रकार से लिखा जाता है–

$B = R_F - P_F$

जहां B भुगतान शेष R_F विदेशों से प्राप्तियां P_F विदेशों को भुगतान को व्यक्त करता है–

जब $R_F - P_F = 0$ तो भुगतान शेष संतुलन में है।

$R_F - P_F > 0$ तो भुगतान शेष में अतिरेक है,
अर्थात विदेशों से प्राप्तियां भुगतानों की अपेक्षा अधिक हैं।

$R_F - P_F < 0$ तो भुगतान शेष में घाटा है,
अर्थात विदेशों से प्राप्तियां भुगतानों की अपेक्षा कम है।

भुगतान संतुलन के अंतर्गत व्यापार संतुलन अथवा चालू खाता संतुलन सदा संतुलित नहीं रहता। चालू खाता प्रतिकूल होने की दशा में उसे पूंजी खाते में परिवर्तनों द्वारा साम्य की स्थिति में लाया जा सकता है, लेकिन भुगतान संतुलन के सदा संतुलित रहने का यह अभिप्राय नहीं है कि किसी देश का भुगतान संतुलन अन्य देश के साथ जिससे उनके व्यापारिक संबंध है अलग–अलग साम्य की स्थिति में नहीं रहे। वास्तविक जीवन में उस देश का भुगतान संतुलन एक देश के साथ अनुकूल हो सकता है, तो दूसरे देश के साथ प्रतिकूल भी हो सकता है। प्रत्येक देश का भुगतान संतुलन एक अवधि के भीतर संतुलित हो जाना चाहिए, परंतु सभी देशों का भुगतान संतुलन एक साथ अनुकूल नहीं हो सकता। यदि कुछ अंशों का भुगतान संतुलन अनुकूल होगा तो कुछ का प्रतिकूल होना स्वाभाविक है।

व्यापार संतुलन एवं भुगतान संतुलन में अंतर

व्यापार संतुलन एवं भुगतान संतुलन में अंतर निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है–

1. **दृश्य एवं अदृश्य मदें–** दृश्य मदों से आशय केवल वस्तुओं के आयात एवं निर्यात से है जबकि अदृश्य मदों से आशय सेवाओं के आयात–निर्यात से है। व्यापार संतुलन में केवल दृश्य मदों को दिखाया जाता है अर्थात इसमें केवल आयात निर्यात को ही शामिल किया जाता है जबकि भुगतान संतुलन में दृश्य तथा अदृश्य मदों को शामिल किया जाता है।
2. **पूंजीगत व्यवहार–** पूंजीगत व्यवहारों से आशय निजी प्राप्तियों एवं भुगतानों, सरकारी प्राप्तियों एवं भुगतानों, अपलेखन प्राप्तियों एवं भुगतानों, बैंकिंग, पूंजी

का लेनदेन तथा भूल चूक आदि से है। इन सभी व्यवहारों को भुगतान संतुलन में दिखाया जाता है, लेकिन व्यापार संतुलन के अंतर्गत इन सभी को नहीं दिखाया जाता है।

3. **निपटारा व्यवहार–** चालू खाते तथा पूंजी खाते की सभी मदों पर कुल मिलाकर जो अधिक्य अथवा कमी बनती है उसे कैसे और किन माध्यमों से निपटाया जाता है, यह भुगतान संतुलन के अंतर्गत दिखाया जाता है व्यापार संतुलन के अंतर्गत नहीं।
4. **क्षेत्र–** भुगतान संतुलन एक व्यापक शब्द है और व्यापार संतुलन इसका एक भाग है।
5. **संतुलन–** व्यापार संतुलन अनुकूल भी हो सकता है और प्रतिकूल भी। व्यापार संतुलन का संतुलित होना आवश्यक नहीं होता है लेकिन भुगतान संतुलन सदैव संतुलित होता है। अतः भुगतान संतुलन का अनुकूल अथवा प्रतिकूल होना संभव नहीं है।

4.5.3 भुगतान शेष में असंतुलन के कारण

एक देश को भुगतान शेष में असंतुलन की स्थिति में या तो घाटा हो सकता है या अतिरेक हो सकता है। एक देश के भुगतान शेष में घाटा या अतिरेक तब होता है जब उसकी स्वायत्त प्राप्तियां उसके स्वायत्त भुगतान से मेल नहीं खाती हैं। भुगतान संतुलन की प्रमुख मदों का जब एक तरफ आवागमन होने लगता है तो भुगतान संतुलन में असाम्यता उत्पन्न हो जाती है। एक देश के भुगतान संतुलन के असाम्य होने के अनेक कारण हो सकते हैं जैसे–

1. जब निर्यात पूर्ववत रहे, आयातों में कमी हो जाए अथवा आयातों में वृद्धि होने जाए।
2. जब आयात पूर्ववत रहे और निर्यातों में कमी अथवा वृद्धि हो जाए।
3. आयात व निर्यात दोनों ही घटे-बढ़े किंतु अलग–अलग अनुपात से।

संक्षेप में भुगतान शेष में असंतुलन उत्पन्न होने के लिए प्रमुख उत्तरदायी कारक निम्न प्रकार से हैं–

1. अस्थायी असंतुलन– व्यापार में आकस्मिक परिवर्तन, मौसमी उतार–चढ़ाव, कृषि उत्पादों पर मौसम का प्रभाव आदि कुछ ऐसे कारण हैं जो अस्थायी रूप से असंतुलन उत्पन्न कर देते हैं। इस तरह के अस्थायी कारणों से उत्पन्न होने वाले घाटे या अतिरेक थोड़े समय के लिए उत्पन्न होते हैं फिर अपने आप ही ठीक हो जाते हैं।

2. मौलिक असंतुलन– मौलिक असंतुलन से अभिप्राय एक देश के भुगतान शेष में दीर्घकालीन और निरंतर परिवर्तन से है। आई.एम.एफ. के अनुसार यह चिरकालिक घाटा होता है। यह घाटा निम्न कारणों से होता है–

(i) देश के भीतर या विदेश में उपभोक्ता रुचियों में परिवर्तन जो आयात–निर्यात में कम या अधिक कर देते हैं।

(ii) अर्थव्यवस्था में स्फीति दबाव जो निर्यात को महंगा करते हैं।

(iii) विश्व बाजार में नीची प्रतियोगिता शक्ति जो निर्यातों पर बुरा प्रभाव डालती है।

(iv) विदेशी मुद्रा रिजर्व में निरंतर कमी होने के कारण पूंजी पदार्थों, कच्चे माल, टेक्नोलॉजी आदि के बड़े आयातों व बाह्य ऋणग्रस्तता आदि हैं।

3. संरचनात्मक असंतुलन– घरेलू उद्योगों या विदेशी उद्योगों में वस्तुओं के उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन, तकनीकी परिवर्तन के कारण वस्तुओं की लागतों, कीमतों व गुणवत्ता में परिवर्तन, दूसरे देशों द्वारा सभी प्रकार के निर्यात प्रतिबंध तथा विदेशी पूंजी के प्रवाह में अनियमितता और पूर्ति में कमी आदि संरचनात्मक परिवर्तन दीर्घकाल में भुगतान शेष में घाटा लाते हैं।

4. विनिमय दर में परिवर्तन– घरेलू करेंसी के अधिमूल्यन से भुगतान शेष में घाटा होता है क्योंकि इससे विदेशी वस्तुएं सस्ती और विदेशों में निर्यात महंगे हो जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप पूंजी का बाह्य प्रवाह होता है और भुगतान शेष में घाटा उत्पन्न हो जाता है।

5. चक्रीय असंतुलन– व्यापार चक्रों के कारण किसी देश के भुगतान संतुलन में असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जब मंदी होती है तो आय स्तर में कमी के कारण विदेशों से आयात घट जाते हैं। मंदी की दशा में दूसरे देशों के साथ निर्यातों व आयातों की मात्राओं में तीव्र गिरावट आती है, परंतु घरेलू उत्पादन में कमी के परिणामस्वरूप आयातों की तुलना में निर्यातों में बहुत अधिक कमी हो जाती है इससे भुगतान शेष को घाटा होता है और भुगतान संतुलन प्रतिकूल हो जाता है।

6. राष्ट्रीय आय में परिवर्तन– देश की राष्ट्रीय आय में परिवर्तन के फलस्वरूप भी असंतुलन उत्पन्न हो जाता है। यदि राष्ट्रीय आय बढ़ेगी तो आयात भी बढ़ेंगे यदि अन्य बातें समान रहें तो भुगतान शेष में घाटा उत्पन्न हो जाएगा। यदि देश पहले से ही पूर्ण रोजगार के स्तर पर है तो आय में वृद्धि के कारण स्फीतिकारी वृद्धि होगी और देश कें आयातों में वृद्धि होगी और भुगतान शेष का घाटा बढ़ जाएगा।

आय में दीर्घकालीन परिवर्तन आर्थिक विकास पर अपना प्रभाव डालते हैं विकास के प्रथम चरण में आयातों की अधिकता के कारण भुगतान संतुलन में प्रतिकूलता आती है। धीरे–धीरे उत्पादन व्यवस्था में सुधार होने, साधनों का अनुकूलतम उपयोग होने तथा विदेशी आयातों पर निर्भरता कम होने पर देश का भुगतान संतुलन अनुकूल अवस्था में आ जाएगा।

7. स्फीति– स्फीति के कारण भी भुगतान शेष में असंतुलन उत्पन्न हो जाता है। जब देश में स्फीति की स्थिति होती है तो निर्यात की कीमतें बढ़ जाती हैं। परिणामस्वरूप, निर्यात कम हो जाते हैं साथ ही आयातों में भी वृद्धि होती है। इस प्रकार निर्यातों में कमी होने तथा आयातों के बढ़ने से भुगतान शेष में घाटा बढ़ जाता है।

8. आर्थिक विकास की अवस्था– किसी देश का भुगतान शेष उसके आर्थिक विकास पर भी निर्भर करता है। यदि देश विकास की प्रक्रिया से गुजर रहा है तो उसके भुगतान संतुलन में घाटा होगा क्योंकि वह कच्चे माल, मशीनरी, पूंजी, उपकरण आदि का आयात करता है और प्राथमिक उत्पादन का निर्यात करता है। देश को महंगे आयात के बदले अधिक निर्यात करना पड़ता है जिसके परिणामस्वरूप देश का भुगतान शेष असंतुलित हो जाता है।

तीव्र औद्योगीकरण एवं आर्थिक विकास के लिए विकासशील देशों को विकास कार्यक्रमों पर भारी मात्रा में व्यय करना पड़ता है।

9. जनसंख्या वृद्धि– विकासशील देशों में जनसंख्या वृद्धि की दर अधिक होती है जिसके कारण इन देशों में आयातों की मात्रा बढ़ जाती है और घरेलू उपभोग में वृद्धि होने के कारण निर्यातों में कमी होती है फलस्वरूप भुगतान शेष में घाटा उत्पन्न हो जाता है।

10. प्रदर्शन प्रभाव– विकसित देशों के संपर्क में आने पर विकासशील देशों के लोग उनकी उपभोग आदतों को अपनाने लगते हैं जिससे विदेशी वस्तुओं के आयात बढ़ जाते हैं और भुगतान शेष में असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

11. अंतर्राष्ट्रीय ऋण एवं विनियोग– अपने विकास के कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए विकासशील देश विकसित देशों से भारी मात्रा में ऋण लेते हैं जिसके ब्याज एवं मूलधन की वापसी में उन्हें बड़ी मात्रा में विदेशी विनिमय व्यय करना पड़ता है। फलस्वरूप उनके भुगतान शेष में असंतुलन पैदा हो जाता है।

12. आयात प्रतिबंध– प्राय: विकसित देश अपने भुगतान शेष को अनुकूल बनाए रखने के लिए आयात पर प्रतिबंध लगा देते हैं जिससे विकासशील देशों के निर्यात में वृद्धि नहीं हो पाती एवं उनके भुगतान देश में असंतुलन पैदा हो जाता है।

13. राजनीतिक स्थितियां– किसी देश में राजनीतिक अस्थिरता भी भुगतान शेष में असंतुलन का कारण हो सकती है क्योंकि इससे विदेशी निवेशकों में अनिश्चितता उत्पन्न हो जाती है जिससे पूंजी का बाह्य प्रवाह होता है और अंतर्प्रवाह रूक जाता है। युद्ध या युद्ध के भय और देश में उप द्रव और अशांति के कारण भी असंतुलन की स्थिति पैदा हो जाती है।

4.5.4 भुगतान शेष में असंतुलन को ठीक करने के उपाय

भुगतान शेष में असंतुलन अल्पकालीन होता है और दीर्घकालिक भुगतान शेष की प्रतिकूलता और अनुकूलता दोनों विदेशी व्यापार के लिए हानिप्रद हैं। अत: आवश्यक है कि असंतुलन को संतुलित करने के लिए समुचित कदम उठाए जाएं। वर्तमान समय में भुगतान शेष में संतुलन प्राप्त करने अथवा उसे बनाए रखने के लिए योजनाबद्ध ढंग से प्रयास करने पड़ते हैं। इस उद्देश्य से अपनाए गए उपायों को दो भागों में बांटा जा सकता है–

(अ) मौद्रिक उपाय

(ब) अमौद्रिक उपाय।

भुगतान संतुलन के विपक्ष में होने की दशा में कोई भी देश निम्नलिखित उपायों में से किसी एक उपाय को अथवा अधिक उपायों को अपना सकता है–

(अ) मौद्रिक उपाय

भुगतान शेष को संतुलित करने के मौद्रिक उपाय निम्नलिखित है–

1. मुद्रा का अवमूल्यन– सरकार द्वारा स्वदेशी मुद्रा का बाह्य मूल्य जानबूझकर घटाना अवमूल्यन कहलाता है। जिस दर पर मुद्रा अधिकारी द्वारा विदेशी मुद्राएं खरीदी

व बेची जाती हैं उसे ऊंचा करके अवमूल्यन किया जाता है। अवमूल्यन का प्रभाव मूल्य ह्रास के समान होता है। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप अवमूल्यन करने वाले देश के निर्यात विदेशों में सस्ते हो जाते हैं क्योंकि विदेशियों को इस देश का माल खरीदने के लिए पहले से कम भुगतान करना पड़ता है। इसके विपरीत आयात महंगे हो जाते हैं क्योंकि इस देश को विदेशियों को पहले से अधिक मात्रा में मुद्रा देनी पड़ती है जिससे निर्यात प्रोत्साहन तथा आयात प्रोत्साहित होते हैं। आयात व निर्यात के सामूहिक प्रयास से भुगतान शेष की प्रतिकूलता को दूर किया जा सकता है।

प्रतिकूल भुगतान शेष को ठीक करने के लिए अवमूल्यन की सफलता निम्न बातों पर निर्भर करती हैं –

(i) आयात व निर्यात के लिए मांग लोचपूर्ण होनी चाहिए।

(ii) अवमूल्यन करने वाले देश में मुद्रा के आंतरिक मूल्य में स्थिरता रहनी चाहिए।

(iii) जब अन्य देश जवाबी प्रतिक्रियास्वरूप अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करें।

2. विनिमय मूल्य ह्रास– स्वतंत्र विनिमय बाजार में जब एक देश की मुद्रा की मांग एवं पूर्ति में स्वाभाविक परिवर्तनों के फलस्वरूप इसकी मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्राओं में कम हो जाता अर्थात गिर जाता है तो इसे मूल्य ह्रास की स्थिति कहते हैं। इसका प्रभाव अवमूल्यन के समान होता है। मूल्य ह्रास के कारण स्वदेशी मुद्रा विदेशियों के लिए सस्ती हो जाती है जिससे निर्यात प्रोत्साहित होते हैं और आयात हतोत्साहित होते हैं और भुगतान शेष की प्रतिकूलता में सुधार होने लगता है।

3. मुद्रा संकुचन– अवमूल्यन तथा मूल्य ह्रास का संबंध मुद्रा के बाहरी मूल्य में कमी से होता है जबकि मुद्रा संकुचन की नीति का उद्देश्य आंतरिक कीमत स्तर में कमी करना होता है। मुद्रा संकुचन के द्वारा सामान्य कीमत स्तर कम किया जाता है। देश में वस्तुओं की कीमतें घट जाती हैं, निर्यातों को प्रोत्साहन मिलता है तथा आयात हतोत्साहित होते हैं। इस प्रकार मुद्रा संकुचन द्वारा भुगतान शेष के घाटे को दूर किया जा सकता है। इस विधि की सफलता निम्न शर्तों पर निर्भर करती हैं–

(i) यदि देश स्वर्णमान पर आधारित हो अथवा उनके बीच विनिमय दरें स्थिर हो।

(ii) मुद्रा संकुचन की नीति अपनाते समय आयात–निर्यातों की मांग की लोच को ध्यान में रखना चाहिए।

मुद्रा संकुचन भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता को दूर करने का कोई अच्छा उपाय नहीं है क्योंकि देश में कीमतों को जानबूझकर गिराने से आर्थिक संकट की स्थिति उत्पन्न होने का भय रहता है। कीमतों में कमी से उत्पादकों के लाभ कम हो जाते हैं। वे उत्पादन में कमी कर देते हैं तथा बेरोजगारी बढ़ जाती है । इस प्रकार मुद्रा संकुचन देश में मंदी की स्थिति उत्पन्न कर सकता है। इसलिए इस रीति का प्रयोग बहुत सावधानी से किया जाना चाहिए।

(ब) अमौद्रिक आय

मौद्रिक उपायों द्वारा आयात–निर्यात अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होते हैं परंतु अमौद्रिक उपाय आयात–निर्यात को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं। ये उपाय आयातों को हतोत्साहित तथा निर्यातों को प्रोत्साहित करते हैं। कुछ अमौद्रिक उपाय निम्नलिखित हैं–

1. आयात प्रतिबंध– आयात प्रतिबंध नीति का उद्देश्य अवांछनीय आयातों में कमी करना होता है। आयातों में कमी इस प्रकार होनी चाहिए कि अर्थव्यवस्था पर कोई बुरा प्रभाव न पड़े। इस नीति के अंतर्गत निम्न उपायों को अपनाना चाहिए–

(अ) **आयात प्रतिस्थापन नीति–** आयात प्रतिस्थापन नीति से आशय देश में ही उन उद्योगों की स्थापना करना होता है जो वस्तुएं विदेशों से आयात की जाती हैं इससे आयात कम होते हैं और भुगतान शेष का घाटा कम करने में सहायता मिलती है।

(ब) **आयात प्रशुल्क–** यह आयात प्रतिबंध की सबसे अधिक प्रचलित एवं प्राचीन रीति है। आयात प्रशुल्क वस्तु की मात्रा अथवा वस्तु के मूल्य के आधार पर लगाए जाते हैं। आयात की गयी वस्तु की मात्रा पर लगाया गया कर परिणाम प्रशुल्क कहलाता है। वस्तु के मूल्य को आधार पर लगाया गया शुल्क यथा मूल्य प्रशुल्क कहलाता है। प्रशुल्क चार प्रकार के होते हैं।

- **समान शुल्क प्रणाली–** इसके अंतर्गत सभी देशों की समान वस्तुओं पर समान दर से कर लगाए जाते हैं।
- **सामान्य या परंपरागत प्रशुल्क प्रणाली–** इसके अंतर्गत विशेष संधियों अथवा परंपराओं वाले देशों को छोड़कर अन्य सब पर समान प्रशुल्क लगाए जाते हैं।
- **अधिकतम व न्यूनतम प्रशुल्क प्रणाली–** इसके अंतर्गत विशेष समझौते वाले देशों के लिए न्यूनतम तथा अन्य देशों के लिए अधिकतम दरों की व्यवस्था की जाती है।
- **विशेषाधिकारी प्रशुल्क प्रणाली–** इस प्रणाली के अंतर्गत घनिष्ठ रूप से संबंधित देशों को विशेष छूट व रियायतें दी जाती हैं।

(स) **आयात अभ्यंश–** अभ्यंश अथवा कोटा प्रणाली द्वारा आयातों को सीमित किया जाता है। अभ्यंश प्रणाली के प्रमुख रूप निम्नलिखित हैं–

(i) **लाइसेंस कोटा प्रणाली–** इसके अंतर्गत सरकार कुछ गिने चुने व्यापारियों को ही वस्तुएं आयात करने का लाइसेंस देती है।

(ii) **एक पक्षीय कोटा प्रणाली–** इसके अंतर्गत कोई देश अपने आयातों पर प्रतिबंध लगाता है। यह दो प्रकार का होता है–

(अ) **विभाजित कोटा–** इसमें उन्हीं देशों से उतनी ही मात्रा में आयात किया जा सकता है जितना उस देश की सरकार ने निर्धारित किया है।

(ब) **विश्व कोटा–** इस प्रणाली में निश्चित सीमा तक माल विश्व के किसी भी देश से मंगाया जा सकता है।

(iii) **द्विपक्षीय कोटा प्रणाली–** इसमें सरकार किसी देश से केवल एक निश्चित मात्रा तक आयात करने की अनुमति देती है। इससे अधिक आयात करने पर दंडस्वरूप अधिक आयात कर देना पड़ता है। यह दो प्रकार का होता है।

(अ) **वैधानिक निषेध–** कभी–कभी कुछ विशेष परिस्थितियों में सरकार कानूनी तौर पर कुछ वस्तुओं के आयात का निषेध करती है। आधुनिक समय में व्यापार–नियंत्रण की नीति के रूप में अनेक देश इस नीति को अपनाये हुए हैं।

(ब) **विदेशी माल का बहिष्कार–** राष्ट्रीयता व देश शक्ति की भावना से प्रेरित होकर भी देश की जनता द्वारा विदेशी माल का बहिष्कार कर दिया जाता है तो भुगतान शेष घाटा कम करने में सहायता मिलती है क्योंकि इससे कुछ आयात स्वतः ही घट जाते हैं।

2. निर्यात प्रोत्साहन– निर्यातों को प्रोत्साहित करके भी भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता को कम अथवा समाप्त किया जा सकता है। निर्यातों को प्रोत्साहित करने के लिए निम्न उपायों को अपनाना चाहिए–

(अ) कुछ मदों में कुल उत्पादन का एक निश्चित भाग निर्यातों के लिए सुरक्षित रखना चाहिए।

(ब) देश के बाहर नए बाजारों की खोज करना। विभिन्न वस्तुओं की निर्यात संभावनाओं का पता लगाना तथा प्रचार द्वारा मांग उत्पन्न करना है।

(स) द्विपक्षीय अथवा बहुपक्षीय समझौतों के आधार पर व्यापारिक संबंध स्थापित करना।

(द) निर्यात करों में कमी करके अथवा छूट देकर।

(य) निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की उत्पादन लागत में कमी करने का प्रयास करके तथा निर्यात मूल्य में कमी करके।

(र) निर्यातक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों को आर्थिक सहायता देकर।

(ल) व्यापार की अधिक अनुकूल शर्तें प्राप्त करने का प्रयास करके।

3. विनिमय नियंत्रण– विनिमय नियंत्रण के द्वारा भी सरकार प्रतिकूल भुगतान शेष को ठीक करती है। इसके अनुसार विदेशी विनिमय बाजार को नियंत्रित करती है। विनिमय नियंत्रण उन समस्त क्रियाओं के सामूहिक रूप को कहते हैं जो मुद्रा की विनिमय दर को निर्धारित स्तर पर बनाए रखने के लिए की जाती है। भुगतान शेष को संतुलित करने के लिए विनिमय नियंत्रण की नीति अधिक निश्चित तथा प्रभावशाली मानी जाती है। विनिमय नियंत्रण प्रणाली के अंतर्गत विदेशी विनिमय के सभी सौदे तथा लेन देन सरकार अथवा अधिकार प्राप्त संस्था अथवा व्यक्ति द्वारा ही किए जाते हैं।

यह विधि भुगतान शेष के घाटे को तो कम कर देती है किंतु भुगतान शेष के प्रतिकूल होने के मूल कारणों पर ध्यान नहीं देती है। सरकार विनिमय नियंत्रण में जैसे ही ढील देती है वैसे भुगतान शेष में पुनः असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

4. विदेशी पूंजी तथा विनियोग– भुगतान संतुलन की असाम्यता विदेशी ऋण लेकर तथा विदेशी पूंजी के विनियोगों को प्रोत्साहित करके भी कम की जा सकती है। चालू खाते में भुगतान संतुलन को ठीक करने के लिए विदेशी ऋण काफी सहायक होते हैं क्योंकि इन ऋणों का भुगतान दीर्घकाल में करना होता है। विदेशी पूंजी के विनियोग से औद्योगिक तथा आर्थिक विकास में सहायता मिलती है, परंतु विदेशी पूंजी पर बहुत

अधिक मात्रा में निर्भर नहीं रहना चाहिए क्योंकि विदेशी ऋणों के बोझ से भुगतान शेष की समस्या और गंभीर हो सकती है।

5. विदेशी पर्यटकों को प्रोत्साहन– आजकल विदेशी पर्यटकों के अधिक संख्या में आने से भुगतान शेष के घाटे को कम किया जाता है क्योंकि वे देश में विदेशी मुद्रा लाते हैं इससे विदेशी रिजर्व बढ़ते हैं, इसलिए विदेशी पर्यटकों को विशेष सुविधाएं देनी चाहिए और पर्यटन स्थलों को सुंदर बनाना चाहिए।

आंतरिक एवं बाह्य संतुलन का परस्पर समायोजन

प्रत्येक देश अपने आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु विभिन्न मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों का प्रयोग करता है जिससे देश की विकास दर में वृद्धि की जा सके तथा देश में आर्थिक संतुलन की स्थिति को प्राप्त किया जा सके। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में आर्थिक संतुलन दो प्रकार का होता है।

1. आंतरिक संतुलन– आंतरिक संतुलन से अभिप्राय देश में पूर्ण रोजगार तथा मूल्य स्थायित्व से है।

2. अंतर्राष्ट्रीय संतुलन– इसके अंतर्गत भुगतान संतुलन को शामिल किया जाता है। सामान्यत: देश आंतरिक संतुलन पर अधिक बल देते हैं लेकिन जो राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की क्रियाओं में लिप्त रहते हैं अथवा जिनके लिए अंतर्राष्ट्रीय व्यापार प्राथमिक है वे अंतर्राष्ट्रीय भुगतान को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं।

आंतरिक व अंतर्राष्ट्रीय संतुलन को बनाए रखने के लिए कोई भी देश विभिन्न रीतियों का प्रयोग करता है। मीड़ ने अपनी पुस्तक Balance of Payment में बताया कि आंतरिक तथा बाह्य संतुलन बनाए रखने के लिए प्रत्येक देश को अपने कुल व्यय तथा विनिमय दर पर नियंत्रण रखना पड़ेगा। उन्हें दोनों आंतरिक एवं बाह्य संतुलन लाने के लिए व्यय परिवर्तनकारी Expenditure Changing और व्यय बदलावकारी Expenditure Suitching नीतियों को अपनाना चाहिए।

1. **व्यय में परिवर्तन करने वाली अथवा मांग नीतियां–** इसके अंतर्गत मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों को शामिल किया जाता है। व्यय परिवर्तनकारी नीतियों से अभिप्राय भुगतान शेष असंतुलन को उपयुक्त मौद्रिक नीति तथा राजकोषीय नीतियों द्वारा प्रभावित करने के लिए अर्थव्यवस्था के कुल व्यय को परिवर्तित करना है।
2. **व्यय को परिवर्तित करने वाली नीतियां–** इस नीति के अंतर्गत अवमूल्यन (Devaluation) और अधोमूल्यन (Over valuation) को शामिल किया जाता है ताकि वह अपने व्यय को विदेशी वस्तुओं से घरेलू वस्तुओं की ओर अथवा इसके विपरीत घरेलू वस्तुओं से विदेशी वस्तुओं की ओर मोड़ सके और भुगतान शेष के असंतुलन को ठीक कर सके। व्यय बदलावकारी नीतियों का उद्देश्य बाहरी संतुलन को बनाए रखना है।

   प्रत्येक देश अपने विभिन्न उद्देश्यों को प्राथमिकता के आधार पर पूरा करता है क्योंकि एक समय में एक निश्चित नीति द्वारा केवल एक ही उद्देश्य को पूरा किया जा सकता है–

(अ) व्यय परिवर्तित करने वाली नीतियों द्वारा आंतरिक संतुलन।

(ब) व्यय विवर्तित करने वाली नीतियों द्वारा बाह्य संतुलन।

(स) व्यय परिवर्तित तथा व्यय विवर्तित करने वाली नीतियों के द्वारा आंतरिक एवं बाह्य संतुलन।

(अ) **व्यय परिवर्तित करने वाली नीतियों द्वारा आंतरिक संतुलन–** आंतरिक संतुलन में दो बातों को शामिल किया जाता है– (i) पूर्ण रोजगार तथा (ii) मूल्य स्थायित्व। कोई भी देश अपनी मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों में परिवर्तन द्वारा इन उद्देश्यों को पूरा कर सकता है। कीन्स के मतानुसार आंतरिक बेरोजगारी की समस्या को सार्वजनिक व्ययों में वृद्धि करके पूरा किया जा सकता है। सार्वजनिक व्ययों में वृद्धि विस्तारवादी मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों को बताती है। यहां हम बेरोजगारी को दूर करने वाली नीतियों का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

(i) **राजकोषीय नीति–** राजकोषीय नीति के अंतर्गत बेरोजगारी को दूर करने के लिए यदि हम सार्वजनिक व्यय में वृद्धि करते हैं तो हमें पहले यह देखना होगा कि देश में घाटे की स्थिति है अथवा अतिरेक की स्थिति क्योंकि सार्वजनिक व्यय का दोनों ही स्थितियों पर बुरा प्रभाव पड़ेगा जैसा कि निम्न तालिका की सहायता से स्पष्ट किया गया है–

राजकोषीय नीति का आंतरिक संतुलन और अंतर्राष्ट्रीय संतुलन पर प्रभाव

दशा	आंतरिक संतुलन की नीति	अंतर्राष्ट्रीय संतुलन पर प्रभाव
घाटे के साथ बेरोजगारी	विस्तारवादी	प्रतिकूल प्रभाव
अतिरेक के साथ बेरोजगारी	विस्तारवादी	अनुकूल प्रभाव

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है यदि घाटे की स्थिति होने पर नई मुद्रा का निर्गमन करके सार्वजनिक व्यय को बढ़ाया जाता है तो चलन में मुद्रा की मात्रा बढ़ेगी परिणामस्वरूप मुद्रा स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। स्फीति के कारण मूल्य वृद्धि होगी और निर्यातों में कमी हो जाएगी। यद्यपि सार्वजनिक व्यय के विस्तार के साथ रोजगार का स्तर बढ़ेगा, आय में वृद्धि होगी, मांग बढ़ेगी और आयातों में भी वृद्धि होगी। जिससे अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर देश का भुगतान संतुलन देश के प्रतिकूल हो जाएगा क्योंकि ऐसी स्थिति में निर्यातों में कमी व आयातों में वृद्धि हो रही है।

यदि अतिरेक के साथ बेरोजगारी की स्थिति है तो सरकार अतिरेक को व्यय करके बेरोजगारी को दूर कर सकती है। इससे मूल्यों में स्थायित्व रहेगा परिणामस्वरूप, निर्यातों में वृद्धि होगी तथा आयातों में कमी होगी जिससे भुगतान संतुलन देश के अनुकूल हो जाएगा। दूसरी स्थिति बेरोजगारी को दूर करने तथा भुगतान संतुलन को प्राप्त करने में सहायक है।

(ii) **मौद्रिक नीति–** यदि सरकार बेरोजगारी को दूर करने के लिए मौद्रिक नीति का सहारा लेती है तो सरकार नई मुद्रा का निर्गमन करती है, इससे देश में मुद्रा प्रसार की स्थिति उत्पन्न होती है। मुद्रा प्रसार का देश के आंतरिक व बाह्य संतुलन पर पड़ने वाले प्रभावों को निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

मुद्रा प्रसार का आंतरिक संतुलन व बाहरी संतुलन पर प्रभाव

दशा	आंतरिक संतुलन की नीति	अंतर्राष्ट्रीय संतुलन पर प्रभाव
घाटे के साथ बेरोजगारी	विस्तारवादी	प्रतिकूल प्रभाव
अतिरेक के साथ बेरोजगारी	विस्तारवादी	अनुकूल प्रभाव

यदि देश में मुद्रा प्रसार के साथ–साथ घाटे की स्थिति भी होती है तो सरकार और अतिरेक मुद्रा का निर्गमन करके सार्वजनिक व्यय में वृद्धि करके देश में रोजगार के स्तर, उत्पादन स्तर तथा निर्यातों में वृद्धि करके अपना भुगतान संतुलन देश के अनुकूल करने में समर्थ हो जाएगी। लेकिन इसके विपरीत स्थिति में यदि मुद्रा प्रसार के साथ–साथ अतिरेक की स्थिति होती है तो देश में मुद्रा स्फीति तेजी से बढ़ेगी। इससे निर्यात हतोत्साहित होंगे तथा भुगतान संतुलन देश के प्रतिकूल हो जाएगा। अत: यहां पर पहली स्थिति देश में आंतरिक एवं बाह्य दोनों ही प्रकार के संतुलन प्राप्त करने में सहायक होगी।

(ब) **व्यय विवर्तित करने वाली नीतियों द्वारा बाह्य संतुलन–** कोई भी देश अपनी व्यय विवर्तन की नीतियों द्वारा बाह्य संतुलन की स्थिति को प्राप्त कर सकता है। इसके अंतर्गत अवमूल्यन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।

अवमूल्यन से तात्पर्य किसी देश द्वारा अपनी मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्रा, स्वर्ण अथवा SDR के रूप में कम करना होता है। अवमूल्यन के कारण आयातित वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाती हैं। निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की कीमतें विदेशी बाजार में गिर जाती हैं जिसके फलस्वरूप निर्यात पहले से अधिक सस्ते तथा आयात पहले से अधिक महंगे हो जाते हैं। अत: अवमूल्यन से निर्यात प्रोत्साहित होते हैं। आयातों में कमी होती है। इससे देश का भुगतान संतुलन अनुकूल हो जाता है। सामान्यत: किसी भी देश में अवमूल्यन का मुख्य उद्देश्य देश के भुगतान असंतुलन को दूर करना होता है। यहां व्यय विवर्तन करने वाली नीतियों का भुगतान संतुलन पर पड़ने वाले प्रभावों को निम्न चित्र की सहायता से स्पष्ट किया गया है।

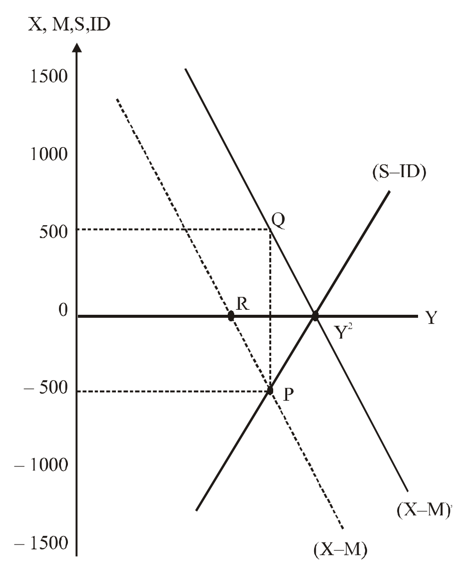

चित्र में निर्यातों को X तथा आयातों को M द्वारा दिखाया गया है इसमें बचतों को S तथा विनियोग को I के द्वारा दिखाया गया है। चित्र में व्यय में परिवर्तन करने वाली नीतियों द्वारा बाह्य संतुलन X अक्ष पर वास्तविक आय तथा X,M,S व ID को Y अक्ष पर दिखाया गया है। (X–M) शुद्ध विदेशी आय को तथा X-ID शुद्ध बचत को बताता है। प्रारंभिक स्थिति में (X-M) तथा (S-ID) एक दूसरे को P बिंदु पर काटते हैं अतः P बिंदु संतुलन का बिंदु है। इस बिंदु पर भुगतान संतुलन का घाटा PR के बराबर है जिसे मुद्रा के रूप में 500 रु. द्वारा दिखाया गया है। यह बेरोजगारी को दिखाता है। यदि देश में अवमूल्यन कर दिया जाए तो (X-M)' वक्र खिसक कर (X-M) की स्थिति को प्राप्त कर लेगा क्योंकि जब निर्यात बढ़ेंगे और आयात कम होंगे तो (X-M)' का मूल्य बढ़ जाएगा। अतः नई संतुलन की स्थिति P से बदलकर Y^2 हो जाएगी क्योंकि (S-ID) वक्र (X-M)' को Y^2 बिंदु पर काटता है। अतः यहां (RP = 500/-) के घाटे को पूरा करने के लिये देश को (PQ = 100) के बराबर व्यय को विवर्तित करना होता है तथा देश की वास्तविक आय OR से बढ़कर OY^2 हो गयी है, जो शुद्ध निर्यात (वास्तविक आय) में वृद्धि को बताती है।

(स) **व्यय परिवर्तित तथा व्यय विवर्तित करने वाली नीतियों के द्वारा आंतरिक एवं बाह्य संतुलन–** यहां हम व्यय में परिवर्तन तथा विवर्तन करने वाली नीतियों अर्थात मौद्रिक एवं राजकोषीय दोनों संतुलन की स्थिति का एक साथ अध्ययन करेंगे। इस स्थिति को निम्न चित्र की सहायता से समझा जा सकता है।

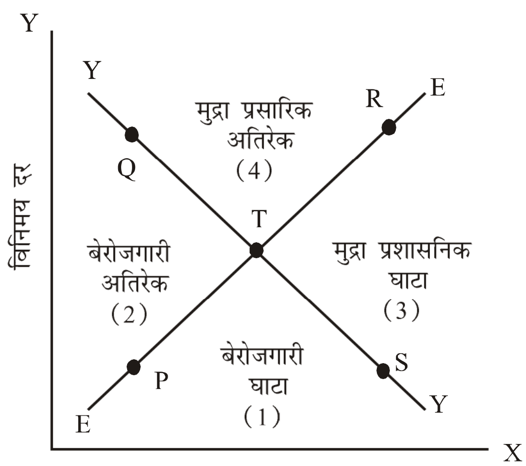

चित्र में X अक्ष पर वास्तविक घरेलू व्यय तथा Y अक्ष पर विनिमय दर (R) को दिखाया गया है। YY वक्र का ढ़ाल ऋणात्मक है। जो यह स्पष्ट करता है कि विनिमय दर व वास्तविक व्यय में विपरीत संबंध है। अतः जैसे–जैसे विनिमय दर बढ़ेगी। वास्तविक दर बढ़ेगी, वास्तविक व्यय में कमी होती जाएगी। YY वक्र के ऊपर की स्थिति मुद्रा प्रसार को बताती है तथा इसके नीचे के बिंदु बेरोजगारी के स्तर को बताते हैं। दूसरी ओर EE रेखा बाह्य संतुलन को बताती है, अर्थात इसके प्रत्येक बिंदु पर X-M है। अन्य शब्दों में शुद्ध पूंजी की गति शून्य है। EE वक्र का ढाल धनात्मक है जो यह स्पष्ट करता है कि अवमूल्यन भुगतान संतुलन की स्थिति को प्राप्त करने में सहायक है। EE रेखा के ऊपर के बिंदु अतिरेक तथा नीचे के बिंदु घाटे की स्थिति को बताते हैं।

टिप्पणी

वक्र EE तथा वक्र YY एक दूसरे को T बिंदु पर काटते हैं दोनों रेखाओं के एक दूसरे के काटने पर बने चार खण्डों को 1, 2, 3 तथा 4 से दिखाया गया है।

खंड 1 का कोई भी बिंदु जैसे P घाटे के साथ बेरोजगारी की स्थिति को बताता है।

खंड 2 का कोई भी बिंदु जैसे Q अतिरेक के साथ बेरोजगारी का सूचक है।

खंड 3 का कोई भी बिंदु जैसे S प्रसारिक घाटे को बताता है।

खंड 4 का कोई भी बिंदु R मुद्रा प्रसारिक अतिरेक को स्पष्ट करता है। इन बिंदुओं पर आंतरिक तथा बाह्य संतुलन के लिये जिस नीति का प्रयोग किया जाता है उसे निम्न तालिका के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

आंतरिक तथा बाह्य संतुलन नीति

बिंदु	आंतरिक संतुलन के लिए राजकोषीय नीति	बाह्य संतुलन हेतु नीति
P बेरोजगारी (घाटे के साथ)	विस्तारवादी	अवमूल्यन
Q बेरोजगारी (अतिरेक के साथ)	विस्तारवादी	पुनर्मूल्यन
S मुद्रा प्रसार (घाटे के साथ)	संरक्षित	अवमूल्यन
R मुद्रा प्रसार (अतिरेक के साथ)	संरक्षित	पुनर्मूल्यन

तालिका से स्पष्ट है कि घाटे के साथ बेरोजगारी की स्थिति में विस्तारवादी नीति को अवमूल्यन के साथ अपनाना चाहिए। यदि स्थिति अतिरेक के साथ बेरोजगारी की है तो विस्तारवादी नीति को पुनर्मूल्यन के साथ अपनाया जाना चाहिए। मुद्रा प्रसार के स्थिति घाटे के साथ है तो संरक्षित व अवमूल्यन की नीति को अपनाना चाहिए। इसके विपरीत जब मुद्रा स्फीति अतिरेक के साथ देश में विद्यमान रहती है तो संरक्षित नीति का पालन करते हुए मुद्रा के पुनर्मूल्यन की नीति को अपनाना चाहिए।

अपनी प्रगति जांचिए

7. कौन–सा उपाय प्रतिकूल भुगतान संतुलन के नियंत्रण में सहायक नहीं है
   (क) हीनार्थ प्रबंधन (ख) विनिमय नियंत्रण
   (ग) निर्यात प्रोत्साहन (घ) मुद्रा का अवमूल्यन
8. आयात प्रतिबंध की सबसे अधिक प्रचलित एवं प्राचीन विधि कौन–सी है?
   (क) आयात अभ्यंश (ख) आयात प्रशुल्क
   (ग) अभ्यंश कोटा (घ) विदेशी विनियोग

4.6 अंतर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाह

बीओपी असंतुलन के समंजन में अंतर्राष्ट्रीय पूंजी चलनों अथवा प्रबंध का बहुत महत्व है। पूंजी संसाधनों का विकसित देशों से संवेदनशील देशों को स्थानान्तरण देशों के ढांचे में गुणात्मक संवर्द्धन लाता है। दूसरी ओर यह विकसित देशों के वित्तीय साधनों के आधिक्य के लिए लाभदायक निवेश के अवसर दिलाता है। इस इकाई में अंतर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाहों से संबंधित भिन्न–भिन्न विषयों का अध्ययन करने का प्रयत्न किया गया है।

निर्धन देशों की विकास संबंधी बढ़ती आवश्यकता को पूरा करने का एक प्रमुख साधन अंतर्राष्ट्रीय या बाह्य ऋण है। 1950 के दशक के आरंभ से जब भारत ने अपने विकास कार्यक्रम को शुरू किया तब से भुगतान शेष की कठिनाइयों और बड़े पैमाने पर सरकारी बाहरी ऋणों के कारण विदेशी ऋणबद्धता की गंभीर स्थिति पैदा हुई। विकासशील देशों (भारत) के विदेशी ऋणों से संबंधित गंभीर विषयों पर भी इस इकाई में प्रकाश डाला गया है।

एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र के साथ पूंजी प्रवाह के विभिन्न प्रकार

पूंजी चलन (या प्रवाह) से अभिप्राय एक देश से दूसरे देश को पूंजी के बाह्य प्रवाहों और अंतर प्रवाहों से है। इन्हें अंतर्राष्ट्रीय पूंजी चलन भी कहते हैं। दूसरे शब्दों में यह देशों के बीच उधार लेना और उधार देना से संबद्ध है। परंतु पूंजी चलनों का संबंध देशों के बीच निर्यात और आयात के लिए भुगतान या वस्तुओं की गतियों से संबंधित है।

अंतर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाह के प्रकार

अंतर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाह के प्रकारों को निम्नांकित चित्र द्वारा समझा जा सकता है–

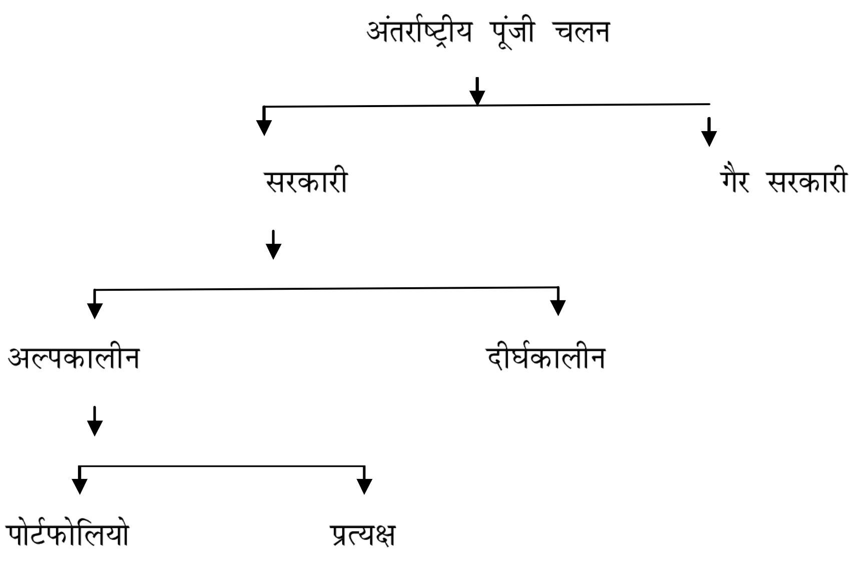

1. **सरकारी पूंजी चलन–** सरकारी पूंजी चलन से अभिप्राय सरकारों के बीच उधार देना और उधार लेना है। ये सीधे सरकार के नियंत्रण में होते हैं जिनका संचालन देश का मौद्रिक अधिकार जैसे केंद्रीय बैंक करता है सरकारी पूंजी चलनों में द्विपक्षीय नरम और कठोर कर्जे, बहुपक्षीय कर्जे और अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों जैसे

IMF, IDA आदि द्वारा ऋण भी शामिल होते हैं। इनमें बद्ध और अबद्ध दोनों प्रकार के कर्जे आते हैं।

2. **गैर–सरकारी पूंजी चलन–** ये निजी पूंजी चलन है जो व्यक्तियों और संस्थाओं द्वारा विदेशों से उधार लेना और उधार देना से संबंधित होते हैं। निजी पूंजी प्रायः उधार लेने वाले देश के केंद्रीय बैंक या सरकार द्वारा गारंटी की गई होती है। निजी पूंजी चलन लाभ उद्देश्य से प्रभावित होते हैं।
   (क) **अल्पकालीन पूंजी चलन–** इनका संबंध एक वर्ष से कम अवधि की अल्पकालीन पूंजी परिसंपत्तियों से होता है। अल्पकालीन पूंजी चलन करेंसी मांग जमाओं विनिमय पत्रों, कमर्शियल पेपर, खजाना बिलों आदि द्वारा होते हैं। ये देशों के केंद्रीय बैंक और कमर्शियल बैंकों द्वारा किये जाते हैं।
   (ख) **दीर्घकालीन पूंजी चलन–** ये एक वर्ष से अधिक अवधि की पूंजी परिसंपत्तियों के चलन होते हैं। इनमें बॉन्ड, परिवर्तनीय डिबेंचर, स्टॉक, बैंकों द्वारा सावधि कर्जे आदि शामिल होते हैं।

दीर्घकालीन पूंजी चलनों को आगे पोर्टफोलियो और प्रत्यक्ष निवेश से वर्गीकृत किया जाता है–

(i) **पोर्टफोलियो निवेश–** इनमें किसी अन्य देश की हस्तांतरणीय प्रतिभूतियों, कंपनी के शेयर, ऋण आदि सम्मिलित होते हैं। परंतु शेयर और ऋण–पत्र खरीदने वालों का कंपनी पर कोई अधिकार नहीं होता, उन्हें केवल लाभांश या ब्याज ही प्राप्त होता है जब वे इन्हें उसी देश में बेच देता है तो उस देश से पूंजी का बाह्य प्रवाह होता है। ये अप्रत्यक्ष निवेश भी कहलाते हैं।

(ii) **प्रत्यक्ष निवेश–** प्रत्यक्ष निवेश कई रूपों का हो सकता है। पूंजी आयातकारी देश में निवेशक देश की कंपनी की उपशाखा खोलना, ऐसी व्यापार संस्था की स्थापना, जिसमें निवेशक की कंपनी का बहुत हिस्सा हो, पूंजी आयातकारी देश में ऐसी कंपनी खोलना जिसमें पूर्णरूप से वित्त प्रबंधन निवेशक देश में स्थित मूल कंपनी करे, दूसरे देश में कार्य करने के विशेष उद्देश्य से निवेशक देश के निगम की स्थापना करना या निवेशक देश के नागरिकों द्वारा दूसरे देश में स्थिर परिसंपत्तियों का निर्माण करना। ऐसी कंपनियों या संस्थाएं अंतर्राष्ट्रीय निगत या बहुराष्ट्रीय कंपनियां कहलाती हैं।

अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन पूंजीप्रवाह की व्याख्या

अल्पकालीन पूंजी चलन

अल्पकालीन पूंजी चलनों का संबंध एक वर्ष से कम अवधि के उधार पत्रों से होता है ये चलन एक देश के निवासियों से अन्य देशों के निवासियों के दावों में परिवर्तन अथवा देश के निवासियों की विदेश के निवासियों को देयताओं में परिवर्तन द्वारा होते हैं। देश के निवासियों से अभिप्राय सरकार, केंद्रीय बैक, व्यापारिक बैंक, अन्य प्रकार के बैंक एवं वित्तीय संस्थाएं, वित्तीय मध्यस्थ, सटोरिए, औद्योगिक और व्यापारिक फर्में आदि से है। अल्पकालीन पूंजी चलनों में केंद्रीय बैंक के जमा खाते, व्यावसायिक बैकों के जमा खाते, बैंक के जमा खाते, व्यावसायिक बैंकों के जमा खाते, हुंडियां ओवरड्राफ्ट, बैंक नोट आदि शामिल होते हैं ये अनेक प्रकार से देश की मुद्रा पूर्ति को प्रभावित करते हैं।

अल्पकालीन पूंजी चलन मुद्रा आपूर्ति को निम्न प्रकार से प्रभावित करता है ही मुद्रा पूर्ति को प्रभावित करते हैं। जब अल्पकालीन पूंजी चलनों के कारण केंद्रीय बैंक के दायित्व तथा परिसंपत्तियों में परिवर्तन होते हैं, तो देश की मुद्रा पूर्ति में भी परिवर्तन होते हैं अल्पकालीन पूंजी के कारण मुद्रा पूर्ति में जो परिवर्तन होते हैं उन्हें तीन भागों में बांटा जा सकता है: प्राथमिक, द्वितीयक तथा तृतीयक।

1. **मुद्रा–पूर्ति में प्राथमिक परिवर्तन–** मुद्रा पूर्ति में प्राथमिक प्रसार या संकुचन भुगतान शेष के चालू खाते में आधिक्य या घाटे द्वारा प्रत्यक्ष होता है। जब देश के आयातों से निर्यात अधिक होते हैं तो निर्यातकों के पास मुद्रा की मात्रा में बढ़ोत्तरी होती है, इसके विपरित जब निर्यातों से आयात अधिक होते हैं, तो आयातकों के पास मुद्रा की कमी हो जाती है क्योंकि उन्हें निर्यातकों को प्राप्त आय से, अधिक भुगतान करने पड़ते हैं जिससे निबल मुद्रा आपूर्ति में कमी हो जाती है।
2. **मुद्रा आपूर्ति में द्वितीयक परिवर्तन–** अल्पकालीन पूंजी चलनों के कारण मुद्रा पूर्ति में द्वितीयक परिवर्तन बैंकों के रिजर्व पर प्रभाव द्वारा होते हैं। जब देश के आयातों से निर्यात अधिक होते हैं तो इनका भुगतान विदेशी मौद्रिक संस्थाओं के द्वारा देश के केंद्रीय बैंक में किया जाता है जिससे देशी बैंकों की जमाओं में वृद्धि होती है इसके आधार पर ये बैंक अधिक उधार दे सकते हैं जिससे साख या मुद्रा पूर्ति में द्वितीयक प्रसार होता है। इसके विपरीत, निर्यातों से आयात अधिक होने पर विदेशी बैंकों को अधिक भुगतान करने से देशी बैंकों के रिजर्व में कमी हो जायेगी जिससे इन बैंकों की उधार देने की क्षमता कम हो जायेगी।
3. **मुद्रा की पूर्ति में तृतीयक परिवर्तन–** जब केंद्रीय बैंक के रिजर्वों में वृद्धि होती है और यदि वह बैंकों के विनिमय पत्रों का बट्टा करे अथवा खुले बाजार प्रचालनों द्वारा प्रतिभूतियों को खरीदे तो उससे मुद्रा प्रसार होता है। वह अल्पकालीन पूंजी चलनों का तृतीयक प्रभाव कहलाता है। इसके विपरीत जब केंद्रीय बैंक की विदेशी देयताएं बढ़ने से रिजर्वों में कमी होती है तो वह खुले बाजार में प्रतिभूतियों को बेचता है तो मुद्रा की पूर्ति में जो कमी होती है वह भी अल्पकालीन पूंजी चलनों का तृतीयक प्रभाव होता है।

लोचशील विनियम दरों के अंतर्गत अल्पकालीन पूंजी चलनों में पर्याप्त जोखिम होता हैं यदि विनिमय जोखिम नहीं उठाये जाते तो अल्पकालीन पूंजी चलन संभव नहीं है। अस्थिरताकारी सट्टा के अंतर्गत आयातों के निर्मातों से अधिक होने पर पूंजी का बाह्य प्रवाह होता है जिससे केंद्रीय बैंक के रिजर्व में अत्यधिक कमी होती है तथा मुद्रा का संकुचन होता है इसके विपरीत, अस्थिरताकारी सट्टा होने पर बंटा आयातों से निर्यात अधिक होते हैं तो विनिमय दर के बढ़ने तथा ब्याज दर के कम होने से पूंजी का अंतर्प्रवाह होता है जिससे बैंक रिजर्व में वृद्धि होती है तथा मुद्रा पूर्ति में प्रसार। इसी प्रकार परिवर्तनीय कागजी मुद्रामान में स्थिरताकारी सट्टे द्वारा अल्पकालीन पूंजी गतियां हो सकती हैं जिनसे विनिमय दर की समायोजन सीमा निश्चित की जा सकती है अथवा अस्थिरताकारी सट्टे से अल्पकालीन पूंजी चलनों द्वारा विनिमय दर के समायोजन की उच्च सीमा निश्चित की जा सकती है।

दीर्घकालीन पूंजी चलन

दीर्घकालीन पूंजी चलन एक वर्ष की परिपक्वता से अधिक उधार–पत्रों द्वारा होते हैं। इनमें बॉन्ड परिवर्तनीयत डिबेंचर स्टॉक, बैंकों द्वारा सावधि कर्जे आदि सम्मिलित होते हैं ये नई प्रतिभूतियों, विशेषकार बॉन्डों के माध्यम से अथवा बकाया प्रतिभूतियों में व्यापार द्वारा भी होते हैं। दीर्घकालीन पूंजी चलन निजी और सरकारी दोनों प्रकार के बैंकों, अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं जैसे विश्व बैंक यूरोपीय निवेश बैंक, एशियाई विकास बैंक आदि तथा सरकार द्वारा स्थापित एजेंसियों के माध्यम से होते हैं।

अंतर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाह के कारण

अंतर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाह के कारणों व उनसे होने वाले लाभों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

अंतर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाह के कारण

1. **निवेश का ऊंचा स्तर–** अल्पविकसित देश कम समय में ही तेजी से औद्योगीकरण करना चाहते हैं इसलिए यह जरूरी हो जाता है कि वे निवेश स्तर में तेजी से वृद्धि करें। ऐसा करने के लिए ऊंची बचत दर का होना आवश्यक है परंतु व्यापक गरीबी के कारण इन देशों में बचत अक्सर बहुत कम हो पाती है। इसलिए निवेश की वांछित मात्रा और बचत की वास्तविक उपलब्धि के बीच अंतर रह जाता है। इस अंतर को पूरा करने के लिए विदेशी पूंजी आवश्यक है।
2. **आधुनिक तकनीक की उपलब्धि–** अल्पविकसित देशों में तकनीकी ज्ञान कर स्तर भी नीचा है। अत: जब इन देशों को विदेशी पूंजी के साथ तकनीकी ज्ञान की भी प्राप्ति होती तो औद्योगीकरण के लिए उपयुक्त परिस्थितियां बन जाती हैं भारत में तकनीकी सहायता ने तीन प्रकार से मदद पहुंचाई है– (1) विदेशी विशेषज्ञों की सेवाओं द्वारा (2) भारतीय कर्मचारियों के प्रशिक्षण द्वारा तथा (3) देश में शैक्षिक अनुसंधान व प्रशिक्षण संस्थाओं की स्थापना द्वारा।
3. **प्राकृतिक साधनों का विदोहन–** अनेक अल्पविकसित देश प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से संपन्न होते हुए भी गरीब और पिछड़े हुए हैं। इन देशों मे लिए अपनी निजी पूंजी द्वारा साधनों का दोहन संभव नहीं है। विदेशी पूंजी के पक्ष में कहा जाता है कि उसके प्राप्त हो जाने पर वे देश अपने उन साधनों का दोहन पर औद्योगिक विकास का ऊंचा स्तर प्राप्त करने में सफल होते हैं जिन्हें अन्यथा वे इस्तेमाल नहीं कर पाते।
4. **प्रारंभिक जोखिम–** अल्पविकसित देशों में प्राय उद्यमी वर्ष का अभाव होता है। अत: औद्योगीकरण में बाधा पड़ती है। विदेशी पूंजी के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि यह इन देशों में पहुंचकर प्रारंभिक जोखिम को झेलती है। इस प्रकार जब एक बार औद्योगीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है तो देशी पूंजीपति भी उद्योगों की स्थापना में दिलचस्पी दिखाने लगते हैं परंतु तथ्यों से इस तर्क की पुष्टि नहीं होती। आज भी वे सभी देश औद्योगीकरण की दृष्टि से पिछड़े हैं जिनमें प्रारंभिक औद्योगिक विकास विदेशी पूंजी के द्वारा हुआ था।

5. **आधारभूत आर्थिक ढांचे का विकास–** आधारभूत आर्थिक ढांचे के विकास के लिए प्रायः स्वदेशी पूंजी का अभाव रहता है। परंतु ऋणों के रूप में विदेशी पूंजी उपलब्ध हो जाती है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं तथा विभिन्न देशों की सरकारों ने अल्पविकसित देशों को परिवहन के साधनों के निर्माण, बिजली विकास तथा सिंचाई के साधनों व्याख्या के लिए भारी मात्रा में कर दिए हैं।
6. **भुगतान शेष की स्थिति में सुधार–** विकासशील देशों को आर्थिक विकास के लिए भारी मात्रा में मशीनों, संयंत्रों, कच्चे पदार्थों आदि का आयात करना होता है। इससे भुगतान शेष प्रायः प्रतिकूल हो जाता है। यह स्थिति दीर्घकाल तक नहीं रह सकती है। विदेशी पूंजी के मिलने पर इस समस्या का अल्पकालीन हल निकल आता है।

विदेशी पूंजी की उपलब्धि से आयातक देश में आर्थिक विकास की गति तेज होना स्वाभाविक है। इसलिए यदि विदेशी पूंजी बिना किसी प्रतिबंध के सरल शर्तों पर मिल सकती है तो उसका स्वागत किया जाना चाहिए। जॉपील्युइस के अनुसार इनकार करने के बावजूद यह एक तथ्य है कि विदेशी सहायता के साथ प्रतिबंध होते हैं। और प्रत्येक विदेशी सहायता से संबंधित शर्तो के बारे में सहायता लेने और देने वाले पक्षों के बीच सौदेबाजी होती है। विदेशी पूंजी संबंध में ल्युइस का विचार सही है। इसलिए पूंजी को आमंत्रित करते समय बहुत सावधानी से कम लेना चाहिए।

अंतर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाह के लाभ

विकसित देशों से कम विकसित देशों को पूंजी अंतरणों के मुख्य लाभ निम्नलिखित हैं–

1. **तकनीकी अंतराल को कम करना–** कम विकसित देशों में अकुशल श्रम की बहुतायत और पुरानी पूंजी संयत्रों के कारण श्रम और पूंजी की कम उत्पादकता उनके तकनीकी पिछड़ेपन को प्रकट करती है। तकनीकी बाधा उन्हें सारे उपलब्ध और संभावित उत्पादक साधनों का प्रयोग नहीं कर देती। विकसित देशों से पूंजी का अंतर्प्रवाह पूंजी की कमियों को दूर करने के अतिरिक्त विकसित टैक्नोलॉजी और कुशलताओं, संगठनात्मक अनुभव और बाजार प्रबंधन को लाता है। यह घरेलू श्रम को ट्रैनिंग देने, तकनीकी और वैज्ञानिक खोज के मूलभूत ढांचे को स्थापित करने और वस्तुओं की नई किस्मों को पैदा करने में सहायता करता है। इस प्रकार पूंजी चलन विकासशील देशों में तकनीकी अंतरालों को बांटने में योगदान करते हैं।
2. **आय, उत्पादन और रोजगार बढ़ाना–** विदेशी पूंजी से मूलभूत ढांचे का निर्माण करके, भारी और मूल उद्योगों को स्थापित करके, कच्चे माल के स्रोतों का प्रयोग करके और नये बाजार स्थापित करके सरकार विकासशील देशों में रोजगार के अवसरों का बहुत अधिक विस्तार कर सकती हैं नई कृषि मशीनरी और रासायनिक खादों के प्रयोग से कृषि का आधुनिकीकरण विदेशी पूंजी की सहायता से किया जा सकता है। इससे खेती से आधिक्य पैदा करके उसे औद्योगिक क्षेत्रों में प्रयोग किया जा सकता है विदेशी पूंजी से विनिर्माण उद्योगों के विस्तार से खेती से हटाये गए श्रम आधिक्य का अवशोषण किया जा सकता है।

3. **व्यापार की शर्तों में सुधार–** कम विकसित देशों को प्रायः लम्बे समय तक प्रतिकूल व्यापार शर्तों का सामना करना पड़ता है। इन देशों की निर्यात क्षमता सीमित होती है निर्यात या तो लगभग स्थिर होते हैं या उनमें गिरावट आती है प्राथमिक वस्तुओं की अंतर्राष्ट्रीय कीमतों में कमी होने से व्यापार की शर्तो का दीर्घकालीन ह्रास होता है। साथ ही इन देशों में आयात की प्रवृत्ति शक्तिशाली होती है, इन्हें बड़े पैमाने पर खाद्यान्नों, खाने के तेलों, औद्योगिक कच्चा माल, कल–पुर्जों, पूंजी वस्तुओं सुरक्षा सामग्री इत्यादि का आयात करना पड़ता है। विकास कार्यक्रम के लिए प्रायः विदेशी विनिमय की बहुत अधिक आवश्यकता होती है। इन्हें प्रायः ऋणों का भुगतान करना होता है। ऐसी हालातों में उन्हें भारी BOP कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। विदेशी सहायता का बड़ा अंतर्प्रवाह आयात के लिए भुगतान और ऋणों के भुगतान में सहायता करता है।
4. **आधारभूत उद्योगों का विकास–** कम विकसित देशों के आर्थिक रूपान्तरण के लिए स्टील, भारी बिजली का सामान मशीनरी औजार, भारी इंजीनियरिंग तेल शोधन, खाद, भारी रसायन, खनन, परिवहन और सुरक्षा संयंत्रों जैसे भारी और मूलभूत उद्योगों का विकास करने की आवश्यकता है ऐसे औद्योगिक आधार को पैदा करके ये देश भविष्य के औद्योगिक विस्तार की बहुत उत्साहित कर सकते हैं परंतु इन सभी उद्योगों की पूंजी–महानता अधिक है और उनकी गर्भावधि लम्बी है केवल विदेशी पूंजी के काफी बड़े अंतर्प्रवाह से ही विकासशील देश भारी और मूलभूत उद्योगों के ढांचे को विकसित करने की आशा करते हैं।
5. **अधोसंरचना के विकास के लिए आवश्यक–** कम विकसित देशों में विकास की प्रक्रिया आर्थिक और सामाजिक ऊपरी पूंजी के अभाव में रुकी रहती है। इनमें परिवहन और संचार–साधन, सिंचाई और बिजली, शिक्षा, ट्रैनिंग और शोध संस्थाएं और स्वास्थ्य सेवाएं शामिल हैं। आर्थिक उपरि पूंजी को विकसित करने के लिए भारी निवेश की आवश्यकता होती है यह प्रायः कम विकसित देशों की सामर्थ्य के बाहर है कि वे मूलभूत ढांचा पैदा कर सके। भारत और कई विकासशील देशों में विदेशी पूंजी ने इस विषय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।
6. **बचत तथा निवेश की दरों में वृद्धि–** विकासशील देशों में आर्थिक विकास की धीमी गति के लिए बचत और निवेश की नीची दरें हैं। उदाहरण के लिए भारत में स्वंतत्रता के समय बचत की दर केवल 5 प्रतिशत थी। सकल निवेश की दर भी लगभग इतनी ही थी। इस कम बचत और निवेश दर के कारण बढ़तर जनसंख्या तथा विकास की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए देश 2 से 2. 5 प्रतिशत वार्षिक से अधिक दर पर वृद्धि नहीं कर सकता था। नियोजन के पिछले पांच दशकों में बचत तथा निवेश की दरों को 20 प्रतिशत वार्षिक दर तक बढ़ाया जा सका और वृद्धि की दर औसत रूप में 3 से 3.5 प्रतिशत वार्षिक रही। नियोजन के आरंभ से विदेशी पूंजी के बड़ी मात्रा में प्रवाह को वृद्धि की ऊंची दर के लिए श्रेय दिया जा सकता है।
7. **देशी उद्यम को प्रोत्साहन–** विकास के प्रारंभिक चरणों में कम विकसित देशों में मूलभूत ढांचे और निपुण श्रम के अभाव और बाजार के छोटे आकार के कारण

निवेश में भारी जोखिम पाया जाता है। स्वदेशी निवेशक निवेश तथा उद्यम से झिझकते हैं परंतु विदेश निवेशक या उद्यमी अनिर्धारित जोखिम उठाने का हौसला रखते हैं और अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में उद्यमों को स्थापित करते हैं। इससे स्वदेशी उद्यमियों को भी प्रोत्साहन मिलता है।

8. **कल्याण अधिकतमीकरण–** देश के संसाधनों का अधिक तथा सही प्रयोग होता है। आजकल सरकारें, निजी तथा अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएं जो दीर्घकालीन पूंजी उधार देती हैं। वे यह सुनिश्चित करती हैं कि उधार ली गई पूंजी का उपयुक्त कार्यों, परियोजनाओं एवं उद्योगों में प्रयोग हो। इसलिए पूंजी चलन उन दिशाओं मे प्रवाहित होते हैं जहां अधिकतम कल्याण हों।
9. **श्रम के लिए लाभदायक–** विदेशी पूंजी जब औद्योगिक विस्तार लाती है तो श्रम की मांग में वृद्धि होने से मजदूरों की वास्तविक मजदूरी में वृद्धि होती है उत्पादन में वृद्धि और नई किस्में पैदा होने से उत्पादों की किस्तों में कमी होती है और मजदूरों के रहन–सहन में गुणात्मक सुधार होता है जब विदेशी पूंजी और विकसित तकनीकों का अंतर्प्रवाह होता है जब विदेशी पूंजी और विकसित तकनीकों का अंतर्प्रवाह होता है तो निपुणता पैदा होती है और वैज्ञानिक प्रबंधन होता है जो न केवल उत्पादन के ऊंचे स्तरों का विश्वास दिलाते हैं बल्कि विकास की सारी प्रक्रिया में भी तेजी लाती हैं।
10. **आधुनिक मूल्य प्रणाली–** कम विकसित देशो के परंपरागत समाजों की ओर पूंजी, और उद्यम के प्रवाह उनके कठोर मेहनत वैज्ञानिक भावना, आधुनिक दृष्टिकोण अधिक प्रबंधन का झुकाव और अधिक आत्मविश्वास भरते हैं मूल्य प्रणाली में ऐसे परिवर्तन विकास की निरन्तर प्रक्रिया के लिए रास्ता तैयार करते हैं।
11. **ब्याज दरों में समानता लाना–** अंतर्राष्ट्रीय पूंजी चलनों से देशों के बीच ब्याज दरों में समान होने की प्रवृत्ति पाई जाती हैं। यदि अंतर्राष्ट्रीय पूंजी चलनों में कोई रुकावट ना हो तो पूंजी का प्रवाह अधिक पूंजी वाले देश से पूंजी की कमी वाले देश को होगा क्योंकि वहां पूंजी पर अधिक ब्याज होगा। अंततः पूंजी निर्यातक देश में ब्याज दर बढ़ जायेगी और पूंजी आयातक देश में कम हो जायेगी।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यहां कहा जा सकता है कि विदेशी पूंजी निर्धन देशों के विकास में बहुत बड़ा योगदान करती है यह खेती के आधुनिकीकरण, उत्पादन संसाधनों की खोज और इष्टतम प्रयोग, मूलभूत ढांचे को पैदा करने, औद्योगीकरण में बाजारों के विस्तार में, उद्यम शुरू करने को जोखिम पर काबू पाने में, रोजगार को अधिकतम करने में स्फीतिक दबाबों को घटाने में, BOP के घाटे को दूर करने में, तकनीकी विकास और नई निपुणताओं, प्रतिभाओं और आधुनिक दृष्टिकोण लाने में सहायता करती है। विदेशी सहायता इस प्रकार विकासशील देशों में सामाजिक और आर्थिक ढांचे में पूरा रूपान्तरण करने में समर्थ हैं।

अंतर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाह की हानियां

पूंजी प्रवाह के कुछ अवगुण होते हैं जो प्राप्त कर्ता देश को लागत के रूप में उठाने पड़ते हैं और जो उसके प्रभावों को निष्प्रभावों कर देते हैं। वे निम्न प्रकार हैं–

1. **राजनैतिक प्रभुता–** सहायता लेने वालों देशों को प्रायः सहायता देने वाले देशों से राजनैतिक दबाव का सामना करना पड़ता हैं वे ऋणी देशों पर विशेष आर्थिक और राजनैतिक नीतियां अपनाने के लिए जोर देते हैं वे नीतियां प्रायः कम विकसित देशों के हितों के विरुद्ध होती हैं और वे सहायता देने वाले देशों के हितों को पूरा करती है। कम विकसित देशों को पश्चिमी साम्राज्यवाद के अंतर्गत विदेशी दासता का कष्टदायी अनुभव है। संसार अमेरिका के द्वारा रूस के बाजू मरोड़ने का गवाह है जिसके दवाब में उसे भारत के साथ क्रायोजीनिक राकेट इंजन के समझौते को रोकना पड़ा। भारत द्वारा मई 1998 में एटमी धमाका करने के बाद अमेरिका और कई अन्य विकसित देशों ने भारत पर कई प्रतिबंध लागू किये जिनमें विश्व बैंक और एशियाई विकास बैंक आदि बहुराष्ट्रीय संस्थाओं से ऋणों की मनाही और अमेरिकी संस्थाओं के द्वारा साख गारंटी की मनाही आदि शामिल थे। इसी प्रकार से चीन, इराक, ईरान और कई अन्य देशों पर दबाव डाला गया। इससे निर्धन देशों में राजनैतिक नेताओं अर्थशास्त्रियों और आम जनता में विदेशी सहायता प्राप्त करने के औचित्य के बारे में संदेह रहे हैं।
2. **घरेलू बचतों पर बुरा प्रभाव–** उपभोक्ता वस्तुओं के आयात के रूप में विदेशी सहायता और विलास वस्तुओं के उत्पादन की ऊंची प्राथमिकता देने से उपभोग के खर्च में वृद्धि होगी। इसके परिणामस्वरूप घरेलू बचतों में कमी होती है। विदेशी पूंजी के अधिक अंतर्प्रवाह के कारण कम विकसित देशों में सरकार और लोग घरेलू बचतों को बढ़ाने के लिए कम प्रयत्न करते हैं। कई बार विदेशी पूंजी घरेलू पूंजी में वृद्धि नहीं करती बल्कि उसे घटा देती हैं।
3. **पूंजी प्रधान तकनीक का अधिक प्रभाव–** यह सत्य है कि नई विदेशी पूंजी कम विकसित देशों में नई टैक्नोलॉजी ला सकती है। परंतु इन देशों का यह अनुभव है कि उन्हें दी गई टैक्नोलोजी या तो विकसित देशों के तकनीकी स्तर से पुरानी पड़ गई होती है या फिर वह उनके संसाधनों की प्राप्ति के साथ संगति नहीं रखती। पूंजी की कमी और श्रम आधिक्य वाले देशों में पूंजी–गहन और श्रम की बचत करने वाली तकनीकों के प्रयोग से मुद्रा स्फीति, बेकारी और BOP के घाटे जैसे गंभीर समस्याएं पैदा हो जाती हैं।
4. **शुद्ध निवेश में वृद्धि नहीं–** कम विकसित देश प्रायः विदेशी पूंजी के अंतर्प्रवाह और प्रयोग पर नियंत्रण लागू करते हैं। लाभों और पूंजी को वापिस भेजने पर भी रोक लगाये जाते हैं। इनके कारण विदेश से पूंजी के अंतर्प्रवाह में कमी होती है। नियंत्रणों के तंत्र के कारण स्वदेशी तथा घरेलू उद्यम अतिरिक्त क्षमता के साथ कार्य करते हैं घरेलू और विदेशी निवेशकों में ऐसी दशा में निवेश न करने का झुकाव है। विदेशी और घरेलू निवेशकों की बाहर निकलने की नीति और भारी वार्षिक ऋण भुगतान की देनदारियों के कारण पूंजी का बहिर्वाह होता है। कई बार–यह पूंजी के अंतर्प्रवाह से अधिक हो जाता है। इसका अर्थ है कि कम विकसित देशों में शुद्ध निवेश को बढ़ाने के लिए घरेलू कर घट जाने का झुकाव होता है। इस प्रकार विदेशी पूंजी संभवतः निवेश में वृद्धि न करे बल्कि निवेश में शुद्ध कमी पैदा कर सकती है।

5. **विदेशी पूंजी के उचित उपयोग की समस्या–** जब विदेशी पूंजी कम ब्याज पर या आसानी से उपलब्ध हो जाती है तो विलास की वस्तुओं या अन्य व्यर्थ की वस्तुओं के उत्पादन में लगे कम अधिमान प्रॉजेक्टों में इसका दुरुपयोग होने की संभावना रहती है। विकासशील देशों में कई बार गैर खाद्यान्न वस्तुओं जैसे नहाने का साबुन, टूथब्रश, शृंगार प्रसाधनों इत्यादि को पैदा करने के लिए भी विदेशी सहायता का उपयोग किया जाता है। ऐसे उत्पादन पर न केवल विदेशी पूंजी का दुरुपयोग होता है बल्कि इसके साथ पूरक स्वदेशी पूंजी की भी फिजूलखर्ची होती है।
6. **बढ़ता विदेशी ऋणों का बोझ–** यदि विदेशी पूंजी का प्रयोग अनुत्पादक उद्देश्यों या उपभोग के लिए वित्त–व्यवस्था करने के लिए किया जाता है जो विदेशी ऋण के बोझ के बढ़ने का भय रहता है। विकासशील देशों में से केवल कुछ देशों को छोड़कर, विदेशी पूंजी से आय को बढ़ाने की क्षमता में वृद्धि करने में आमतौर पर असफलता मिलती है।
7. **कीमतों में वृद्धि–** प्रायः पाया जाता है कि कम विकसित देशों में विदेशी पूंजी का प्रयोग पूंजी गहन प्रोजेक्टों में किया जाता है जिनकी गर्भाविधि काफी लम्बी होती है। बढ़ते हुए निवेश खर्च और इसके परिणामस्वरूप साधन आयों में वृद्धि से जब उत्पादन या पूर्ति फलन कम लोचपूर्ण हो तो स्फीतिक हालतें और शक्ति पकड़ती हैं।
8. **प्रबंधकीय पद देशवासियों को–** अल्पविकसित देशों में कार्य कर रही बहुत-सी विदेशी कंपनियां सभी प्रमुख प्रबंधकीय पद अपने देशवासियों के लिए रिजर्व रखती हैं तथा उन्हें अनेक प्रकार के ऊंचे वेतन देती हैं जिससे प्राप्तकर्ता देश के संसाधनों का भारी विकास होता है। अधिकतर वे देशी लोगों को निम्न और मध्य स्तर के पदों के लिए प्रशिक्षण देते हैं।
9. **असंतुलित विकास–** विदेशी कंपनियां बड़े कस्बों और शहरों में उद्योग लगाती है जहां बुनियादी सुविधाएं आसानी से उपलब्ध होती हैं इससे देश का असंतुलित विकास होता है क्योंकि पिछड़े क्षेत्रों में विकास नहीं हो पाता। इस प्रकार क्षेत्रीय असमानताएं उत्पन्न होती हैं।
10. **आर्थिक संकट उत्पन्न होना–** विदेशी अंतर्प्रवाह पूंजी सकट को उत्पन्न करता है जब लाभ की संभावना अधिक होती है तो अल्पविकसित देशो में इसका अंतर्प्रवाह बढ़ जाता है परंतु जब लाभ की संभावना कम होती है तो विदेशी निवेशक अपनी पूंजी को निकाल लेते हैं इससे पूंजी, प्राप्तकर्ता देश में वित्तीय संकट उत्पन्न हो जाता है और मंदी छा जाती है।
11. **समाजिक तनाव–** विदेशियों की बहुत व्यय करने की आदतें और उनका रहन–सहन का स्तर अल्पविकसित देशों के लोगों पर अवांछनीय प्रदर्शनकारी प्रभाव डालती हैं तथा सामाजिक तनाव उत्पन्न करती है।
12. **विदेशी पूंजी–** सहायता देने वाला देश प्रायः सहायता पाने वाले देशों पर मनमानी और स्वीकार न की जा सकने वाली शर्तें लागू कर देते हैं उदाहरण के लिए, उनके

देशों के विशिष्ट उत्पादकों से पूंजी वस्तुओं और कच्चे मालों को खरीदने की शर्त के साथ वे सहायता देते हैं। प्राय: ये आदान वे प्रतियोगी कीमतों से ऊंची कीमतों पर उपलब्ध कराते हैं। सहायता प्राप्त करने वाले देशों के पास उन अनुचित शर्तों को मानने के अलावा कोई विकल्प नहीं होता। इन शर्तों में ब्याज की कम वास्तविक दरें, अति मूल्य–युक्त विनिमय दर, निर्यात अनुदानों में कमी, प्रशुल्कों को घटाना आदि होते हैं। कम विकसित देशों पर लादी गई शर्तें प्राय: उनके दीर्घकालीन हितों के लिए हानिकारक होती है।

13. **देशीय उद्यम का हतोत्साहित होना–** जब विदेशों से पूंजी अंतर्प्रवाह होता है तो घरेलू निवेश के साथ प्रतिस्पर्धा करता है जिससे यह आय वितरण पर बुरा प्रभाव डालता है देशी उद्योगों की अपेक्षा पूंजी और अन्य संसाधन विदेशी उद्यमों में प्रवाहित होते हैं। इससे घरेलू उद्यमों के लाभ कम हो सकते हैं और वे हतोत्साहित होने लगते हैं।

यह सच है कि विदेशी सहायता तथा पूंजी पर निर्भरता के गंभीर जोखिम तथा खतरे हैं परंतु साथ ही दूसरी ओर कम विकसित देशों की विकास की प्रक्रिया में इनके लाभों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। ऐसे प्रयत्न करने चाहिए विदेशी पूंजी विकासशील देशों पर प्रतिकूल प्रभाव न डाल सके। कम विकसित देशों को यह सावधानी रखनी चाहिए कि सहायता के अंतर्प्रवाह पर अनावश्यक आर्थिक और राजनैतिक संबंधों को स्वीकार ना किया जा सके। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सहायता को योजना की स्वीकार की गई प्राथमिकता वाले क्षेत्रों में सहायता की फिजूल खर्ची से सावधानी से बचाव चाहिए।

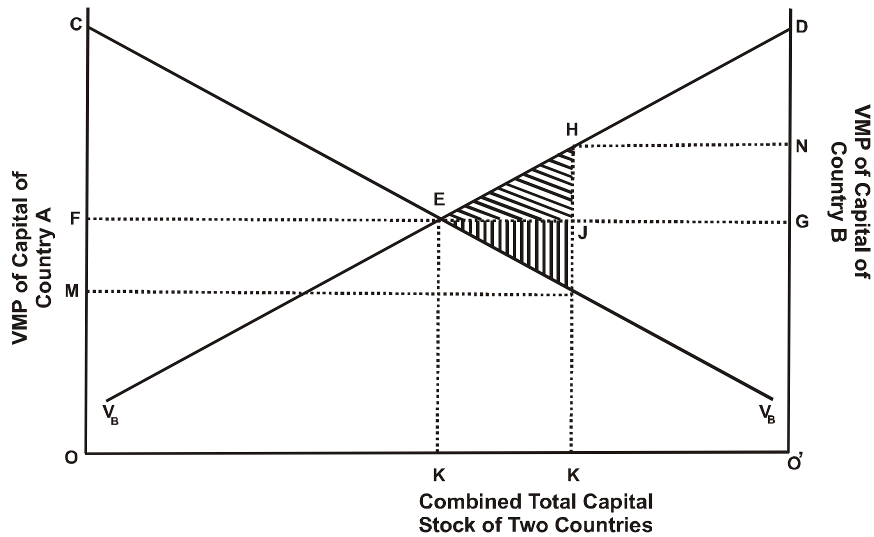

चित्र

चित्र में OO' दो देशों A और B का संयुक्त कुल पूंजी भण्डार है। आरंभ में OK देश A का और O'K देश B का पूंजी भण्डार है। VA देश के पूंजी के सीमान्त उत्पादन के मूल्य का वक्र है और VB देश B के पूंजी के सीमान्त उत्पादन के मूल्य का वक्र है और VB देश B के पूंजी के सीमान्त उत्पादन के मूल्य का वक्र है। दोनों ही वक्रों की ढाल ऋणात्मक है और यह प्रकट करती है कि दो देशों में पूंजी के सीमान्त उत्पाद घटते

हैं। पूंजी के सीमान्त उत्पाद का मूल्य (VMP) पूंजी के प्रतिफल या आय को प्रकट करता है।

निवेशक देश A अकेला अपना सारा पूंजी भण्डार OK देश के अन्दर KL अथवा OM आय पर निवेशक कर देता है। कुल उत्पाद OCLK है। इस OKLM पूंजी के मालिकों को और शेष भूमि, श्रम जैसे उत्पादन के अन्य साधनों को जाता है। देश BC घरेलू देश अकेले में अपना सारा पूंजी भण्डार O'K देश के अन्दर O'NHK पूंजी को जाता है और बाकी DHN अन्य सहकारी साधनों को जाता है। यदि पूंजी का मुक्त अंतर्राष्ट्रीय चलन होता है तो पूंजी का प्रवाह देश A से B को होगा। क्योंकि देश B में पूंजी का प्रवाह देश A से B को होगा क्योंकि देश B में पूंजी पर प्रतिफल देश A की तुलना में अधिक है यदि KK_1 पूंजी पर प्रतिफल दोनों देशों में एक समान (EK1=OF=0.6) हो जाता है।

आधार में निस्तार और करों से इकट्ठी की गई रकमों में वृद्धि होती है।

(अ) व्यापार की शर्तों पर प्रभाव

पूंजी प्रवाह उत्पादन और व्यापार की मांग पर प्रभाव डालकर व्यापार की शर्तों को प्रभावित कर सकता है। इस बात की संभावना है कि व्यापार की शर्तें निवेशक देश के पक्ष में और घरेलू देश के विरुद्ध हो जाये।

(ब) तकनीकी अंतराल पर प्रभाव

अंतर्राष्ट्रीय पूंजी अंतरण से पहले संभव है कि निवेशक और घरेलू देशों में तकनीकी अंतराल काफी अधिक हो परंतु, सयंत्रों, तकनीकी ज्ञान, वैज्ञानिक प्रबंधन, पेटेंटों के प्रयोग, ब्रांडों के नाम आदि ससांधनों के पैकेज के स्थानान्तरण से निवेशक और घरेलू देशों में तकनीकी अंतराल पहले की अपेक्षा कम हो जाता है।

घरेलू देश की अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण पर प्रभाव– बड़े पैमाने के पूंजी अंतरण इस हालत में देश देश A में कुल उत्पाद $OCEK_1$ है। इसमें K_1EJK को जोड़ना चाहिए जो विदेशी निवेशों पर प्रतिफल है। कुल राष्ट्रीय आय की मात्रा OCEJK है। यह दिखाता है कि देश A के लिए शुद्ध लाभ EJK तक बढ़ता है और अन्य साधनों को प्रतिफल CEF तक घट जाता है।

घरेलू देश B के संबंध में, विदेश से KK1, मात्रा में पूंजी का अंतर्प्रवाह होता है। पूंजी पर प्रतिफल की दर O'N से OG तक घट जाती है। देश B में कुल उत्पाद O'DHK से $ODEK_1$ तक बढ़ जाता है। इस प्रकार देश में कुल उत्पाद K_1EHK मात्रा में बढ़ जाता है। इसमें से K_1EJK विदेशी निवेशकों को जाता है। देश B को प्राप्त होने वाले कुल उत्पाद में शुद्ध वृद्धि EJH हैं। पूंजी के घरेलू मालिकों को कुल प्रतिफल O'NHK से घटकर O'GJK हो जाता है। अन्य साधनों को कुल प्रतिफल DHN से बढ़कर DEG हो जाता है।

इकट्ठे दोनों देशों अथवा कुल विश्व के दृष्टिकोण से देखने पर, कुल उत्पाद OCLK + O'DHK से बढ़कर $OCEK_1 + O'DEK_1$ हो जाता है। सारे विश्व के कुल उत्पाद में वृद्धि EJL + EJH = ELH है। इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाह संसाधनों के वितरण की कुशलता अंतर्राष्ट्रीय स्तर बढ़ाते हैं और विश्व उत्पादन और कल्याण बढ़ जाते

हैं। V_A और V_B वक्रों का तिरछापन जितनी अधिक हो, उतना ही अंतर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाहों से लाभ अधिक हो सकता है।

अन्य प्रभाव

अंतर्राष्ट्रीय प्रवाहों के उपरोक्त प्रभावों के अतिरिक्त कुछ और प्रभाव भी होते हैं जो निम्नांकित हैं-

1. **श्रम के रोजगार पर प्रभाव–** यदि यह मान लिया जाता है कि उत्पादन के दो साधन श्रम और पूंजी पहले पूर्ण रोजगार में थे तो पूंजी के स्थानांतरण के बाद पूंजी के कुल और औसत प्रतिफल में निवेश करने वाले देश में वृद्धि और श्रम के कुल और औसत प्रतिफल में कमी होगी। यद्यपि कुल मिलाकर निवेशक देश को विदेशी निवेशों से लाभ होता है परंतु घरेलू आय में श्रम से पूंजी की ओर आय का वितरण होता है। घरेलू देश में पूंजी के प्रवाहों से लाभ पूंजी से श्रम की ओर आय के पुन: वितरण के रूप में होता है। यदि निवेशक देश में पूर्ण रोजगार से कम स्थिति है तो पूंजी के स्थानान्तरण से रोजगार के स्तर के दब जाने का झुकाव होगा। परंतु घरेलू देश में रोजगार में संभवत: वृद्धि होगी। इसी कारण से ही अमेरिका से संगठित श्रम के द्वारा विदेशों में अमेरिकी निवेशों का विरोध किया जाता है।

2. **भुगतान शेषों पर प्रभाव–** अंतर्राष्ट्रीय पूंजी चलन निवेशक और घरेलू देशों के BOP को प्रभावित करते हैं। जिस माल में पूंजी का अंतरण होता है, निवेशक देश में BOP का घाटा पैदा हो जाता है। दूसरी ओर घरेलू देश में उस साल BOP में सुधार हो जाता है। 1960 के दशक में अमेरिका के विदेशी निवेश कार्यक्रम के कारण उसके लिए BOP का भारीघाटा पैदा हो गया। इससे 1965 से 1974 तक अमेरिकी में विदेशी निवेशों पर नियंत्रण लगाये गए। परंतु निवेशक देश के द्वारा प्राथमिक पूंजी स्थानान्तरण और विदेशों में खर्च के कारण पूंजी वस्तुओं, कल–पुर्जों और अन्य उत्पादों के निर्यातों में वृद्धि होती है। औसत रूप में पांच या दस साल के अंतराल के बाद निवेशक देश की ओर लाभ का प्रवाह होता है। परंतु लम्बे समय में इस बात की संभावना भी होती है कि निवेशक देश के निर्यातों तथा आयातों का प्रतिस्थापन हो सकता है। इससे निवेशक देश के लिए पूंजी अंतरण का प्रभाव अनिश्चित हो जाता है जबकि इसका अल्प–कालीन अथवा तात्कालिक प्रभाव इसके लिए ऋणात्मक होता है। घरेलू देश के लिए पूंजी अंतरण का BOP पर प्रभाव धनात्मक (Positive) होता है।

3. **करों पर प्रभाव–** पूंजी अंतरण का निवेशक और घरेलू देश दोनों पर प्रभाव कराधान की विभिन्न दरों और भिन्न देशों में विदेशी आयों से भी पैदा हो सकता है। यदि कर की दर निवेशक देश में 50 प्रतिशत और घरेलू देश में 40 प्रतिशत है तो निवेशक देश में फर्में घरेलू देश में निवेशक करेंगी अथवा सहायक फर्मों के माध्यम से विदेशी बिक्री को संचालित करेंगी ताकि कम दरों पर करों का भुगतान किया जाये। यदि निवेशक देश की फर्में विदेशी आयों की उत्पत्ति वाले देश वापिस भेजती हैं तो निवेशक देश केवल 10 प्रतिशत कर को इकट्ठा करेगा। (क्योंकि अधिकतर देशों में दोहरे कराधान को दूर करने के समझौते होते हैं)। इस तरह पूंजी

के अंतरण से कर आधार में संकुचन और करों से इकट्ठी की गई राशि में कमी हो सकती है। इसके विपरीत घरेलू देश में कर के और घरेलू देश में क्रियाओं के विस्तार से प्राय: उनकी अपनी नीतियों को चलाने और नियंत्रण करने की योग्यता पर कुछ रोकें लगती हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

9. अल्पकालीन पूंजी चलनों का संबंध कितनी अवधि के उधार–पत्रों से होता है?
   (क) एक वर्ष से कम अवधि के (ख) पांच वर्ष से कम अवधि के
   (ग) सात वर्ष से कम अवधि के (घ) नौ वर्ष से कम अवधि के
10. घरेलू देश के लिए पूंजी अंतरण का BOP पर प्रभाव कैसा पड़ता है?
   (क) ऋणात्मक (ख) धनात्मक
   (ग) शून्य (घ) समान पड़ता है

4.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (ख)
3. (क)
4. (ग)
5. (ग)
6. (ख)
7. (क)
8. (ख)
9. (क)
10. (ख)

4.8 सारांश

दो देशों में जिन दो वस्तुओं का अंतर्राष्ट्रीय व्यापार किया जाता है, उनके भौतिक विनिमय अनुपात को व्यापार की शर्तें कहा जाता है।

शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तों के दोषों को दूर करने के लिए प्रो. टॉजिंग ने सकल वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तों का प्रतिपादन किया।

मात्रा की यह धारणा किसी देश के निर्यातों में परिवर्तन के अनुपात में उसकी परिवर्तित होती हुई आयात क्षमता को प्रदर्शित करती है।

व्यापार की वस्तु विनिमय शर्तों की धारणा निर्यात उद्योगों में होने वाले उत्पादकता परिवर्तनों पर विचार नहीं करती है।

अवमूल्यन के अंतर्गत एक देश विदेशी मुद्रा की तुलना में अपनी मुद्रा की क्रय शक्ति घटा देता है। अन्य शब्दों में वह अपनी मुद्रा की विनिमय दर को कम कर देता है, जिसके फलस्वरूप देश के निर्यात सस्ते तथा आयात महंगे हो जाते हैं।

किसी देश का आर्थिक विकास देश के व्यापार की शर्तों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है, क्योंकि आर्थिक विकास से देश की उत्पादन तकनीक, उत्पादन की मात्रा, उपभोग रुचि तथा आय प्रभावित होते हैं।

अर्द्धविकसित राष्ट्रों में उत्पादन की तकनीक काफी पिछड़ी हुई होती है जिसके कारण अधिक लागतों पर उत्पादन कम होता है। वस्तु के गुणों में कमी होती है।

विकसित राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था में विविधता होती है। अतः उनमें अर्द्धविकसित राष्ट्रों की तुलना में मांग की लोच अधिक होती है। इसके विपरीत अर्द्धविकसित राष्ट्र कुछ गिनी चुनी वस्तुओं का उत्पादन करते हैं उनमें विविध वस्तुएं बनाने की क्षमता नहीं होती है जिसके कारण उनका निर्यात बेलोचदार हो जाता है।

विश्व व्यापार संगठन गैट का उत्तराधिकारी है। गैट एक मंच था जहां सदस्य देश समय समय पर एकत्रित होकर विश्व व्यापार की समस्याओं पर वार्तालाप करते हैं तथा उन्हें सुलझाते हैं लेकिन विश्व व्यापार संगठन एक सुव्यवस्थित और स्थायी विश्व व्यापार संस्था है।

विश्व व्यापार संगठन एक मत द्वारा निर्णय पद्धति का अनुसरण करता है जिसे गैट द्वारा सन् 1947 निर्धारित किया गया था। जब एक मत द्वारा निर्णय संभव नहीं होता है।

किसी देश का व्यापार संतुलन उस देश के आयातों तथा निर्यातों के संबंध को बताता है। यह एक ऐसा विवरण होता है जिसमें वस्तुओं के आयातों तथा निर्यातों का विस्तृत ब्यौरा होता है।

किसी देश का भुगतान संतुलन किसी निश्चित अवधि में अन्य देशों से किए गए आर्थिक लेन देनों का रिकॉर्ड होता है। एक निश्चित अवधि में एक देश को विदेशों से जो भुगतान प्राप्त होता है और जो भुगतान उसके द्वारा करना होता है, भुगतान संतुलन उसका क्रमबद्ध विवरण होता है।

4.9 मुख्य शब्दावली

- **भुगतान शेष** – किसी देश का भुगतान शेष किसी दी हुई अवधि में उस देश के नागरिकों द्वारा विश्व के अन्य देशों के नागरिकों के बीच हुए समस्त आर्थिक लेन-देन का व्यवस्थित विवरण है।
- **व्यापार की शर्त** – व्यापार की शर्त उस दर को बताती है जिस दर पर एक देश की वस्तुओं का दूसरे देश की वस्तुओं के साथ विनिमय किया जाता है।
- **प्रशुल्क** – प्रशुल्क करों की वे मात्राएं है जो एक राष्ट्र द्वारा विदेशी आयातों पर लगायी जाती है।

- **आयात अभ्यंश** – आयात अभ्यंश से तात्पर्य वस्तु की उस निश्चित मात्रा या मूल्य से है जिसका समय की एक निश्चित अवधि में देश में आयात किया जा सकता है।
- **प्रक्रिया पेटेंट** – इस प्रक्रिया के अंतर्गत किसी उत्पाद के निर्माण की विधि पर पेटेंट प्रदान किया जाता है।
- **मुक्त व्यापार नीति** – वह नीति जिसमें एक देश अन्य देशों के साथ समानता के आधार पर व्यापार करता है। इसमें किसी प्रकार का कोई छिपाव नहीं रहता है।
- **सब्सिड़ी/उपादान** – केंद्र एवं राज्य सरकारों द्वारा पारिवारिक क्षेत्रों या व्यापार को सस्ती कीमतों पर उपभोग या उत्पादन हेतु प्रदत्त सहायता।
- **राशनिंग** – कम पूर्ति वाली वस्तुओं को निश्चित कीमत पर वितरित करने की विधि।

4.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. व्यापार की शर्तो से आप क्या समझते हैं?
2. अनुकूल तथा प्रतिकूल व्यापार की शर्तों में क्या अंतर होता है?
3. बहुपक्षीय व्यापार में कौन-कौन से समझौते शामिल हैं?
4. व्यापार संतुलन से आप क्या समझते हैं?
5. भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता के कोई चार कारण बताइए।
6. आयात अभ्यंश से क्या अभिप्राय है? विवेचना कीजिए।
7. भुगतान संतुलन को पक्ष में करने के मौद्रिक उपाय बताइए।
8. अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन पूंजी प्रवाह में क्या अंतर है।

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1. अवमूल्यन तथा आर्थिक विकास का व्यापार की शर्तो पर क्या प्रभाव होता है? चित्रों की सहायता से स्पष्ट कीजिए।
2. प्रशुल्क की परिभाषा देते हुए उसके वर्गीकरण पर प्रकाश डालिए।
3. विश्व व्यापार संगठन क्या है? इसके उद्देश्यों और कार्यों का वर्णन कीजिए।
4. विश्व व्यापार संगठन के मूलभूत समझौतों का विश्लेषण कीजिए।
5. भुगतान संतुलन व व्यापार संतुलन में अंतर स्पष्ट कीजिए तथा भुगतान संतुलन के घटक बताइए।
6. भुगतान संतुलन में असंतुलन उत्पन्न होने के कारण बताइए तथा उन्हें संतुलित करने के उपायों का भी वर्णन कीजिए।

7. आंतरिक एवं बाह्य संतुलन के परस्पर समायोजन पर लेख लिखिए।
8. अंतर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाह के कारणों पर प्रकाश डालिए।

4.11 सहायक पाठ्य सामग्री

Tyagi, B. P. 1975. *Public Finance*. Meerut: Jai Prakash Nath and Co.

Sundaram and Sundaram. 1995. *Public Finance*. New Delhi: Sultan Chand & Sons.

Huge Dalton. 2013. *Principles of Public Finance*. New Delhi: Routledge.

Houghton, E. W. 1998. *Public Finance*. Baltimore: Penguin.

Gupta, S. B. 1994. *Monetary Economics*. New Delhi: S.Chand & Company.

इकाई 5 भारतीय विदेशी व्यापार की प्रवृत्ति एवं दिशा और विनिमय दर

टिप्पणी

संरचना

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 भारतीय विदेशी व्यापार : प्रवृत्ति एवं दिशा
5.3 विनिमय दर
5.4 विनिमय दर के सिद्धांत
5.4.1 टकसाल दर समता सिद्धांत
5.4.2 क्रय शक्ति समता सिद्धांत
5.5 मुद्रा का अवमूल्यन एवं अधिमूल्यन एवं विदेशी व्यापार पर प्रभाव
5.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.7 सारांश
5.8 मुख्य शब्दावली
5.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.10 सहायक पाठ्य सामग्री

5.0 परिचय

वर्तमान समय में व्यापार का महत्व दिन–प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। इसका कारण यह है कि कोई भी राष्ट्र दावे के साथ यह नहीं कह सकता है कि वह आत्म निर्भर है। अपनी कुछ न कुछ आवश्यकताओं के लिए उसे विदेशी व्यापार पर निर्भर ही रहना पड़ता है। विदेशी व्यापार का अर्थ उस व्यापार से है जिसके अंतर्गत दो या दो से अधिक देशों के मध्य वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय किया जाता है। जैसे यदि भारत अमेरिका से व्यापार करता है तो यह विदेशी व्यापार होगा। इसी प्रकार प्रत्येक देश अन्य देशों से क्रय करके अपने नागरिकों के लिए वस्तुओं और सेवाओं की उपलब्धता बढ़ाने का प्रयत्न करता है और इसी के साथ अपने अतिरेक उत्पादन को बेचने का भी प्रयत्न करता है। दूसरे देशों से वस्तुएं खरीदना आयात कहलाता है और बेचना निर्यात कहलाता है। किसी भी देश के विदेशी व्यापार में उसके आयात और निर्यात दोनों को शामिल किया जाता है। विदेशी व्यापार में केवल वस्तुओं का ही क्रय विक्रय शामिल नहीं होता बल्कि सेवाओं का भी क्रय विक्रय शामिल होता है जैसे जहाज रानी बोर्ड परिवहन, बैंकिंग बीमा और परामर्श सेवाएं इत्यादि।

एडम स्मिथ के अनुसार विश्व में सभ्यता और संस्कृति, विदेशी व्यापार के माध्यम से ही संभव हो सकी है। विदेशी व्यापार में वस्तुओं, सेवाओं ओर विदेशी संसाधनों का अंतर्देशीय प्रवाह शामिल है। इसके द्वारा विदेशी पूंजी और विशेषज्ञों की मदद से देश में उपलब्ध संसाधनों को बेहतर इस्तेमाल होता है। आयात और निर्यात अक्सर दुर्लभ या बहुतायत में प्राप्त वस्तु की कीमतों में भारी परिवर्तन (उतार–चढ़ाव) को कम करता है और विदेशी विनिमय प्राप्त करने की क्षमता प्रदान करता है।

विदेशी व्यापार एक देश की उपभोग क्षमताओं का विस्तार करता है और दुर्लभ संसाधनों तक पहुंच प्रदान करता है। अंततः विदेशी व्यापार संवृद्धि एवं विकास को बढ़ाने में सहायक होती है।

इस इकाई में विदेशी व्यापार के महत्व को आयात और निर्यात के संदर्भ में विस्तार से समझाया गया है।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- भारतीय विदेशी व्यापार की प्रवृत्ति और दिशा को जान पाएंगे;
- विनिमय दर की विवेचना कर पाएंगे;
- विनिमय दर के सिद्धांतों का विश्लेषण कर पाएंगे;
- मुद्रा का अवमूल्यन एवं अधिमूल्यन का मूल्यांकन कर पाएंगे।

5.2 भारतीय विदेशी व्यापार : प्रवृत्ति एवं दिशा

1947 से पहले ब्रिटिश शासन का एक उपनिवेश (colony) था और अधिकतर अल्पविकसित देश काफी समय तक औपनिवेशिक शोषण का शिकार रहते थे। भारत विशेष रूप से इंग्लैंड को खाद्य पदार्थों और कच्चे माल का निर्यात करता था और फिर उससे निर्मित वस्तुओं का आयात करता था क्योंकि भारत निर्मित वस्तुओं के लिए विदेशों पर निर्भर था, इसलिए औद्योगीकरण न हो सका। इसके साथ-साथ ब्रिटिश को निर्मित वस्तुओं की और भारतीय हस्तशिल्पी सामान की प्रति स्पर्द्धा रहती थी जिसके कारण ये उद्योग धंधे भी भलीभांति नहीं फल फूल सके।

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात जब बहुत से अल्पविकसित देश स्वतंत्र हुए तो वे विदेशी व्यापार व विदेशी निवेश को संदेह की नजरों से देखने लगे। ऐसी परिस्थितियों में भलाई इसी में थी कि विदेशी व्यापार पर कम ध्यान देकर घरेलू बाजारों को अधिक विकसित किया जाए। विकासशील देशों की आवश्यकताओं के लिए व्यापार के दौर में परिवर्तन लाना आवश्यक था। कई विकासशील देशों ने औद्योगीकरण की व्यापक योजनाएं बनाईं तथा विकसित देशों से निर्मित वस्तुएं लेने के स्थान पर अपने देश में ही इन वस्तुओं का उत्पादन प्रारंभ कर दिया। Word Bank, Word Development Report, 1987, P. 81 के अनुसार, "इन देशों ने अंतर्मुखी नीतियों (inword-oriented policies) को प्राथमिकता दी। इस प्रकार की नीतियों को 'आयात-प्रतिस्थापन' नीति (import substitution policy) की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि इनके तहत घरेलू उद्योगों को व्यापक संरक्षण दिया गया, आयातों व विदेशी निवेश पर प्रत्यक्ष नियंत्रण लगाए गए तथा विनिमय दरों को अवास्तविक स्तरों पर ऊंचा रख गया। यह स्थिति overvalued exchange rate की स्थिति कहलाती है। इसी अवधि में निर्यात के संबंध में दृष्टिकोण निराशावादी रहा। ऐसा दृष्टिकोण क्यों रहा? क्यों भारत सरकार और अर्थशास्त्री यह मानते रहे कि भारतीय

टिप्पणी

निर्यातों को अंतर्राष्ट्रीय बाजारों में गतिहीन व स्थिर मांग का सामना करना पड़ रहा है तथा उनसे प्राप्त आय को बढ़ाना असंभव है।

विकासशील देशों में विकास के प्रारंभिक वर्षों में आयात तीव्र गति से बढ़ने के कारण व्यापार शेष (Balance of Trade) बहुत अधिक प्रतिकूल हो सकता है। विदेशी सहायता में विकासशील देशों को विकास का भार स्वयं सहन करना पड़ता है। ऐसे में इन देशों को अपने निर्यातों को बढ़ाना आवश्यक हो जाता है। भारत जैसे अल्पविकसित देश शुरू से कच्चे माल तथा खाद्य पदार्थों का निर्यात करते रहे हैं। आर्थिक प्रगति के बढ़ने के साथ-साथ कच्चे माल का निर्यात भी कम हो जाता है क्योंकि देश में उद्योगों का विकास हो जाने के कारण कच्चे माल की खपत भी बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त जनसंख्या के बढ़ने के कारण भी जो खाद्य सामग्री का निर्यात हो रहा था वह भी बंद हो जाता है। अत: विकासशील अर्थव्यवस्था को अपने निर्यात बढ़ाने के लिए नई वस्तुएं तथा नये बाजारों की खोज करनी पड़ती है। अल्पविकसित देशों के लिए विदेशी सहायता महत्वपूर्ण है परंतु इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण है विदेशी व्यापार। अत: अल्पविकसित देशों ने एक नया नारा बनाया है 'व्यापार और सहायता'।

धीरे-धीरे करके अल्पविकसित देशों की परिस्थितियां बदलती ही चली गईं। अत: 1960 के दशक में विकासशील देशों ने आयात उदारीकरण (import libralistation) की नीति को खुले रूप में अपनाया और सफल भी रहे। इन देशों में सिंगापुर, जापान, हांकांग, कोरिया तथा ताइवान थे। इन देशों की सफलता को देखकर अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक ने आयात उदारीकरण व निर्यात प्रोत्साहन नीतियों का समर्थन किया और इन नीतियों को भारत जैसे अविकसित देश के लिए अत्यंत आवश्यक बताया। इनके दिये हुए सुझावों पर काम करते हुए भारत सरकार ने पिछले कुछ वर्षों में व्यापार उदारीकरण (trade libralisation) की नीति को अपनाया और इससे प्रेरित होकर आयातों को काफी कम भी किया है। 1991 में सरकार ने उदारीकरण की व्यापक नीति घोषित की। 1995 में स्थापित विश्व व्यापार संगठन के अंतर्गत विकसित हो रही अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के साथ भारतीय अर्थव्यवस्था को जोड़ने में कोई समस्या न आए ऐसे कदम उठाये गए।

स्वतंत्रता के बाद भारत का विदेशी व्यापार

किसी भी देश की अर्थव्यवस्था में विदेशी व्यापार का बहुत अधिक महत्व होता है। वास्तविक रूप में विदेशी व्यापार अर्थव्यवस्था में अधिक क्रियाओं के स्तर तथा स्वरूप का परिचायक होता है। देश कौन सी वस्तु खरीद रहा है, कौन सी वस्तु निर्यात कर रहा है, कितनी मात्रा में आयात तथा निर्यात करता है, किन देशों से वस्तु का आयात तथा किन देशों को वस्तु का निर्यात करता है। ये सभी सूचनाएं किसी भी देश की वास्तविक स्थिति के विषय में जानकारी प्रदान करती हैं।

स्वतंत्रता के बाद भारत के विदेशी व्यापार की प्रवृत्तियों का अध्ययन निम्न तीन प्रकार से किया जा सकता है—योजनाकाल में निर्यातों के मूल्य, विदेशी व्यापार का स्वरूप या संरचना तथा उपभोक्ता वस्तुएं एवं खाद्यान्न।

(1) योजनाकाल में निर्यातों एवं आयातों का मूल्य

भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात नियोजन काल में विदेशी व्यापार की मात्रा तथा मूल्य में तीव्र गति से वृद्धि हुई है। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में निर्यात बढ़ने के बाद भी भारत का व्यापार घाटा एक ऊंचे स्तर पर बना हुआ है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत (1951-52 से 1955-56)– इस अवधि के अंतर्गत आयात मूल्य 730 करोड़ रुपये था तथा निर्यात 622 करोड़ रुपये। अत: औसत वार्षिक व्यापार घाटा 108 करोड़ रुपये था। इस घाटे का प्रमुख कारण औद्योगीकरण तथा पूंजीगत वस्तुओं के आयात में वृद्धि था। कुल आयात के प्रतिशत के रूप में कच्चे मालों के आयात में कुछ कमी हुई तथा निर्यात में कोई उन्नति नहीं हुई।

तालिका : पहली तीन योजनाओं एवं वार्षिक योजनाओं में व्याापर शेष (करोड़ रुपये)

योजना	निर्यात	आयात	व्यापार शेष
प्रथम योजना	3,109	3,651	−542
(1950-51 से 55-56)			
वार्षिक औसत	622	730	−108
दूसरी योजना	3,063	5,402	−2339
(1956-67 से 60-61)			
वार्षिक औसत	613	1080	−467
तीसरी योजना	3,735	6,119	−2384
(1960-61 से 65-66)			
वार्षिक औसत	747	1,224	−477
वार्षिक योजनाएं	3,708	5,775	−2,067
(1966-67 से 68-69)			
वार्षिक औसत	1,236	1,925	−689

Source: Government of India, Economic Survey 2010–11 (Delhi 2011)

दूसरी पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत (1956-57 से 1960-61)– इस योजना के अंतर्गत आयात बहुत अधिक बढ़ गए क्योंकि इस्पात कारखानों की स्थापना, रेलों का विस्तार, तथा नवीनीकरण, उद्योगों का आधुनिकीकरण आदि कार्य प्रारंभ किये गए। इस योजना में खाद्यान्नों का आयात भी लगातार चलता रहा। इस अवधि में 805 करोड़ रु. के खाद्यान्नों का आयात हुआ। इस योजना में निर्यातों से प्राप्त औसत वार्षिक प्राप्ति प्रथम योजना से कम थी। अत: भारत में औसत वार्षिक प्रतिकूल व्यापार शेष 467 करोड़ रु. था जो प्रथम योजना से 108 करोड़ रुपये ज्यादा था।

तीसरी योजना के अंतर्गत (1961-62 से 1965-66)– इसमें औसत वार्षिक निर्यात 747 करोड़ रु. था तथा वार्षिक औसत आयात 1,224 करोड़ रु.। इसके लिए दो कारण उत्तरदायी थे। पहला कारण– प्रतिरक्षा वस्तुओं की आवश्यकताओं में वृद्धि। दूसरा कारण– सूखा पड़ने के कारण भारी मात्रा में खाद्यान्नों का आयात करना।

तीन वार्षिक योजनाओं के अंतर्गत (1966-67, 67-68, 68-69)– 1966 में भारत ने रुपये का 36.5 प्रतिशत की सीमा तक अवमूल्यन किया। अवमूल्यन की घोषणा सूखे के कारण की गई। इसके बाद वाला वर्ष भी मौसम की दृष्टि से अच्छा नहीं रहा। इसके साथ ही सरकार ने इसी वर्ष 59 उद्योगों में उदार आयात नीति अपनाने की घोषणा की। इन सब कारणों से व्यापार शेष का घाटा और भी अधिक हो गया। यद्यपि रुपये का अवमूल्यन होने के बाद 1966-67 और 67-68 में निर्यात बढ़े लेकिन आयातों के लोचहीन होने के कारण आयात का मूल्य 1967-68 में एकदम बढ़कर 2,043 करोड़ रुपये हो गया। इस अवधि में व्यापार शेष भी और ज्यादा हो गया। परंतु 1968-69 और 1969-70 में कृषि फसल अच्छी हुई जिसके कारण खाद्यान्नों का आयात कम हुआ। इसके अलावा अवमूल्यन के कारण भी निर्यात-प्रोत्साहन को बल मिला। अत: व्यापार शेष 1967-68 में 788 करोड़ रु. प्रतिकूल था वह 1968-69 में 373 करोड़ रु. रह गया तथा 1969-70 में केवल 169 करोड़ रु. हो गया।

चौथी पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत (1969-70 से 1973-74)– 1973-74 में खाद्यान्न आयात कम हुए तथा निर्यातों को और अधिक प्रोत्साहित किया गया उसी का परिणाम निकला कि स्वतंत्रता के बाद पहली बार व्यापार शेष अनुकूल हुआ। लेकिन इसी वर्ष में ही व्यापार शेष का प्रभाव खत्म हो गया क्योंकि बहुत से अंतर्राष्ट्रीय कारणों ने पैट्रोलियम पदार्थों, इस्पात और अलौह धातुओं, उर्वरकों और अखबारी कागज आयातों को ऊंचा चढ़ा दिया। यद्यपि इस अवधि में निर्यातों में भी खूब वृद्धि हुई और निर्यात बढ़कर 2,523 करोड़ रु. के हो गए। परंतु आयातों में वृद्धि निर्यातों से ज्यादा हुई और ये बढ़कर 2,955 करोड़ रु. हो गए और इस तरह व्यापार शेष 432 करोड़ रु. से भारत के प्रतिकूल हो गया। अत: यह कहा जा सकता है कि वार्षिक योजनाएं और तृतीय योजना की तुलना में चौथी योजना में व्यापार शेष का रिकार्ड संतोषजनक रहा।

पांचवीं योजना के अंतर्गत (1974-75 से 1977-78)– 1973 में तेल के मूल्यों में वृद्धि हुई उसने पूरी दुनिया में आयात एवं निर्यात दोनों के मूल्यों को प्रभावित किया। भारत भी इसकी चपेट में था। इसका कारण था भारत की प्रधान आयात वस्तुओं अर्थात पेट्रोलियम, उर्वरकों एवं खाद्यान्नों के मूल्य में तीव्र वृद्धि। इसके अतिरिक्त भारत के निर्यातों में इस योजना के हर वर्ष में खूब वृद्धि हुई। 1976-77 में निर्यात बढ़कर 5,146 करोड़ रु. के हो गए और वे आयात से 72 करोड़ रु. अधिक हो गए। अब इस अवधि में भारत पुन: व्यापार शेष की अनुकूल स्थिति में आ गया। इसका कारण निर्यातों की वृद्धि था। मछली, कॉफी, मूंगफली, सूती वस्त्र और हस्तशिल्पों से बनी हुई वस्तुओं का खूब निर्यात हुआ तथा लौह एवं इस्पात का उद्योग भी बढ़ा।

1977-78 में सरकार ने आयात में उदारता की नीति को अपनाया तथा निर्यातों के कम हो जाने के कारण भारत 621 करोड़ रु. के बराबर फिर से व्यापार प्रतिकूल में चला गया। पांचवीं योजना में औसत वार्षिक व्यापार घाटा 740 करोड़ रु. के बराबर हो गया।

छठी योजना के अंतर्गत (1980-81 से 1984-85)– पेट्रोल निर्यात करने वाले देशों ने पेट्रोल की कीमतों को और बढ़ा दिया जिसके कारण भारत का आयात जो 1978-79 में 6,814 करोड़ रु. था, बढ़कर 1979-80 में 9,142 करोड़ रु. हो गया। इसी प्रकार निर्यात जो 1978-79 में 5,726 करोड़ रु. थे बढ़कर 1979-80 में केवल 6,418 करोड़ रु. तक ही पहुंच सके अर्थात इस बीच 12.1 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई।

व्यापार घाटा 1980-81 में 5,838 करोड़ रु. के शिखर पर पहुंच गया। 1980-83 के बीच यह घाटा थोड़ा सा कम हुआ और क्रमश: 5,802 तथा 5,489 करोड़ रु. हो गया। आयात और निर्यात के आंकड़े बताते हैं कि पैट्रोलियम तथा इससे संबंधित पदार्थों का आयात जो 1980-81 में 5,267 करोड़ रु. था गिरकर 1983-84 में 4,830 करोड़ रु. हो गया क्योंकि अब एक तरफ तो तेल की अंतर्राष्ट्रीय कीमतें कम हो रहीं थी दूसरे तेल एवं प्राकृतिक गैस आयोग द्वारा रुक्ष तेल के देशीय उत्पादन को बढ़ाया जा रहा था। इतना होने के बाद भी 1983-84 में व्यापार घाटा 6,061 करोड़ रु. था। छठी योजना में 14,683 करोड़ रु. के औसत वार्षिक आयात के विरुद्ध 8,967 करोड़ रु. का औसत वार्षिक निर्यात किया गया। इस प्रकार छठी योजना के दौरान 5,716 करोड़ रु. का भारी औसत वार्षिक व्यापार घाटा व्यक्त हुआ और राष्ट्र के लिए चिंता उत्पन्न करने के लिए सामने खड़ा हो गया। निम्न तालिका इन स्थितियों को स्पष्ट कर रही है।

तालिका : 1969-70 से 1990-91 के काल में व्यापार शेष (करोड़ रुपये)

वर्ष	निर्यात	आयात	व्यापार शेष
चौथी योजना (1969-70 से 1973-74)			
1969-70	1,413	1,582	−169
1970-71	1,535	1,634	−99
1970-72	1,607	1,824	−217
1972-73	1,971	1,867	+104
1973-74	2,523	2,955	−432
वार्षिक औसत	1,810	1,972	−162
पांचवीं योजना (1974-75 से 1977-78)			
1974-75	3,329	4,519	−1,190
1975-76	4,043	5,262	−1,222
1976-77	5,146	5,074	+72
1977-78	5,404	6,025	−621
वार्षिक औसत	4,472	5,231	−740
1978-79	5,726	6,814	−1,088
1979-80	6,418	9,142	−2,724
छठी योजना (1980-81 से 1984-85)			
1980-81	6,711	12,549	−5,838
1981-82	7,806	13,608	−5,802
1982-83	8,803	14,293	−5,489
1983-84	9,770	15,831	−6,061
1984-85	11,744	17,134	−5,390
वार्षिक औसत	8,967	14,683	−5,390
सातवीं योजना (1985-86 से 1989-90)			
1985-86	10,895	19,658	−8,763
1986-87	12,452	20,096	−7,644
1987-88	15,674	22,244	−6,570
1988-89	20,231	28,235	−8,004
1989-90	27,658	35,328	−7,670
वार्षिक औसत	17,382	25,144	−7,730

सातवीं योजना के अंतर्गत (1985-86 से 1989-90)– सातवीं योजना में कांग्रेस सरकार के द्वारा उदारीकरण की निति अपनाए जाने के कारण तथा जनता सरकार द्वारा भी इस नीति का समर्थन करने पर इन वर्षों में आयता बढ़कर 25,114 करोड़ रु. हो गए और औसत वार्षिक निर्यात 17,382 करोड़ रु. तक ही पहुंच पाए। इस प्रकार 7730 करोड़ रु. का भारी औसत वार्षिक घाटा उत्पन्न हो गया। इस घाटे को पूरा करने के लिए भारत सरकार को विश्व बैक/अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से 670 करोड़ डॉलर ऋण लेने के लिए पत्र देना पड़ा तथा सरकार को बढ़ते हुए आयातों को रोकने के लिए आयात लाइसेंसों की उदारनीति पर प्रतिबंध लगाने पड़े।

आठवीं योजना के अंतर्गत (1991-93 से 1996-97) : 1992-93 में निर्यातों में केवल 3.7 प्रतिश की वृद्धि हुई और निर्यात जो 1991-92 में 1,787 करोड़ डॉलर थे बढ़कर केवल 1,854 करोड़ डॉलर ही हो पाए। आयात में 12.7 प्रतिशत की वृद्धि हुई 1991-92 में 1,941 करोड़ डॉलर थे जो बढ़कर 1992-93 में 2,188 करोड़ डालर हो गए। अत: व्यापार घाटा जो 1991-92 में 154.5 करोड़ डॉलर था बढ़कर 1992-93 में 334.5 करोड़ डॉलर हो गया। इस पंचवर्षीय योजना में नियति बहुत तेजी से बढ़े और यह बढ़कर 3,347 करोड़ डॉलर हो गए। परंतु इसके साथ उदारीकरण की नीतियों को अपनाने के कारण सीमा शुल्क में कटौती करने से आयात 1996-97 में 3,9132 करोड़ डॉलर पर पहुंच गए। अत: भारत का व्यापार घाटा जो 1991-92 में 154.5 करोड़ डॉलर था से बढ़कर 1996-97 में 566.2 करोड़ डॉलर हो गया अर्थात पहले से तीन गुना ज्यादा हो गया।

नौवीं योजना के अंतर्गत (1997-2002)– इस समय में विश्व व्यापार संबंधी आर्थिक ढांचे में तीव्र गिरावट आई। 1997-99 में निर्यात गिरकर 3,312.9 करोड़ डॉलर हो गए जबकि ये 1997-98 में 3,500.6 करोड़ डॉलर हो गए थे। 1999-2000 और 2001 में निर्यात फिर बढ़े और ये बढ़कर 4,456 करोड़ डॉलर पर पहुंच गए। इसके बाद से आयातों में भी लगातार वृद्धि होती रही और ये 1997-98 में 4,148 करोड़ डॉलर से बढ़कर 2000-01 में 5,053.6 करोड़ डॉलर हो गए। 2001-02 में निर्यात में कमी हुई और ये कम होकर 4,382.7 करोड़ डॉलर पर आ गए परंतु आयात बढ़े ये बढ़कर 5,141.3 करोड़ डॉलर के रिकॉर्ड पर चले गए। इन पांच वर्षों में निर्यात की वार्षिक औसत 3,868.7 करोड़ डॉलर थी और आयात की वार्षिक औसत 4,709.9 करोड़ डॉलर थी। अत: औसतन व्यापार घाटा 841.2 करोड़ डॉलर था जो आठवीं योजना से लगभग दुगने से ज्यादा था।

दसवीं योजना के अंतर्गत (2002-03 से 2004-07)– इस योजना में यानी 2003-04 में निर्यात बढ़कर 6,304 करोड़ डॉलर हो गए अर्थात 45.8 प्रतिशत की भारी वृद्धि हुई परंतु विश्व व्यापार संगठन के दबाव के आधीन आयात 2002-03 में 5141.3 करोड़ डॉलर से बढ़कर 2003-04 में 7,815 करोड़ डॉलर पर पहुंच गए अर्थात 5200 प्रतिशत की अधिक वृद्धि हुई। अत: व्यापार घाटा 2003-04 में 14.31 अरब करोड़ डॉलर पहुंच गया। 2004-06 में व्यापार घाटा 27.98 अरब डॉलर हो गया। 2005-06 में व्यापार घाटा बढ़कर 51.90 अरब डॉलर, 2006-07 में 63.17 अरब डॉलर के एक नये शिखर पर पहुंच गया। इस पूरी योजना अवधि में वार्षिक व्यापार

घाटा 33.21 अरब डॉलर हो गया जो कि नौवीं योजना के व्यापार घाटे का लगभग चार गुना था।

ग्यारहवीं योजना के अंतर्गत (2007-08 से 2011-12)– ग्यारहवीं योजना के पहले साल में ही व्यापार घाटा बढ़कर 88.5 अरब डॉलर (3,56,448 करोड़ रु.) हो गया। 2009-10 में 109.6 अरब डॉलर पर पहुंच गया। अब इसकी वृद्धि देश के लिए चिंता का विषय बन गया। मुद्रा का अवमूल्यन एक अल्पकालीन उपाय है और यह लगातार बढ़ते हुए घाटे को दूर करने के लिए स्थायी साधन नहीं है। इससे अच्छा उपाय तो यह होता भारत में कीमतों पर नियंत्रण रखा जाए जिनसे अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में रुपया अतिमूल्यन न हो। इसके साथ-साथ अर्थव्यवस्था की स्फीति दर में वृद्धि करनी चाहिए जिससे स्फीति पर नियंत्रण लग सके। इस बीच देश के निर्यात बढ़े और ये बढ़कर 178.7 अरब डॉलर हो गए परंतु आयातों में वृद्धि निर्यातों से ज्यादा हुई और आयात बढ़कर 288.4 अरब डॉलर हो गए। अत: 2009-10 में व्यापार घाटा बढ़कर 109.6 अरब डॉलर हो गया।

(2) विदेशी व्यापार का स्वरूप या संरचना

विदेशी व्यापार की संरचना से तात्पर्य आयात-निर्यात की वस्तुओं से है। व्याापर की संरचना किसी देश के विदेश से संबंधों की परिचायक होती है। ब्रिटिश शासन के दौरान भारत के विदेशी व्यापार का रूप औपनिवेशिक था। विदेशी व्यापार की संरचना उस देश की विकास प्रक्रिया तथा उसके आर्थिक विकास स्तर को बताती है। यदि कोई देश खाद्यान्नों और कच्चे पदार्थों का आयात और विनिर्मित वस्तुओं जैसे मशीनों तथा यंत्रों का निर्यात करता है तो यह कहा जा सकता है कि उस देश के आर्थिक विकास का स्तर बहुत अच्छा है। इसके विपरीत किसी देश के द्वारा चाय, कॉफी, जूट, चीनी आदि वस्तुओं का निर्यात किया जता है और पूंजीगत उपकरणों तथा विनिर्मित माल का आयात किया जाता है तो निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि देश अल्पविकसित है और उसका औद्योगीकरण चल रहा है।

भारत में पंचवर्षीय योजनाओं के शुरू होने से पहले बहुत अधिक मात्रा में विनिर्मित वस्तुओं का आयात होता था और जूट, चाय, सूती वस्त्र, खालें, मैंगनीज, अभ्रक आदि निर्यात होते थे। योजनाओं के बाद से आयात और निर्यात दोनों में ही बहुत परिवर्तन आए हैं।

आयातों की संरचना (Composition of Imports)– 1947-48 में भारत के प्रमुख आयात निम्न थे– सभी प्रकार की मशीनरी, तेल, अनाज, दालें व आटा, कपास वाहन, कटलरी, लोहे का सामान, औजार व उपकरण, रसायन, दवाइयां व औषधियां, रंग तथा रंग सामग्री, सूत तथा सूत कपड़ा, कागज, कागज के बोर्ड तथा लेखन सामग्री तथा लोहा एवं इस्पात के अलावा अन्य धातुएं। कुल आयातों में इन सब आयातों का 70% हिस्सा था।

आर्थिक आयोजन प्रारंभ होने के समय पूंजीगत वस्तुओं का आयात अधिक नहीं था परंतु महालनोबिस मॉडल (Mahalanobis Model) पर आधारित दूसरी योजना के अंतर्गत आधारभूत उद्योगों की स्थापना को जब प्राथमिकता क्रम में ऊपर की तरफ रखा गया तो देश में बड़े पैमाने पर पूंजीगत उपकरणों का आयात शुरू हुआ तथा कुछ वर्षों

पश्चात उपकरणों की देखभाल के लिए बड़े पैमाने पर कलपुर्जों तथा मशीनरी का आयात करना पड़ा।

आयातों को अंबारी आयात (Bulk Imports) और गैर-अंबारी आयात (Non-bulk imports) में बांटा गया है।

अंबारी आयात

(1) पेट्रोलियम– रुक्ष एवं उत्पाद

(2) अंबारी उपयोग वस्तुएं (अनाज, दालें, खाद्य तेल और चीनी शामिल)

(3) अन्य अंबारी मदों में उर्वरक, अलौह धातुएं, कागज एवं गत्ता, रबड़, एवं रद्दी, कागज, खनिज अयस्क लोहा एवं इस्पात शामिल हैं।

गैर अंबारी आयात– इनका तीन भागों में विभाजन किया गया है–

(1) पूंजी वस्तुएं– धातुएं, मशीनरी औजार, इलेक्ट्रिक एवं गैर-इलेक्ट्रिक मशीनरी, परिवहन उपकरण और प्रोजेक्ट वस्तुएं सम्मिलित हैं।

(2) मुख्यत: निर्यात मदों में हीरे तथा कीमती पत्थर, कार्बनिक एवं अकार्बनिक रसायन वस्त्र-सूत एवं फैब्रिक्स काजू आदि आते हैं।

(3) अन्य– प्लास्टिक का सामान, व्यावसायिक एवं वैज्ञानिक उपकरण, कोयला एवं कोक, रसायन, गैर-धातुक खनिज उत्पाद आदि।

हमारे आयात के लगातार बढ़ते जाने का कारण आंतरिक एवं बाह्य तत्व जिम्मेदार हैं। 1970-80 में पेट्रोलियम निर्यात देशों के संगठन (Organisation of Petroleum Exportion countries OPEC) द्वारा पहली बार 1973-74 में और फिर दुबारा 1979-80 में कीमतों में तीव्र वृद्धि की गई। इसलिए पेट्रोलियम पदार्थों के आयात में 1970-80 में तेल वृद्धि हुई जिसका प्रभाव 1980-90 में भी रहा। 1979-80 में अर्थव्यवस्था के ऊपर सूखे की मार रही। निम्न तालिका के अंतर्गत 1980-81 से लेकर 2010-11 तक की आयातों की स्थिति को दिखाया गया है जिससे स्पष्ट होता है कि 1980 से 2001 तक कुल आयात बढ़े परंतु 2010-11 में आयातों में कुछ कमी हुई है।

भारतीय आयात का ढांचा

		करोड़ रुपये				वार्षिक चक्रवृद्धि दर		
		1980-81	1990-91	2000-01	2000-11	1980-81 से 1990-91	1990-91 से 2000-01	2000-01 से 2010-11
(क)	अंबारी आयात	8,739	19,464	95,095	6,85,110	8.6	17.2	21.8
		(69.6)	(45.1)	(41.2)	()	–	–	–
1.	पेट्रोलियम–	5,267	10,816	71,717	7,82,714	7.4	20.4	21.0
	रुक्ष एवं उत्पाद	(42.0)	(25.0)	(31.0)	()			
2.	अंबारी	901	999	6,593	39,732	10.7	20.5	19.6
	उपभोग वस्तुएं	–	(7.2)	(2.2)	()	(1.9)	–	–
	(क) अनाज और दालें	100	673	586	523	29.3	−1.4	−1.0
	(ख) खाद्य-तेल	704	326	5,977	29,442	–	33.8	17.3
3.	अन्य अंबारी मदें	2,571	7,650	17,005	1,62,664	11.5	8.3	25.3
	(क) उर्वरक	818	1,766	3,4335	31,818	8.0	6.9	−0.8
	(ख) अलौह धातुएं	477	1,002	2,439	18,,356	8.7	8.3	22.3
	(ग) कागज एवं गत्ता	187	456	2131	9571	9.3	16.6	16.21
	(घ) खनिज अयस्क	116	1528	3537	42872	29.4	7.9	28.33

टिप्पणी

	(ङ) लौह एवं इस्पात	825	2113	3554	46835	9.5	5.3	29.43
	(ख) गैर-अंबारी आयात	3810	23729	135778	920204	21.2	19.1	21.1
		(30.4)	(54.9)	(58.8)	(-)			
1.	पूंजी वस्तुएं	15.2	24.2	17.7	(-)	18.5	14.6	28.1
	(क) मशीनरी	1089	3,768	12,375	1,06,145	13.2	11.4	23.9
	(ख) इलेक्ट्रिक एवं							
	इलेक्ट्रॉनिक्स वस्तुएं	260	1,702	18,226	1,17,509	20.7	26.7	20.42
	(ग) परिवहन उपकरण	472	1,670	3,199	50,071	13.5	6.7	31.6
	(घ) प्रोजेक्ट वस्तुएं	–	2,559	3,414	27,737	–	2.9	23.3
2.	निर्यात संबंधी							
	वस्तुएं	1,158	6,603	36,815	2,26,170	19.0	18.7	19.9
		(9.2)	(15.3)	(15.9)	()			
	(क) हीरे तथा कीमती							
	पत्थर	417	3,798	21,964	1,42,437	24.5	19.4	20.5
	(ख) कार्बनिक तथा							
	अकार्बनिक रसायन	673	2,289	11,165	67.167	13.0	17.2	19.6
	(ग) वस्त्र-सूत एवं							
	निर्मित वस्तुएं	59	443	2,726	14,087	21.5	19.9	19.8
	(घ) काजू	9	134	431	2,480	–	12.4	19.1
	(ङ) अन्य	724	6,655	58,116	3,67,682	–	24.2	20.2
		(5.9)	(15.4)	(25.2)	()			
	कुल (1+11)	12,549	43,193	2,30,873	1605,314	13.1	18.2	21.4
		(100.0)	(100.0)	(100.0)	(100.0)			

1980-90 में आयातों को बढ़ने का कारण तेल की कीमतों का बढ़ना, सूखा पड़ने के कारण खाद्यान्नों का अभाव, अर्थव्यवस्था में बढ़ती हुई वृद्धि दर के कारण मांग का दबाव और सरकार द्वारा उदारीकरण की नीति को अपनाना। इन सबने मिलकर भारत की आयातों पर निर्भरता बढ़ा दी। 1970-71 में कुल आयात 1,634 करोड़ रु. थे जो 1980-81 में 12,549 यानी 19.2% को वार्षिक वृद्धि हो गई। प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने उदारीकरण नीति को महत्व दिया। जिसके कारण 1990-91 में आयात तेजी से बढ़कर 43,190 करोड़ रु. हो गए। 1980-81 तथा 1990-91 में आयात वृद्धि दर 13.1 तथा 2000-01 तथा 2010-11 में आयात की वार्षिक औसत वृद्धि दर 21.4% थी।

अधिकांशतः आयातों की वृद्धि का कारण (POL) (Petroleum Oil and Lubricants) पेट्रोलियम, तेल एवं स्नेहकों का माना जाता है। यह कारण केवल 1970 के दशक तक ठीक माना जा सकता था। 1980 के अनुभव यह बताते हैं कि 1980-90 तक POL की वृद्धि दर 7.4% थी जबकि कुल आयात की वृद्धि दर 13.1% थी। अतः आयातों में वृद्धि का कारण उदारीकरण माना जा सकता है।

अंबारी आयात (Bulk Imports) जिसमें कच्चा माल, अंतवर्ति वस्तुएं और खाद्यान्न शामिल हैं। वह अर्थव्यवस्था की वृद्धि और स्थिरता का बोध कराती है। 1970 में इनकी औसत वार्षिक वृद्धि दर 23.2% थी। अतः कुल आयात में 1970-71 में 50.5% भाग था। यह 1980-81 में बढ़कर 69.6% हो गया। 1980-81 में यह दर कम हो गई।

गैर POL मदों में उपयोग वस्तुओं जिनमें अनाज और अनाजों से तैयार वस्तुएं खाद्य तेल, दालें और चीनी आते हैं, की वार्षिक वृद्धि दर 1980-81 तथा 1990-91 में 10.7% थी जो कि 1990 से 2001 में बढ़कर 20.8% हो गई। कारण खाद्य तेलों के आयात में तीव्र वृद्धि होना था जो कि 1990-71 में 326 करोड़ रु. थे से बढ़कर

2004-05 में 18,517 करोड़ रु. हो गए। लौहा एवं इस्पात के आयात 1985-86 से 1990-91 के बीच 14.4% रहे।

(3) उपभोक्ता वस्तुएं एवं खाद्यान्न– प्रथम पंचवर्षीय योजना में उपभोक्ता वस्तुएं एवं खाद्यान्नों का भाग कुल आयात में 40% अर्थात भारत उस समय अल्पविकास की स्थिति में ही था। अपनी आवश्यकताओं के लिए विदेशों पर अधिक निर्भर था। परंतु समय के साथ ये आयात कम हुए तभी तो दूसरी और तीसरी योजना में केवल 35% ही रह गए। चौथी में 27% पांचवीं में 24%, 1990-91 में कुल आयात का 2.2% थे। परंतु इसका भाग 2010-11 में 2.5% रह गया। 1951 के पश्चात आयात में निम्न संरचनात्मक परिवर्तन आए–

(1) औद्योगीकरण की तीव्र वृद्धि के कारण पूंजी वस्तुओं और कच्चे माल के आयात में वृद्धि हुई।

(2) निर्यात प्रोत्साहन (Export promotion) के लिए आयात के उदारीकरण के आधार पर कच्चे माल के आयात में वृद्धि होना।

(3) कृषि एवं औद्योगिक विकास होने के कारण खाद्यान्नों एवं उपभोक्ता वस्तुओं के आयात में कमी होना।

(4) POL में अंतर्राष्ट्रीय कीमत में तीव्र वृद्धि और देशीय भाग में तेजी से वृद्धि होने के कारण भारी वृद्धि।

मुख्य आयातों की प्रवृत्तियां– कुछ चुनिंदा वस्तुओं के आयात की प्रवृत्ति को इस तालिका में दिखाया गया है।

तालिका : मुख्य आयात (करोड़ रुपये)

	1960-61	1980-81	2000-01	2007-08	2008-09
खाद्यान्न	181	100	90	2839	216
पेट्रोलियम, तेल और स्नेहक	69	5264	71500	320654	419946
उर्वरक	13	818	3034	22307	59569
रसायन और औषधियां	39	358	1542	46388	9614
हीरे तथा कीमती पत्थर	–	417	22100	32094	76130
धातुएं (लौह तथा अलौह)	170	1330	6030	129027	170200
पूंजी वस्तुएं	356	1910	25280	97305	216511
(क) धातुओं का विनिर्माण	23	90	1790	10720	14903
(ख) गैर-विद्युत मशीनरी	203	1089	16910	88849	109275
(ग) विद्युत-मशीनरी	57	260	2230	11557	16862
(घ) परिवहन सामान	72	472	4350	80971	60803
कुल आयात	1,112	12550	230870	1012312	1374436

खाद्यान्न– देश में जनसंख्या का बढ़ना तथा देश का विभाजन होने के कारण खाद्यान्नों के आयात करने पड़े। प्रथम पंचवर्षीय योजना में खाद्यान्नों की औसत वार्षिक

आयात 141 करोड़ रु. थी। तीसरी योजना में 241 करोड़ रु., परंतु 1965-67 में सूखा होने के कारण खाद्यान्न की स्थिति खराब हो गई। अत: 1966-69 के बीच, 1,201 करोड़ रु. के खाद्यान्न का आयात हुआ। चौथी योजना में आयात कुछ कम हुए 1969-70 में 184 करोड़ रु. के आयात 1972-73 में कम होकर केवल 48 करोड़ रु. के रह गए। इन चार वर्षों में पैदावार अच्छी हुई परंतु 1973-74 से स्थिति दुबारा बदल गई अर्थात 1974-75 से 1979-80 में खाद्यान्नों का औसत वार्षिक आयात 548 करोड़ रु. हो गया। परंतु इस समय अच्छी फसल और भारी मात्रा में बफर-स्टॉक होने के कारण खाद्यान्न आयात कम ही हुए और यह 1980-81 से 1984-85 तक 374 करोड़ रु. के ही रहे। 1985-86 से 1989-90 तक खाद्यान्न आयात औसतन 516 करोड़ रु. प्रतिवर्ष था लेकिन 1992-93 में यह फिर बढ़ा और 1,240 करोड़ रु. हो गया लेकिन 2008-09 में इन आयातों में आश्चर्यजनक कमी आई और यह घटकर केवल 216 करोड़ रु. रह गए।

मशीनरी– जो देश अल्पविकसित अवस्था से निकलकर विकास की ओर जा रहा हो ऐसे देश में विकास के लिए मशीनरी की नितांत आवश्यकता होती है। 1966-61 में इनका वार्षिक औसत आयात 260 करोड़ रु. था। 1980-81 में 1,350 करोड़ रु. तथा 2008-09 में बढ़कर 1,26,137 करोड़ रु. हो गया। मशीनरी के बढ़ते हुए आयात को देखकर हर्ष एवं दुख दोनों साथ-साथ होते हैं। क्योंकि एक तरफ तो लगता है कि देश खूब प्रगति कर रहा है परंतु दूसरी तरफ अपने देश की प्रौद्योगिकी क्या कर रही है जो इतना अधिक आयात हमें विदेशों से करना पड़ रहा है।

पेट्रोलियम एवं तेल उत्पाद– भारत में खनिज तेल के भंडार कम हैं। पेट्रोल के भंडार तो भारत के पास बहुत ही कम हैं। पेट्रोलियम निर्यात देशों के संघ (Organisation of Petroleum Exporting Countries) द्वारा रुक्ष तेल (Crude Oil) की कीमतों में तीव्र वृद्धि के कारण 1973-74 में पेट्रोलियम के आयात कर मूल्य बढ़कर 569 करोड़ रु. हो गया। 1980-81 में POL का आयात सारे रिकॉर्ड तोड़कर 5,264 करोड़ रु. पर आ गया। जब तेल की अंतर्राष्ट्रीय कीमतें कम हुई और देश के उत्पादन में वृद्धि हुई तो 1985-86 से 1989-90 में आयात कम होकर 4,498 करोड़ रु. के रह गए। परंतु खाड़ी युद्ध होने के कारण खनिज तेल आयात बिल बढ़कर 2010-11 में 4,82,714 करोड़ रु. हुए अर्थात यह कुल आयात 30.1% था।

निर्यात का ढांचा– निर्यातों को चार भागों में बांटा जा सकता है–

(1) कृषि तथा संबंधित उत्पाद बिल में कॉफी, चाय, खल (Oil Cakes), तंबाकू, काजू, गर्म मसाले, चीनी, कच्ची रूई, चावल, मछली और मछली से बनी वस्तुएं, गोश्त और गोश्त से बनी वस्तुएं, वनस्पति, तेल, फल, सब्जियां और दालें।

(2) अयस्कों (Ores) और खनिजों में कच्चा मैगनीज, कच्चा लोहा और अभ्रक शामिल है।

(3) निर्मित वस्तुओं में सूती वस्त्र और सिले सिलाए कपड़े, पटसन की बनी वस्तुएं, चमड़ा, जूते, हस्त शिल्प (जिनमें हीरे और कीमती पत्थर), रसायन, इंजीनियरिंग वस्तुएं और लौह तथा इस्पात सम्मिलित किये जाते हैं।

(4) खनिज ईंधन स्नेहक– समय के साथ-साथ निर्यातों में कृषि तथा उससे संबंधित वस्तुओं का महत्व कम हुआ है तथा विनिर्मित वस्तुओं का महत्व बढ़ता गया। निम्न तालिका स्पष्ट करती है कि कृषि तथा खनिज संपत्ति पर निर्भर पारंपरिक निर्यात 1970-71 में कुल निर्यात के 42% के बराबर थे लेकिन 2010-11 में कम होकर 13.69% हो गए तथा निर्मित वस्तुओं का भाग 1970-71 में 50% के लगभग था जो बढ़कर 2010-11 में 66.2% हो गया। इससे स्पष्ट है कि भारतीय निर्यात का ढांचा निर्मित वस्तुओं के पक्ष में जा रहा है।

तालिका : भारतीय निर्यात का वर्गीकरण (करोड़ रुपये)

	1970-71	1980-81	2010-11
1. कृषि तथा संबंधित वस्तुएं	487 (31.7)	2057 (30.6)	112521.8
2. अयस्क एवं खनिज	164 (10.7)	413 (6.2)	48281.6
3. निर्मित वस्तुएं	772 (50.3)	3747 (55.8)	4,65,898.5
4. पेट्रोलियम उत्पाद	13 (0.8)	28 (0.4)	190781.1
5. अन्य	99 (6.5)	465 (6.9)	39,391.5
कुल	1535 (100.0)	6710 (100.0)	1157474.6

नोट : कोष्ठक में दिए गए आंकड़े कुल का प्रतिशत हैं।

मुख्य वस्तुओं का निर्यात– मुख्य वस्तुएं निम्न हैं–

चाय एवं कॉफी– भारत के निर्यातों में इस मद का महत्व बहुत अधिक है। 1951-52 से 1961-62 में चाय का औसत वार्षिक नियति 119 करोड़ रु. था जो दूसरी योजना में बढ़कर 132 करोड़ रु. हो गया। तीसरी योजना में कुछ कम हुआ लेकिन चौथी योजना में बढ़कर 142 करोड़ रु. हो गया। 1991-92 में चाय का औसत वार्षिक निर्यात 1,132 करोड़ रु. था परंतु यह 2008-09 में बढ़कर 2,689 करोड़ रु. हो गया था। हमारी चाय यू. के., यू. एस. ए., कनाडा, आस्ट्रेलिया, रूस, मिस्र तथा जर्मनी में जाती है। 2010-11 में यह निर्यात बढ़कर 2,913 करोड़ रु. हो गया था।

रूई, सूत एवं निर्मित वस्तुएं– प्रथम एवं दूसरी योजना में सूत तथा कपड़े का औसत वार्षिक निर्यात 81 करोड़ रु. था किंतु तीसरी योजना में यह कम होकर 55 करोड़ रु. प्रतिवर्ष हो गया था। भारतीय सूती वस्त्र उद्योग में उत्पादन लागत अधिक होने के कारण भारत के लिए अंतर्राष्ट्रीय बाजार में सूत तथा कपड़ा बेचना कठिन हो जाता है। इस अधिक लागत के दो कारण माने जाते हैं–

(1) श्रम की अधिक लागत।

(2) उत्पादन कार्य में पुरानी मशीनों का प्रयोग।

रुपये का अवमूल्यन होने से निर्यात में वृद्धि हुई। 1990-91 तथा 2010-11 में सूत तथा कपड़े का निर्यात 2,100 करोड़ रु. के बढ़कर 24,745 करोड़ रु. हो गया।

सिले-सिलाए कपड़े– इस मद के निर्यात में भी वृद्धि हुई है। 1970-71 में इनका निर्यात 9 करोड़ रु. था जो 1980-81 में बढ़कर 378 करोड़ रु. हो गया तथा 2010-11 में निर्यात बढ़कर 51,047 करोड़ रु. की उच्चतम सीमा पर पहुंच गया।

चमड़ा तथा निर्मित वस्तुएं– इन वस्तुओं के निर्यात में भी लगातार वृद्धि हो रही है। 1980-81 में भारत को इस मद से लगभग 387 करोड़ रु. प्रतिवर्ष प्राप्त हुए। 2010-11 में इस मद का निर्यात बढ़कर 17,265 करोड़ रु. हो गया।

लौह अयस्क– 1960-61 में लौह अयस्क का निर्यात मूल्य लगभग 27 करोड़ रु. था किंतु इसमें लगातार वृद्धि हो रही है और 1980-81 में निर्यात 303 करोड़ रु. हो गया। 2010-11 में कच्चे लोहे का निर्यात 21,035 करोड़ रु. था। भारत को इस मद का निर्यात बढ़ाने की आवश्यकता है और इसे कच्चे लोहे का प्रयोग अपने स्टील प्लांटों में करना चाहिए।

हस्तशिल्प– भारतीय हस्तशिल्प में कला प्रारंभ से ही विदेशियों का मन मोहती आई है इसलिए इसका निर्यात भी बढ़ता जा रहा है। 1970-71 में यह 70 करोड़ रु. था जो 2010-11 में बढ़कर 1,86,915 करोड़ रु. हो गया। इसमें 92% भाग हीरों तथा जवाहारात के निर्यात का था।

इंजीनियरिंग वस्तुएं– इस मद में लौह एवं इस्पात इलेक्ट्रॉनिक वस्तुएं और सॉफ्टवेयर शमिल किये जाते हैं। 1980-81 तक भी इस वर्ग का निर्यात केवल 827 करोड़ रु. मात्र ही था, परंतु 1990-91 में इनका निर्यात बढ़कर 3,877 करोड़ रु. हो गया। 2010-11 में इनका निर्यात तीव्रगति से बढ़कर 1,81,572 करोड़ रु. हो गया जो कुल निर्यात का 15.7% है।

निर्यात का बदलता हुआ ढांचा– भारत सबसे पहले कृषि से संबंधित कच्चे माल का निर्यात करता था। कुल निर्यात में खाद्य पेय पदार्थ और तंबाकू के निर्यात के भाग में कमी का कारण तो जनसंख्या की वृद्धि और इसके परिणामस्वरूप बहुत सी पारंपरिक निर्यात वस्तुओं अर्थात चाय के निर्यात अतिरेक में इतनी वृद्धि नहीं हुई जितनी सरकार को उम्मीद थी।

1960 के बाद औद्योगीकरण के प्रभाव के कारण गैर पारंपरिक वस्तुओं के निर्यात का महत्व भी बढ़ रहा है। इस मद के प्रमुख वस्तुएं हैं – इंजीनियरिंग वस्तुएं, रसायन, सिले सिलाए कपड़े, मशीनरी परिवहन सामान और निर्मित धातुएं, मछली एवं मछली निर्मित वस्तुएं। इनसे भारत को 70% निर्यात होता है। कुछ गैर पारंपरिक वस्तुओं ने विदेशों में अच्छा स्थान बना लिया है, इसलिए भविष्य में भी इनका अच्छा निर्यात होने की आशा है। इलेक्ट्रॉनिक एवं सॉफ्टवेयर का निर्यात भी बढ़ता जा रहा है लेकिन कुछ मद ऐसी है जिनका निर्यात अभी भी चिंताजनक है जैसे– कच्चे लोहे एवं लौह तथा इस्पात का निर्यात। निष्कर्ष यह निकलता है कि पारंपरिक एवं गैर पारंपरिक दोनों ही प्रकार की वस्तुओं का निर्यात बढ़ रहा है परंतु गैर पारंपरिक में प्रगति अच्छी हुई है।

टिप्पणी

भारत के विदेशी व्यापार की दिशा

आजादी से पूर्व भारत के विदेशी व्यापार की दिशा तुलनात्मक लागत लाभ स्थितियों के द्वारा निर्धारित न होकर ब्रिटेन और भारत के बीच औपनिवेशिक संबंधों द्वारा निर्धारित थी अर्थात भारत किन देशों से आयात करेगा और कहां पर अपना माल बेचेगा यह ब्रिटिश शासक अपने देश के हित में तय करते थे, यही कारण है कि स्वतंत्रता से पहले भारत का अधिकांश व्यापार ब्रिटेन, उसके उपनिवेशों और मित्र राष्ट्रों के साथ था। यही स्थिति आधारों के बाद भी कुछ वर्षों तक चलती रही क्योंकि भारत अन्य देशों के साथ व्यापार नहीं कर पा रहा था जैसे 1950-51 में भारत की निर्यात आय में इंग्लैंड और अमेरिका का हिस्सा 42% था और आयात व्यय में 39.1% था। अन्य देशों के साथ जब राजनैतिक संबंध अच्छे हुए तब व्यापार भी बढ़ा।

भारत के विदेशी व्यापार की क्षेत्रीय दिशा का अध्ययन करने के लिए विश्व को चार बड़े भागों में बांटना होगा अर्थात (1) अमेरिका (2) यूरोप (3) एशिया एवं ओशनिया (Oceania) (4) अफ्रीका।

भारत 1951-52 में अमेरिका को अपने कुल निर्यात का 28% भेजता था 21% उत्तरी अमेरिका और 63% लेटिन अमेरिका के देशों को। धीरे-धीरे करके लेटिन अमेरिका के देशों का भाग कम हो गया। 1979-80 निर्यात का 0.3% रह गया। उत्तरी अमेरिका का भाग 1955-56 और 1968-70 में 17 से 21% के बीच था। खाड़ी युद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ व्यापार कम हो गया। बीच में यह निर्यात गिरकर 10% हो गया। संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ ऐसा क्यों हुआ? और 2010-11 में यू. एस. ए. को हमारा निर्यात कुल नियति का 10.1% हो गया। बांग्लादेश युद्ध में संयुक्त राज्य अमेरिका के शत्रु व्यवहार के कारण भारत ने संयुक्त राज्य अमेरिका पर अपनी निर्भरता कम कर दी और परिणामतः उत्तर अमेरिका से आयात कम होकर 1974-75 में 19.2% रह गए। खाद्यान्नों के अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में आयात के फलस्वरूप हमारे आयात में यू.एस.ए. का भाग 1975-76 में बढ़कर 24.6% हो गया, परंतु यह 2010-11 में गिरकर 5.3% हो गया।

तालिका : भारत के विदेशी व्यापार की दिशा (मिलियन यू.एस. डॉलर)

	1987-88				2010-11	
	निर्यात	(%)	आयात	(%)	निर्यात	आयात
1. आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन	7112	58.9	10266	59.8	84600	105302
(क) यूरोपीय संघ	3034	25.1	5707	33.3	46818	42409
(क) फ्रांस	292	2.4	615	3.6	5048	3531
(ख) बेल्जियम	374	3.1	1057	6.2	6413	8314
(ग) जर्मनी*	817	6.8	1665	9.7	6730	11437
(घ) यू.के.	783	6.5	1410	8.2	7181	5109
(ङ) इटली	384	3.2	373	2.2	4538	4076
(ख) उत्तरी अमेरिका	2380	19.7	1774	10.3	26949	20463
(क) कनाडा	128	1.1	230	1.3	1353	1932
(ख) यू.एस.ए	2252	18.6	1544	9.0	25596	18531
(ग) अन्य ओ.इ.सी.डी देश	1708	14.1	2784	16.2	10834	40086
(क) ऑस्ट्रेलिया	138	1.1	388	2.3	1711	10246
(ख) जापान	1245	10.3	1640	9.5	5216	8146

(ग) स्विट्जरलैंड	157	1.3	182	1.1	744	21694
2. पेट्रोलियम निर्यातक देश	742	6.1	227	13.3	54733	119117
(क) ईरान	107	0.9	111	0.6	2730	10712
(ख) इंडोनेशिया	21	0.2	54	0.3	6304	9485
(ग) सऊदी अरब	214	1.8	590	3.4	5198	20111
(घ) यू.ए.ई.	239	2.0	588	3.4	33135	28269
3. पूर्वीय यूरोप	2001	1.7	1640	9.6	2973	5607
(क) रूस	1514	1.3	1240	7.2	1576	3455
4. विकासशील देश जिसमें	1719	14.2	2967	17.3	105693	115239
एशिया	1443	11.9	2077	12.1	78545	94187
(क) चीन गण्तंत्र	15	0.1	119	0.7	19247	40218
(ख) हांगकांग	344	2.8	93	0.5	11420	8505
(ग) दक्षिण कोरिया	112	0.9	257	1.5	4105	10055
(घ) मलेशिया	70	0.6	648	3.8	3986	6294
(ङ) सिंगापुर	210	1.7	323	1.9	10601	6694
सार्क देश**	313	2.6	75	0.4	12706	2018
(क) अफ्रीका	9	–	–	–		
(ख) लेटिन अमेरिका	33	0.3	387	2.3	16636	12501
5. अन्य 505	4.2	6	–	10512	8551	
कुल (1 से 5)	12088	100.2	17156	100.0	254402	352575.0

नोट : कोष्ठक में दिए गए आंकड़े तदनुरूप कॉलम में कुल का प्रतिशत है। * इसमें पूर्वीय एवं पश्चिमी दोनों भागों के आंकड़े पूरे जर्मनी के लिए शामिल किये गए हैं। ** सार्क (सार्क) देशों में हैं : भारत, पाकिस्तान, बांग्लादेश, नेपाल, भूटान, श्रीलंका और मालदीव। **पेट्रोलियम** निर्यात देशों (OPEC) में शामिल हैं : ईरान, इराक, कुवैत, सऊदी अरब और यू.ए.ई.। यूरोपीय संघ में बेल्जियम, फ्रांस, जर्मनी, इटली, नीदरलैंड और यू.के. शामिल हैं।

1991 के बाद भारत के विदेशी व्यापार की संवृद्धि एवं संरचना–1991 से भारत सरकार ने 'विदेशी व्यापार क्षेत्र में खुलेपन या उदारीकरण' की नीति को अपनाया है। जैसे– जुलाई 1991 में रुपये का अवमूल्यन (तथा बाद में मुख्य विकसित देशों की मुद्राओं की तुलना में उसका मूल्य ह्रास) रुपये के पहले व्यापार पर और इसके बाद संपूर्ण चालू खाते पर परिवर्तनीयता, आयात शर्तों का उदारीकरण, सीमा शुल्क दरों में भारी कटौती, कुछ वस्तुओं को खुले आयात करने की अनुमति आदि। विदेशी व्यापार सुधारों एवं उदारीकरण के कारण व्यापार क्षेत्र में बहुत से परिवर्तन हुए। परिणामस्वरूप अंतर्मुख नीति (Inword Oreinted policy) के स्थान पर बाह्य उन्मुख नीति (Outword Oreinted policy) को लागू किया जा रहा है।

भारतीय विदेशी व्यापार उदारीकरण के बाद तीव्र गति से बढ़ा। भारत सरकार द्वारा निर्यातों को प्रोत्साहन देने के फलस्वरूप 1970–91 में निर्यात बढ़कर 32,558 करोड़ रु. के हो गए अर्थात 17.7% बढ़े परंतु खाड़ी युद्ध के कारण सरकार आयात को सीमित करने में असफल रही और आयात बढ़कर 43,193 करोड़ रु. हो गए अर्थात ये 22.6% बढ़े। यानी निर्यातों में वृद्धि 17.7% की तथा आयातों में वृद्धि 22.6% की हुई। हमारे आयात अधिक होने के कारण 10,635 करोड़ रु. का व्यापार शेष घाटा हो गया।

1991–92 में अमेरिकी डॉलर के रूप में निर्यात में 1.5% की कमी हुई और वे 1991–92 में 1,786 करोड़ डॉलर थे। परंतु आयात संकुचन तीव्र होने के कारण 19.4%

की कमी आई। 1990-91 में 2,407 करोड़ डॉलर से गिरकर 1991-92 में 1,941 करोड़ डॉलर रह गया अर्थात 1991-92 में व्यापार घाटा 155 करोड़ डॉलर हो गया, जबकि 1990-91 में 593 करोड़ डॉलर था। इसके बाद सरकार ने नई व्यापार नीति में निर्यात बढ़ाने के लिए बहुत कार्य किया तथा बहुत सी सुविधाएं उद्यमियों को प्रदान की। इसके अतिरिक्त निर्यात-आयात स्क्रिप्स की इजाजत प्रदान करना, नकद क्षतिपूर्ति आलंबन तथा रु. का दो बार अवमूल्यन।

लेकिन ये सभी उपाय निर्यातों को बहुत अधिक प्रभावित नहीं कर पाए। सामान्य करेंसी क्षेत्र में भी डॉलर के रूप में निर्यात में केवल 6.3% की वृद्धि हुई। इसकी तुलना में करेंसी क्षेत्र में 1991-92 के दौरान निर्यात में 42.5% की गिरावट आई। इसका प्रमुख कारण सोवियत संघ में कठिन राजनैतिक स्थिति थी, जिसके परिणाम इसके विघटन के रूप में सामने आए। अतः निर्यात में कमी हुई।

आर्थिक सुधारों के बाद भारत में निर्यात वृद्धि के सरकारी प्रयत्न

आर्थिक सुधार एवं उदारीकरण की अवधि 1991 से भारत की व्यापार नीति को उदार बनाया गया तथा निर्यात बढ़ाने के लिए सरकार ने निम्न प्रयत्न किये–

(1) **निर्यात पर कम नियंत्रण–** निर्यातों पर नियंत्रण कम किये तथा निर्यात उद्योगों की लाइसेंस नीति को उदार बनाया। इसके साथ-साथ कुछ वस्तुओं पर से बिल्कुल निर्माण नियंत्रण समाप्त कर दिये गए तथा निर्यात प्रक्रिया को सरल कर दिया।

(2) **स्टार ट्रेडिंग गृहों की योजना–** निर्यातों को बढ़ाने के लिए सरकार ने निर्यात गृह (Export House), निर्यात व्यापार गृह (Export Trading House) तथा स्टार व्यापार गृह (Star Trading House) की योजनाएं लागू की है। इसके साथ-साथ 1 अप्रैल 1994 से सुपर स्टार ट्रेडिंग गृह भी शुरू की गई है।

(3) **सरकारी एजेंसियों की शर्त को हटाना–** भारत में कुछ वस्तुओं का आयात एवं निर्यात केवल सरकारी एजेंसियों की शर्तों पर किया जाता था उसे समाप्त किया गया। 13 अगस्त 1991 को घोषित अनुपूरक व्यापारनीति में इस सूची का उल्लेख किया गया है।

(4) **विदेशी मुद्रा खरीदने तथा बेचने की स्वतंत्रता :** अगस्त 1994 से भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा निर्यातकों को विदेशी खातों से संबंधित भुगतान पर एक सीमा तक छूट दे दी गई है। इसका तात्पर्य है कि निर्यातक एक सीमा तक निर्यातों से प्राप्त विदेशी मुद्रा को बाजार दर पर बेचने में स्वतंत्र हैं। इससे उनके लाभ में वृद्धि होगी। 1997 में रुपये की पूर्ण परिवर्तनशीलता के संबंध में सिफारिश करने के लिए तारा पौर कमेटी की स्थापना की गई। मई 1997 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसमें वर्ष 1999-2000 तक तीन चरणों में रुपये की पूंजी खाते में पूर्ण परिवर्तनीय बनाने की संस्तुति की थी।

(5) **सेवा क्षेत्र के लिए निर्यात योजना–** सेवाओं के निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए एक नई योजना 'सेवा क्षेत्र के लिए निर्यात संवर्द्धन योजना' नाम से शुरू की गई। इस योजना में व्यावसायिक सेवाएं प्रदान करने वाले व्यक्तियों को 15 प्रतिशत की रियायती शुल्क दर पर पूंजी उपकरणों के आयात की सुविधा दी गई लेकिन

इस सुविधा का लाभ वो तभी उठा सकेंगे जब विदेशी मुद्रा को कमाएंगे। सेवा चाहे देश में हो या विदेश में।

(6) **निर्यात प्रोसेसिंग मंडल–** निर्यातों को बढ़ाने के लिए सरकार ने मुंबई, नोएडा, फालटा, कोचीन आदि में निर्यात प्रोसेसिंग मंडल स्थापित किये। इन मंडलों के अंतर्गत जो भी कारखाने हैं वह विश्व के किसी भी देश से विदेशी व्यापार करने के लिए स्वतंत्रता हैं।

(7) **निर्यातोन्मुख इकाइयां–** सरकार ने निर्यात प्रोसेसिंग क्षेत्रों के पूरक के रूप में 1981 में शत प्रतिशत निर्यात करने वाली इकाइयों के लिए एक योजना प्रारंभ की थी। इस योजना के अंतर्गत आने वाली इकाइयों द्वारा निर्यातों के लिए उत्पादन क्षमता को बढ़ाने के लिए अनेक प्रकार के प्रोत्साहन दिये जाते हैं। अंतर्राष्ट्रीय बाजार में प्रतियोगी बनाने हेतु इन इकाइयों को मशीन, कच्चा माल, उपकरण तथा शुल्क मुक्त उपभोग वस्तुओं के आयात की भी स्वीकृति प्रदान की गई।

(8) **निर्यात गृहों व व्यापार गृहों को और सुविधाएं–** 1991 की नीति में निर्यात गृहों, व्यापार गृहों तथा स्टार व्यापार गृहों को कई मदों में व्यापार करने की अनुमति दी गई। सरकार ने निर्यातों को प्रोत्साहित करने के दृष्टिकोण से 51 प्रतिशत विदेशी इक्विटी के साथ व्यापार गृहों की स्थापना की अनुमति दी। इन व्यापार गृहों का घरेलू निर्यात गृहों को उपलब्ध सभी लाभों व रियायतों का आश्वासन दिया गया।

(9) **विशेष आर्थिक क्षेत्र–** 1 अप्रैल 2000 से प्रभावी एग्जिन नीति में चीनी मॉडल का अनुसरण करते हुए विशेष आर्थिक क्षेत्र (SEZ) योजना लागू की गई जिसका उद्देश्य निर्यात हेतु अंतर्राष्ट्रीय रूप में प्रतिस्पर्धा एवं बाधा रहित वातावरण उपलब्ध करना है। देश के निर्यात संवर्द्धन क्षेत्रों (Export Processing Zones) को विशेष आर्थिक क्षेत्रों (Special Economic Zones) में बदला जा चुका है।

(10) **पूंजीगत वस्तु निर्यात प्रोत्साहन योजना–** 1995-96 की नीति में सेवा क्षेत्र की पूंजीगत वस्तु निर्यात प्रोत्साहन (Export Promotion Captital) योजना के तहत वस्तुओं को आपूर्ति के समकक्ष कर दिया गया। इससे वित्तीय सेवाओं में लगी कंपनियों, बैंकों, होटल व हवाई सेवाओं, कानूनी सेवाओं इत्यादि को लाभ प्राप्त होगा।

(11) **एक्सपोर्ट प्रोसेसिंग जोन्स की स्थापना–** निर्यात वृद्धि के लिए आधारिक संरचना सुदृढ़ करने के उद्देश्य से सरकार ने पहली बार निजी क्षेत्र में दो Export processing zones (EPZs) स्थापित किए। इनको स्थापित करने की अनुमति दिसंबर 1994 में दी गई।

भारत में निर्यात में धीमी वृद्धि के कारण अथवा भारत में निर्यात प्रोत्साहन के मार्ग में बाधाएं

मुख्य कारण

(1) भारत द्वारा निर्यात की जाने वाली अनेक वस्तुओं के मूल्य दूसरे देशों की तुलना में बहुत ज्यादा हैं जिसके कारण उन वस्तुओं का निर्यात कम हो जाता है।

(2) भारत अपनी जिन परंपरागत वस्तुओं का निर्यात करता है उन वस्तुओं के लिए भी उसे विदेशी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ रहा है।

(3) भारत से निर्यात होने वाली अनेक वस्तुओं की किस्म उतनी अच्छी नहीं है जितनी की विदेशी वस्तुओं की होती है। यह कारण भी निर्यात को हतोत्साहित करने में सफल रहा है।

(4) भारत कुछ वस्तुओं का निर्यात स्वतंत्रता से पहले से करता आ रहा है। उन वस्तुओं के निर्यात में भी बाधा उत्पन्न होने लगी है जैसे सूती कपड़ा।

(5) भारतीय वस्तु विदेशी बाजार में प्रचारित नहीं है।

(6) विकसित देश अविकसित देशों का विकास नहीं होने देना चाहते हैं, इसलिए उनके द्वारा संरक्षण नीति अपनाई जाती है।

निर्यात संवर्द्धन के लिए सुझाव– निर्यात बढ़ाने के लिए अनेक दिशाओं में प्रयत्न करने की आवश्यकता है।

(1) भारत में विदेशी उद्यम– विदेशी उद्योगपतियों को भारत में अधिक से अधिक उद्योग लगाने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। बहुराष्ट्रीय कंपनियां (Multinational companies) इस दिशा में काफी सफल हो रही हैं तथा भारतीय उद्योगों को भी विदेशी सहयोग लेने में शर्म महसूस नहीं करनी चाहिए।

(2) परोक्ष करों में कमी– निर्यात की जाने वाली वस्तुओं पर से परोक्ष कर हटा लेने चाहिए। आजकल ऐसा केवल निर्यात करों के लिए किया जा रहा है। अन्य परोक्षकरों के संबंध में नहीं जो कि बहुत बड़ी धनराशि एकत्र करवाते हैं।

(3) उत्पादन में वृद्धि– निर्यातों को बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि कृषि, खनिज एवं औद्योगिक क्षेत्रों में उत्पादन में वृद्धि की जाए। उत्पादन को बढ़ाकर ही निर्यात योग्य बचत में वृद्धि हो सकती है।

(4) निर्यात में विविधता– भारत के लिए नियति में विविधता एवं नये बाजार ढूंढ़ना अत्यंत आवश्यक है। भारत को विदेशी मांग के अनुसार नये पदार्थों का उत्पादन करना और बढ़ाना चाहिए। भारत कच्चा माल, लोहा, एल्युमीनियम आदि कुछ ऐसे पदार्थों को रखता है जिनसे वह अर्द्धविकसित या निर्मित वस्तुएं बनाकर विदेशों को भेज सकता है लेकिन इस दिशा में सरकार को ध्यान देने की आवश्यकता है।

(5) खुली अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहन– ऐसा वातावरण तैयार करना है जिससे निर्यात बाजार को अधिकाधिक आकर्षक बना सके। जो निर्यातक वस्तुओं का निर्यात करते हैं उनको घरेलू बिक्री की अपेक्षा अधिक लाभ प्राप्त होने चाहिए। लाभ से आकर्षित होकर उद्यमी अधिक उत्पादन करने के लिए प्रोत्साहित होंगे।

(6) घरेलू उपभोग पर प्रतिबंध– कुछ वस्तुओं का निर्यात करने के लिए पर्याप्त मात्रा में घरेलू उपभोग पर प्रतिबंध लगाए जाने चाहिए। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि कुल उपभोग या प्रति व्यक्ति वर्तमान उपभोग कम हो जाएगा। बल्कि हमें उन वस्तुओं के घरेलू उपभोग पर आवश्यक प्रतिबंध लगाने होंगे। अधिक विदेशी मुद्रा प्राप्त करने के लिए ऐसा करना अत्यंत आवश्यक है।

(7) **बहुपक्षीय तथा द्विपक्षीय समझौते–** विदेशी विनिमय की अधिक प्राप्ति हेतु द्विपक्षीय समझौते जिनमें रु. के रूप में वस्तुओं का आयात तथा निर्यात किया जाता है, के स्थान पर बहुपक्षीय समझौतों को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए। इससे अधिक विदेशी विनिमय मिल सकेगा।

(8) **कच्चे माल की अंतर्राष्ट्रीय मूल्यों पर उपलब्धि–** निर्यात वस्तुओं के मूल्य को प्रतिस्पर्द्धात्मकता के स्तर पर लाने के लिए यह आवश्यक है कि निर्यात उद्योगों को आयातित कच्चे माल आदि अंतर्राष्ट्रीय मूल्यों पर उपलब्ध कराये जाए। अभी कुछ थोड़ा कच्चा माल ही राजकीय व्यापार निगम द्वारा उपलब्ध कराया जाता है।

(9) **निर्यात संबधी सूचना का उचित प्रबंध–** देश में निर्यात संबंधी सूचना का अधिक विस्तार किया जाना चाहिए जिससे जनता को यह जानकारी रहे कि कौन सी वस्तुओं का निर्यात किया जा सकता है।

(10) **विदेशों में संयुक्त उद्यम–** भारत के उद्यमियों तथा सरकार को विदेशों में संयुक्त उद्यम स्थापित करने चाहिए। इससे हमारे निर्यात हमारे अनुकूल हो सकते हैं।

विदेशी व्यापार नीति, 2004-09– 31 अगस्त 2004 को इस नीति की घोषणा की गई। इसके अंतर्गत भारत के विदेशी व्यापार का समग्र रूप में अवलोकन किया गया तथा और अधिक विकास करने के लिए कुछ नये दिशा निर्देश तैयार किये गए।

नीति के मुख्य उद्देश्य– इस नीति के दो प्रमुख उद्देश्य थे–

(1) भारत की भागीदारी विश्व व्यापार में 2009 तक दोगुनी करनी है।

(2) रोजगार में वृद्धि करते हुए व्यापार नीति को आर्थिक विकास के एक मंत्र के रूप में किया जाना।

इस नीति को और अधिक सफल बनाने के लिए निम्न उद्देश्य और शामिल किये गए–

(1) व्यापार प्रतिबंधों को कम किया जाए परंतु इसके साथ विश्वास एवं पारदर्शिता होनी चाहिए।

(2) व्यापार लागत के कम करने के साथ व्यापार प्रति को आसान बनाया जाए।

(3) जिन वस्तुओं का निर्यात किया जा रहा है उन सभी वस्तुओं से कर एवं शुल्क हटा लेने चाहिए।

(4) भारत को विश्व व्यापार केंद्र के रूप में विकसित करना जिसमें विनिर्माण व्यापार और सेवाओं का विकास होगा।

(5) ऐसे क्षेत्रों की खोज करना जहां पर रोजगार के अवसर प्राप्त हो सकें।

(6) विभिन्न उद्योगों में प्रौद्योगिकी एवं बुनियादी सुविधाओं को उन्नत करना जिससे पूंजीगत सामान और उपकरणों के आयात कर लाभ मिल सके जिससे उत्पादन लागत कम हो और उत्पादन बढ़े तथा लाभ बढ़े।

(7) मुक्त, क्षेत्रीय एवं अन्य समझौतों के समय घरेलू व्यापार की सुरक्षा का ध्यान रखना। यानी नीति को सफल बनाने तथा उससे लाभ लेने के लिए आवश्यक है कि संपूर्ण ढांचागत नेटवर्क में उन्नति की जाए।

(8) व्यापार बोर्ड के नियमों तथा कानूनों में दुबारा से संशोधन किये जाएं।

(9) व्यापार नीति में विदेश स्थित भारतीय मिशनों की अहम् भूमिका रेखांकित करना तथा इलेक्ट्रॉनिक प्लेटफॉर्म के जरिए वाणिज्यिक जानकारी का सूचना तंत्र विकसित करना।

प्रमुख विशेषताएं

(1) निर्यात उत्पादों की लागत कम करने के लिए समस्त क्षेत्र को सेवाकर से मुक्त कर दिया गया है।

(2) इस योजना के अंतर्गत पूंजीगत सामान का ड्यूटी फ्री आयात इनके निर्यातकों द्वारा किया जाएगा? एक्सपोर्ट प्रमोशन कैपिटल गुड्स योजना को और अधिक उदार बनाया गया है।

(3) इस नीति के अंतर्गत सेवा निर्यात संवर्द्धन परिषद् का गठन किया गया है जिससे विश्व के प्रमुख बाजारों में कुछ प्रमुख सेवाओं के निर्यात को बढ़ावा दिया जा सकें

(4) निर्यातों से अधिक से अधिक व्यक्तियों को रोजगार प्राप्त हो सके इस बात को ध्यान में रखकर पांच परंपरागत निर्यातों- कृषि, हस्तशिल्प, हथकरघा, चमड़ा एवं कुटीर उद्योगों तथा रत्नों व आभूषणों को प्रमुखता प्रदान की गई।

(5) आयातित आगतों पर शुल्क को समाप्त करने वाली योजना को फिलहाल जारी रखा जाएगा किंतु शीघ्र ही WTO के प्रावधानों के अनुरूप इसे शीघ्र ही नई योजना द्वारा प्रतिस्थापित किया जाएगा।

(6) फल-फूलों व सब्जियों एवं लघु वनोत्पादों तथा इनके मूल्यवर्द्धित उत्पादों के निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए विशेष कृषि योजना नाम से नये पैकेज की घोषणा की गई। इसमें आने वाले उत्पादों का निर्यात 5 प्रतिशत ड्यूटी फ्री क्रेडिट इंटाइटलटमेंट के लिए हकदार होगा।

(7) सेवाओं के निर्यातकों के लिए शुल्क मुक्त आयात की सुविधा।

(8) निर्यातों को तेजी से बढ़ाया जा सके इसके लिए एक नई योजना टारगेट प्लस के नाम से बनाई गई है जो निर्यातक लक्ष्य से अधिक निर्यात करेंगे उनके लिए ड्यूटी फ्री क्रेडिट की सुविधा दी जाएगी।

(9) पुरानी मशीनों के आयात पर प्रतिबंध की समाप्ति।

(10) स्वतंत्रता व्यापार को ऊंचा उठाने के लिए विशेष आर्थिक क्षेत्रों की तर्ज पर फ्री ट्रेड एंड वेयर हाउसिंग जोन्स की स्थापना की है। इस जोन्स में स्थापित इकाइयों को हर प्रकार की सुविधा प्रदान की जाएगी। ऐसे क्षेत्रों तथा इनमें आधारिक संरचना के विकास के लिए 100% तक प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग की अनुमति होगी।

(11) निर्यातों में तेजी लाने के लिए सेवाओं के लिए शुल्क मुक्त निर्यात क्रेडिट (EFEC) की पूर्ण योजना में पुनः सुधार कर फ्रॉम इंडिया नामक एक नई योजना के रूप में स्थापित किया गया। इस योजना के अंतर्गत प्रदाता जो कम से कम 10 लाख रु. की विदेशी मुद्रा अर्जित करते हैं। उनके द्वारा अर्जित विदेशी मुद्रा के दस प्रतिशत की शुल्क मुक्त हकदारी के पात्र होंगे।

(12) मुक्त व्यापार को बढ़ाने के लिए विशेष आर्थिक क्षेत्रों की तरह फ्री ट्रेड एंड वेयर हाउसिंग जोन्स की स्थापना की गई है। इस जोन्स में स्थापित इकाइयों को सभी सुविधाएं उपलब्ध होंगी जो विशेष आर्थिक क्षेत्रों में उत्पादक इकाइयों को उपलब्ध है। ऐसे क्षेत्रों तथा इनमें आधारिक संरचना के विकास के लिए 100% तक प्रत्यक्ष विदेश विनियोग की अनुमति होगी।

आलोचना

इसके अंतर्गत सेवा क्षेत्र तथा कृषि व हस्तशिल्प को प्राथमिकता दी गई है, लेकिन कृषि निर्यात को बढ़ाने के अलावा और कुछ तात्कालिक छूट व राहतों के अलावा जरूरी है बुनियादी सुविधाओं में सुधार तथा प्रोसेसिंग उद्योगों को बढ़ावा मिले।

सरकार द्वारा अपनाये गए सभी उपाय तत्कालिक हैं। पिछली सरकारें भी इसी प्रकार के उपायों पर आधारित है। भारत जैसे अल्पविकसित देश में दीर्घकालीन योजनाओं को बनाने की आवश्यकता है। सरकार को व्यापार की प्रशासनिक बाधाओं को दूर करना होगा, आयात एवं निर्यात के लिए एक समान शुल्क दर होगी, विश्वास और ईमानदारी का वातावरण तैयार करना होगा, उत्पादन बढ़ाने के लिए तकनीकी एवं बुनियादी ढांचे में सुधार करना आवश्यक है तथा विदेशी निवेश को नियंत्रित करने के लिए बेहतर वातावरण बनाना होगा।

नई विदेशी व्यापार नीति 2009–14

27 अगस्त 2009 को भारत सरकार ने एक नई विदेश नीति की घोषण की। यह नीति 5 वर्षों के लिए है। नई नीति (2009-2014) के नये उभरते बाजारों पर विशेष ध्यान देने के लिए भारतीय निर्यात को और अधिक प्रतिस्पर्धी बनाने का फैसला किया है। अतिरिक्त संसाधनों, बाजार विकास सहायता योजना और मार्किट को एक्सेस इनीशिएटिव बनाने का फैसला किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रोत्साहन योजनाओं के प्रमुख उत्पादों जो निर्यात विकास के अगले चरण को उत्प्रेरित करते हैं कि पहचान करने के लिए युक्ति-युक्त बनाया जा रहा है।

नीति के प्रमुख लक्ष्य

(1) अल्पकालीन उद्देश्य निर्यातों में गिरावट की प्रवृत्ति को रोकना, निर्यात वृद्धि को फिर से संभव बनाना तथा विकसित देशों में मंदी से बुरी तरह प्रभावित निर्यात सेक्टरों को अतिरिक्त सहायता प्रदान करना है।

(2) नीति में दो वर्षों 2009-10 तथा 2010-11 के निर्यातों में 15% प्रतिवर्ष वृद्धि तथा मार्च 2011 तक वार्षिक 200 अमेरिकी बिलियन डॉलर का निर्यात लक्ष्य रखा है।

(3) वाणिज्य मंत्रालय को उम्मीद है कि अगले तीन वर्षों (2011-14) में देश फिर से 25 प्रतिशत प्रतिवर्ष निर्यात वृद्धि की दर प्राप्त करने में सफल होगा परिणामस्वरूप 2014 तक निर्यात वस्तुओं एवं सेवाओं का बाजार दोगुना हो जाएगा।

(4) नीति का दीर्घकालीन लक्ष्य वर्ष 2020 तक विश्व व्यापार में भारत का हिस्सा दोगुना करना है यानी 2008 में 1.64 प्रतिशत से बढ़ाकर वर्ष 2020 में 3.20% करना है।

टिप्पणी

निम्न तालिका कुछ वर्षों में निर्यात और उनकी वृद्धि दर को दर्शा रही है–

तालिका : निर्यात एवं वृद्धि दर की स्थिति
(दर फीसदी व निर्यात राशि अरब डॉलर में)

वर्ष	निर्यात (अरब डॉलर)	वृद्धि दर (%)
2004–05	083.5	30.8
2005–06	103.0	23.4
2006–07	126.3	22.5
2007–08	126.9	29.0
2008–09	168.0	03.4

विदेशी व्यापार नीति की विशेषताएं

(1) **फोकस बाजार योजना का विस्तार–** वर्तमान में भारत के निर्यातों की स्थिति कुछ बाजारों में इस प्रकार है–

यूरोप – 36%

अमेरिका – 18%

जापान – 16%

हाल ही में जो वैश्विक वित्तीय संकट आया था उसका भारत के परंपरागत बाजारों पर भी बुरा प्रभाव पड़ा इसलिए भारत के निर्यात घट गए। मांग में कमी की समस्या को दूर करने के लिए FTP (2009-14) में फोकस बाजार योजना के तहत 26 नये बाजार शामिल किये गए है जिसमें से 16 नये बाजार लेटिन अमेरिका में तथा 10 एशिया-ओसियाना में है। निर्यात बाजारों में इस विविधीकरण का निर्यात आय पर सकारात्मक प्रभाव की उम्मीद है।

(2) **फोकस बाजार योजना (FMS) तथा फोकस उत्पाद योजना (FPS)–** इस योजना के अंतर्गत उपलब्ध प्रोत्साहन को 2.5% से बढ़ाकर 3.0% तथा Focus production scheme के अंतर्गत उपलब्ध प्रोत्साहन को 1.25% से बढ़ाकर 2.0% कर दिया गया है। FPS में कई और उत्पादों को भी शामिल किया गया है जैसे कृषि मशीनरी, सिलाई की मशीनें, हाथ के औजार, पार्क औजार, संगीत यंत्र, घंटिया, रेलवे इंजन, प्लास्टिक उत्पाद, जूट तथा रस्सी, टेक्सटाइल, पर्यावरण अनुकूल उत्पाद जैसे पवन चक्की, पवन टरबाइन (Wind turbine), बिजली से चलने वाले वाहन आदि।

औषधियां, सिंथेटिक कपड़ों, रबड़ उत्पादों, प्लास्टिक, टेक्सटाइल से बने कपड़े, बुनाई से तैयार कपड़ा उत्पादों, कांच उत्पादों, लोहा एवं इस्पात उत्पादों तथा एल्युमीनियम से बने कुछ उत्पादों को फोकस बाजार योजना का लाभ मिलेगा। वह अपने माल का नियति 13 विशिष्ट बाजारों के अंतर्गत करते हैं। ये विशिष्ट बाजार हैं– अल्जीरिया, कीनिया, नाइजीरिया, दक्षिण अफ्रीका, मिस्र, तंजानिया, ब्राजील, मेक्सिको, यूक्रेन, वियतनाम, कंबोडिया, ऑस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड।

(3) निर्यात प्रोत्साहन पूंजीगत वस्तु योजना– इंजीनियरिंग और इलेक्ट्रॉनिक उत्पादों, बुनियादी रसायन और दवाइयों, वस्त्रों, प्लास्टिक, हस्तशिल्प तथा चमड़े की वस्तुओं के उत्पादन के लिए पूंजीगत वस्तुओं को बिना सीमा शुल्क दिये, आयात करने की सुविधा दी गई है। इनसे भारत को तुलनात्मक लाभ प्राप्त होता है तथा शून्य सीमा शुल्क पर पूंजीगत वस्तुओं के आयात की सुविधा से इनमें प्रौद्योगिकी सुधार करने को प्रोत्साहन मिलेगा। कंपनियों को इनका लाभ उठाने के लिए 31 मार्च 2011 तक का समय दिया गया।

(4) ड्यूटी इंटाइटलमेंट (हकदारी) पासबुक योजना– इस योजना को जो निर्यात उत्पादों के उत्पादन में प्रयुक्त आयातों पर प्रशुल्क दरों के असर को निष्प्रभावी करती है, 31 दिसंबर 2010 तक और बढ़ा दिया गया था।

(5) निर्यात उन्मुख इकाइयां– पहले निर्यात इकाइयों को यह छूट मिली हुई थी कि वह अपने उत्पादन का 75% घरेलू प्रशुल्क क्षेत्र में बेच सकती है। FTP (2009. 14) में इस अधिकतम सीमा को बढ़ाकर 90% कर दिया गया है।

(6) कार्य-संपादन संबधी लागतें कम करने तथा सरलीकरण के कदम– इस नीति में प्रशासनिक देरियों को कम करने के लिए तथा कार्य संपादन संबधी लागतें घटाने के लिए कई कदमों की घोषणा की गई है। जैसे–

(क) निर्यात प्रोत्साहन पूंजीगत वस्तु योजना (EPCG) के अधीन आवेदन पत्रों व ऋण मोचन पत्रों (application and Redemption forms) को सरल बना दिया गया है।

(ख) जो लाइसेंस हाथ से लिखे हुए हैं उन लाइसेंस आवेदन पत्रों पर अधिकतम फीस डेढ़ लाख से कम करके एक लाख रुपया तथा इलेट्रॉनिक माध्यम से तैयार लाइसेंस आवेदन पत्रों पर अधिकतम फीस 75,000 से कम करके 50,000 रु. कर दी गई है।

(ग) कार्य संपादन लागतें कम हो सकें इसके लिए आयातित वस्तुओं को बंदरगाहों से सीधे उत्पादन स्थान पर ले जाने की सुविधा दी गई है।

(घ) निर्यातकों के लिए नमूनों (Samples) के आयात को आसान बनाने की दिशा में भी प्रयास किये गए हैं जैसे नमूनों को कस्टम से छुड़ाने के लिए अब आयातकों द्वारा उनके मूल्य व मात्रा संबंधी घोषणा को सही मानना। पहले 15 नमूनों के आयात की स्वीकृति प्राप्त थी उसके स्थान पर अब बढ़ाकर 50 कर दी गई है। निर्यात प्रोत्साहन दौरों के लिए अपने साथ ले जा सकने वाले नमूनों (Samples) की कीमत सीमा को भी 10 लाख डॉलर तक बढ़ा दिया गया है।

(ङ) सरकार के द्वारा उत्पादकों को यह भी रियायत दी गई है कि वे उत्पाद शुल्क को देने के बाद विनिर्माण अपशिष्ट का निपटारा कर सकते हैं।

(च) जल्दी निर्णय और कार्यवाही करने के लिए कम्प्यूटरों की व्यवस्था की जाएगी तथा अन्य इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों का भी प्रयोग किया जाएगा।

(7) चाय की रियायतें– चाय के निर्यात के लिए अग्रिम प्राधिकरण योजना के तहत कंपनियां अपने उत्पाद का 50% तक घरेलू प्रशुल्क क्षेत्र में बेच सकती

टिप्पणी

है। चाय निर्माताओं को भी विशेष कृषि और ग्राम उद्योग योजना के अधीन उपलब्ध लाभ मिलेंगे।

(8) **कृषि क्षेत्र में रियायतें–** नाशवान कृषि वस्तुओं के निर्यात गैर मजबूत कृषि उत्पादों के निर्यात को सुविधाजनक बनाने के लिए एकल खिड़की प्रणाली प्रारंभ की गई जो लेनदेन और हैंडलिंग लागत को कम करने के लिए शुरू की गई है जिससे एक ही स्थान पर सभी औपचारिकताएं पूरी हो जाएं तथा समय की बचत हो सके।

(9) **चमड़ा क्षेत्र के लिए रियायतें–** चमड़ा क्षेत्र को यह अनुमति दी गई कि वह आयातित खालें तथा अर्धतैयार (Semifinshed) चमड़ा वस्तुओं का पुनः निर्यात कर सकते हैं।

(10) **प्रदर्शनियों में हिस्सा–** विदेशों में आयोजित होने वाली प्रदर्शनियों में निर्यातक हिस्सा लेने के लिए 50 लाख डॉलर तक का सामान ले जा सकते हैं। जबकि पहले यह 20 लाख की सीमा पर प्रतिबंधित था।

(11) **सॉफ्टवेयर टेक्नोलॉजी–** 100% निर्यात उन्मुख इकाइयों तथा सॉफ्टवेयर टैक्नोलॉजी पार्कों में स्थापित इकाइयों के लिए आयकर से छूट की अवधि को मार्च 2011 तक बढ़ा दिया गया है।

(12) **डॉलर साख मांग स्वीकार–** बहुत लंबे समय से निर्यातक डॉलर साख (dollar credit) की मांग कर रहे थे, जिसे स्वीकार कर लिया गया है, तथा यह भी विश्वास दिलाया गया है कि एक समय अवधि में यह सहायता प्रदान की जाएगी। यह सहायता प्रमुख रूप से लघु एवं मध्यम उद्यमियों को दी जाएगी।

इस नीति पर टिप्पणी करते हुए भारतीय विदेश व्यापार संस्थान के निदेशक के.टी. चाको ने कहा है कि यद्यपि यह नीति विदेशी व्यापार के तीनों प्रमुख लक्ष्यों– (1) आधारिक संरचना (2) प्रशुल्कों की वापसी (3) कार्य संपादन संबंधी लागतों को कम करने को पूरा करती है तथापि इससे स्वयं को चालू निर्यात स्तरों को बनाए रखने के अल्पकालीन उद्देश्य तक ही सीमित रखा है। उनके शब्दों में "स्थिरीकरण के दृष्टिकोण से नीति में कुछ नहीं किया गया है क्योंकि इसमें घोषित राजकोषीय लाभ केवल 2011 तक ही उपलब्ध होंगे। इसके अतिरिक्त इस बात की भी नितांत आवश्यकता है कि निर्यातकों को सस्ती दरों पर बैंक ऋण उपलब्ध कराए जाएं जैसा कि उन देशों में किया जा रहा है जो हमारे प्रतियोगी हैं।"

अपनी प्रगति जांचिए

1. सन् 1991 में सरकार ने विदेशी व्यापार के क्षेत्र में कौन–सी नीति को अपनाया

   (क) राजकोषीय नीति — (ख) मौद्रिक नीति

   (ग) उदारीकरण नीति — (घ) व्यापारिक नीति

2. नई विदेशी व्यापार नीति की घोषणा कब की गई?

   (क) 27 जून 2008 को — (ख) 27 अगस्त 2009 को

   (ग) 27 अगस्त 2010 को — (घ) 27 अगस्त 2011 को

5.3 विनिमय दर

विनिमय दर वह दर है जिस पर किसी देश की मुद्रा की एक इकाई को दूसरे देश की मुद्रा की इकाइयों में परिवर्तित किया जाता है। आंतरिक व्यापार की तुलना में विदेशी व्यापार की प्रक्रिया अधिक जटिल होती है क्योंकि विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न मुद्राएं चलन में होती हैं और प्रत्येक देश के व्यापारी अपने देश की मुद्रा को स्वीकार करते हैं। अत: जब एक देश का व्यापारी दूसरे देश के साथ व्यापार करता है तो उसके सामने विदेशी विनिमय/विदेशी भुगतानों को निपटाने की समस्या उत्पन्न हो जाती है। जब तक विश्व के सभी देशों में स्वर्णमान प्रचलित था तब तक विदेशी भुगतान की समस्या इतनी जटिल नहीं थी, लेकिन वर्तमान समय में भुगतान एक देश की मुद्रा को विदेशी मुद्रा में परिवर्तित करके किया जाता है।

विदेशी भुगतानों को निपटाते समय विदेशी विनिमय दर की आवश्यकता होती है। विदेशी विनिमय दर दो देशों की मुद्राओं का विनिमय अनुपात होती है। अन्य शब्दों में जिस दर पर एक देश की चलन मुद्रा दूसरे देश की चलन मुद्रा से बदलती है उसे विनिमय दर कहते हैं। अत: किसी देश की विनिमय दर उसके बाह्य मूल्य अथवा क्रय शक्ति को व्यक्त करती है। उदाहरण के लिए यदि 1 डॉलर के बदले में 50 रुपए देने पड़ते हैं तो विदेशी दर इस प्रकार व्यक्त की जाएगी।

परिभाषा

एशर के अनुसार, "विनिमय दर एक देश की मुद्रा का दूसरे देश की मुद्रा में व्यक्त मूल्य है।"

क्राउथर के अनुसार, "विनिमय दर उस सीमा का माप है जिसके अनुसार किसी देश की मुद्रा की एक इकाई के बदले, दूसरे देश की इकाइयां प्राप्त की जाती है।"

हेन्स के अनुसार, "विनिमय दर एक मुद्रा की दूसरी मुद्रा के रूप में व्यक्त की गयी कीमत है।"

सेयर्स के अनुसार, "चलन मुद्राओं की पारस्परिक कीमतों को विदेशी विनिमय दर कहते है।"

अत: विनिमय दर यह मापती है कि विदेशी विनिमय बाजार में चलन मुद्रा की एक इकाई के बदले में किसी दूसरे की चलन मुद्रा की कितनी इकाइयां प्राप्त होती हैं।

विनिमय दर का निर्धारण

विदेशी विनिमय बाजार में विनिमय दर का निर्धारण ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार आंतरिक बाजार में किसी वस्तु की कीमत का निर्धारण होता है। अन्य वस्तुओं की भांति मांग व पूर्ति के नियम के आधार पर विनिमय दर का निर्धारण उस बिंदु पर होता है जिस पर मुद्रा की मांग व मुद्रा की पूर्ति एक दूसरे के बराबर होते हैं। वहां विनिमय दर का निर्धारण हो जाता है। अंतर केवल इतना है कि वस्तुओं के मूल्य का निर्धारण आंतरिक बाजार में होता है जबकि विनिमय दर का निर्धारण अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजार में होता है।

विनिमय दर का निर्धारण: विदेशी मुद्रा की मांग तथा विदेशी मुद्रा की पूर्ति के संतुलन बिंदु पर होता है। इसके दोनों रूपों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

टिप्पणी

विदेशी मुद्रा की मांग

विदेशी मुद्रा की मांग निम्न व्यक्तियों या संस्थाओं द्वारा की जाती है–

1. जो विदेशों से माल मंगाते हैं।
2. जो विदेशी सेवाओं का भुगतान करता चाहते हैं।
3. जो विदेशों में अपनी पूंजी का विनियोजन करना चाहते हैं अर्थात जो विदेशी वस्तुओं अथवा सेवाओं का आयात करते हैं। उनके भुगतान के लिए उन्हें विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होती है और वे विदेशी मुद्रा की मांग करते हैं। मुद्रा की मांग को निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है–

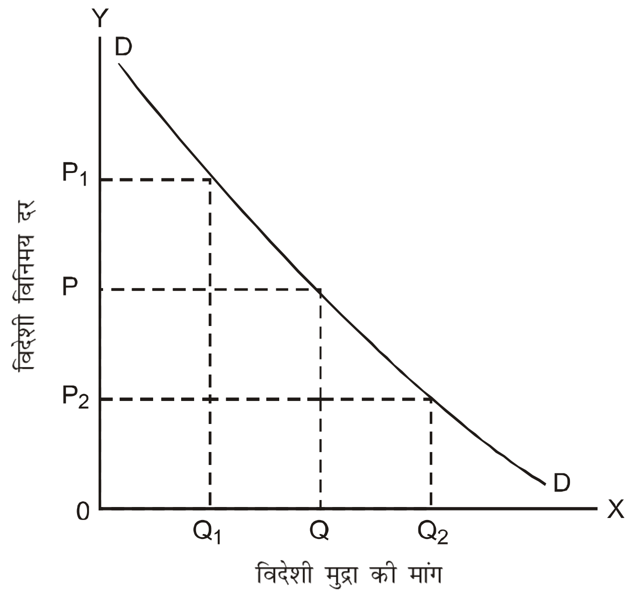

चित्र में X अक्ष पर विदेशी मुद्रा की मांग तथा Y अक्ष पर विदेशी विनिमय दर को दिखाया गया है। DD विदेशी मुद्रा का मांग वक्र है जिसका ढाल ऋणात्मक है। यह वक्र स्पष्ट करता है विदेशी विनिमय दर व विदेशी विनिमय की मांग में विपरीत संबंध होता है जैसे जब विनिमय विदेशी दर घटती है तब विदेशी मुद्रा की मांग बढ़ जाती है और यदि विनिमय दर बढ़ती है तो मांग घट जाती है।

विदेशी मुद्रा की पूर्ति

विदेशी मुद्रा की पूर्ति उन व्यक्तियों द्वारा की जाती है जिन्हें वस्तुओं व सेवाओं के निर्यात द्वारा अथवा विदेशी पूंजी के आयात द्वारा विदेशी मुद्रा प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त होता है। संक्षेप में विदेशी मुद्रा की पूर्ति हमारे निर्यातों से है जिसका भुगतान करने के लिए विदेशी अपनी मुद्रा देकर हमारी मुद्रा खरीदना चाहते हैं। विदेशी विनिमय की पूर्ति की तीन स्थितियां हो सकती हैं। जैसा निम्न चित्र से स्पष्ट हैं–

टिप्पणी

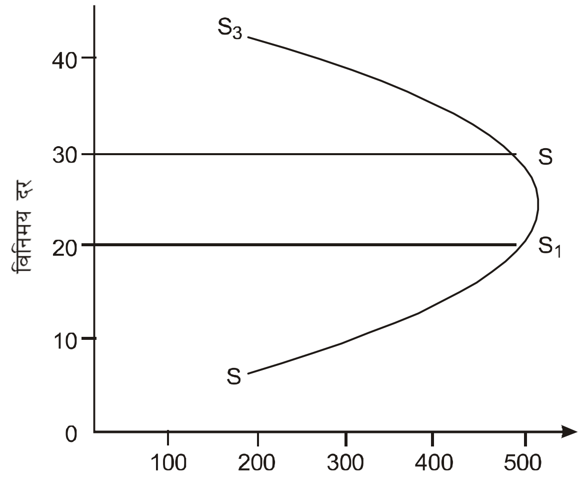

1. यदि देश में निर्यातों की विदेशी मांग की लोच इकाई से अधिक है तो विदेशी विनिमय का पूर्ति वक्र बायीं ओर से दायीं ओर धनात्मक होगा जैसा चित्र में S_1 तक है।
2. यदि निर्यातों की विदेशी मांग की लोच एक है तो विदेशी विनिमय की पूर्ति लंबवत होगी S_1 से S_2 तक।
3. यदि देश में निर्यातों की विदेशी मांग की लोच इकाई से कम है तो विदेशी विनिमय का पूर्ति वक्र ऋणात्मक होगा S_2 से S_3 तक।

विदेशी विनिमय दर का निर्धारण

संतुलित विनिमय दर उस बिंदु पर निर्धारित होगी जहां पर विदेशी विनिमय के मांग वक्र तथा पूर्ति वक्र एक दूसरे को काटते हैं।

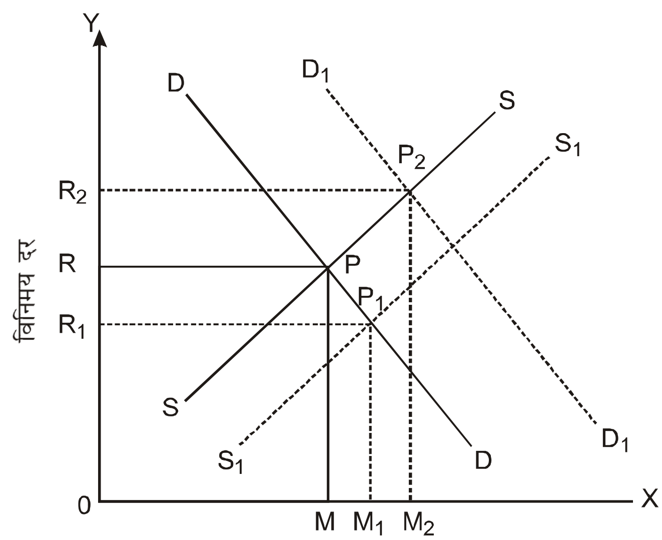

विदेशी मुद्रा की मांग एवं पूर्ति

चित्र में DD मांग वक्र तथा SS पूर्ति वक्र है ये दोनों वक्र एक दूसरे को P बिंदु पर काटते हैं। इस बिंदु पर विदेशी मुद्रा की मांग एवं पूर्ति OM है और विनिमय दर OR है। इस बिंदु पर निर्धारित दर को संतुलित/समता दर कहा जाता है।

यदि विदेशी मुद्रा की मांग स्थिर हो और पूर्ति बढ़कर S_1S_1 हो जाती है तो विनिमय दर गिरकर OR_1 हो जाएगी । इसके विपरीत यदि पूर्ति में कोई परिवर्तन न हो लेकिन मांग बढ़कर D_1D_1 हो जाती है तो मांग बढ़कर OM_1 हो जाती है तथा विनिमय दर बढ़कर OR_2 हो जाएगी।

विनिमय दर का निर्धारण अलग-अलग अर्थव्यवस्थाओं में अलग-अलग प्रकार से किया जाता है। मुद्राओं की विनिमय दर का निर्धारण इस बात पर निर्भर करता है कि दो देशों के बीच किस प्रकार का मुद्रा मान प्रचलित है विभिन्न मुद्रामानों में विनिमय दर निर्धारण के लिए भिन्न-भिन्न सिद्धांत दिए गए हैं।

विनिमय दर निर्धारण को प्रभावित करने वाले तत्व

एक स्वतंत्र विनिमय बाजार में विदेशी विनिमय दर प्रायः विनिमय की साम्य दर से भिन्न होती है। यद्यपि दीर्घकालीन में दो देशों के बीच विनिमय दर में स्थिरता की प्रवृत्ति पायी जाती है तथापि अल्पकालीन में दो देशों के बीच विनिमय दर में अत्यधिक उतार चढ़ाव होते रहते हैं। विनिमय दर में इन उच्चावचनों का देश के विदेशी व्यापार व उसकी आंतरिक अर्थव्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ता है, इसके कारण अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में अनिश्चितता उत्पन्न होती है जो विदेशी व्यापार के विस्तार में बाधक है और अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पूंजी के दीर्घकालीन विनियोग में रुकावटें पैदा करती हैं। विनिमय दर में होने वाले परिवर्तन आंतरिक अस्थिरता को उत्पन्न करते हैं जिसका उत्पादन, राष्ट्रीय आय व रोजगार पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है।

विदेशी विनिमय दरों में उच्चावचन के लिए उत्तरदायी कारण निम्नलिखित हैं–

1. विदेशी मुद्राओं की मांग व पूर्ति में परिवर्तन– विदेशी मुद्राओं की मांग एवं पूर्ति में परिवर्तनों का विनिमय दर पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। यदि विदेशी मुद्रा की मांग उसकी पूर्ति से अधिक हो जाती है तो विनिमय दर बढ़ जाती है। इसके विपरीत यदि विदेशी मुद्रा की मांग उसकी पूर्ति से कम हो जाती है तो विनिमय दर घट जाती है। अल्पकालीन विदेशी विनिमय की मांग तथा पूर्ति पर निम्नलिखित बातों का प्रभाव पड़ता है–

(i) **व्यापार की स्थिति–** विदेशी मुद्राओं की मांग व पूर्ति पर देश के आयातों तथा निर्यातों का प्रभाव पड़ता है। यदि देश में आयात निर्यात से अधिक होते हैं, तो देश में विदेशी मुद्रा की मांग उसकी पूर्ति से अधिक हो जाएगी, विदेशी मुद्रा का मूल्य बढ़ जाएगा और विनिमय दर विदेशी मुद्रा के पक्ष में हो जाएगी। इसके विपरीत, यदि देश के निर्यात उसके आयात की अपेक्षा अधिक हो जाते हैं तो देश में विदेशी मुद्रा की मांग कम हो जाएगी जबकि विदेश में स्वदेशी मुद्रा की मांग बढ़ जाएगी, स्वदेशी मुद्रा का मूल्य बढ़ जाएगा और विनिमय दर स्वदेशी मुद्रा के पक्ष में हो जाएगी।

(ii) **स्टॉक एक्सचेंज संबंधी प्रभाव–** स्टॉक एक्सचेंज पर किए गए विभिन्न सौदों का विनिमय दर पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इस प्रभावों का अध्ययन तीन रूपों में किया जा सकता है–

(अ) **स्टॉक, शेयर्स तथा प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय–** भविष्य में विनिमय दर में परिवर्तन की आशा से जब एक देश के लोग दूसरे देशों में स्टॉक, शेयर अथवा प्रतिभूतियों को खरीदने लगते हैं तो उनके लिए विदेशी विनिमय की मांग बढ़ जाती है। इसके परिणामस्वरूप विदेशी मुद्राओं के मूल्य में वृद्धि हो जाती है और विनिमय दर विपक्ष में हो जाता है। इसके विपरीत, यदि देशवासी विदेशी को स्टॉक, शेयर तथा प्रतिभूतियां बेचते है तो देश की मुद्रा का मूल्य ऊंचा उठता है और विनिमय दर देश के पक्ष में हो जाती है।

(ब) **ऋणों का लेनदेन–** यदि देशवासी विदेशों से ऋण प्राप्त करते हैं तो विदेशों में उस देश की मुद्रा की मांग बढ़ जाती है और विनिमय दर देश के पक्ष में हो जाती है। इसके विपरीत, यदि देशवासी विदेशियों को ऋण देते हैं तो इससे विदेशी मुद्रा की मांग बढ़ जाती है और विनिमय दर देश के पक्ष में हो जाती है।

(स) **स्टॉक एक्सचेंज व्यवहार–** जब स्टॉक एक्सचेंज व्यवहारों के फलस्वरूप मुद्रा देश से विदेशों को जाती है, तब विनिमय की दर देश के विपक्ष में हो जाती है। इसके विपरीत, जब स्टॉक एक्सचेंज व्यवहारों के परिणामस्वरूप मुद्रा विदेशों से देश में आती है तब विनिमय दर देश के पक्ष में हो जाती है।

2. बैंकिंग प्रभाव– बैंकिंग संबंधी प्रभाव मुख्यत: चार प्रकार के होते हैं– 1. बैंकिंग द्वारा विनिमय तथा धन का हस्तांतरण, 2. बैंक दर में परिवर्तन, 3. मध्यस्थों की क्रियाएं, 4. विदेशी विनिमय, ऋण तथा अन्य भुगतान।

(i) **बैंकिंग द्वारा विनिमय तथा धन का हस्तांतरण–** जब बैंक अपने धन का उपयोग दूसरे देशों में करते हैं तो विदेशी विनिमय बिलों की मांग बढ़ जाती है जिससे विनिमय दर भी बढ़ने लगती है इसके विपरीत, यदि बैंक हमारे यहां विनियोग बढ़ाते हैं तो विदेशी मुद्रा की पूर्ति हमारे देश में बढ़ जाती है जिससे उसका मूल्य गिरने लगता है और विदेशी विनिमय दर हमारे पक्ष में हो जाती है।

(ii) **बैंक दर में परिवर्तन–** देश के केंद्रीय बैंक द्वारा बैंक दर में परिवर्तन किए जाने से विनिमय दर प्रभावित होती है। बैंक दर ऊंची होने पर अधिक ब्याज कमाने के प्रलोभन से विदेशी पूंजी आकर्षित होने लगती है इससे विदेशी विनिमय बाजार में देशी मुद्रा की मांग बढ़ जाती है और विदेशी विनिमय दर देश के पक्ष में हो जाती है। इसके विपरीत, बैंक दर नीची होने पर इस देश से पूंजी अन्य देशों को जाने लगती है, जिससे विनिमय दर गिर जाती है।

(iii) **मध्यस्थों की क्रियाएं–** जब प्रतिभूतियां विश्व के व्यापारिक केंद्रों में सट्टे लाभ के लिए खरीदी और बेची जाती है तो इन क्रियाओं को मध्यस्थों की क्रियाएं कहा जाता है। मध्यस्थ सस्ते बाजारों से विदेशी मुद्राएं खरीद कर महंगे बाजार में बेचते हैं और इस प्रकार विभिन्न बाजारों में मुद्रा के मूल्यों के अंतर से लाभ उठाने की कोशिश करते हैं। उदाहरण के लिए, यदि न्यूयॉर्क में पौण्ड का मूल्य पेरिस में पौण्ड के मूल्य से अधिक है तो लोग पेरिस में पौण्ड खरीद

टिप्पणी

कर उसे न्यूयॉर्क में बेंच देंगे और उससे लाभ प्राप्त करेंगे। ये क्रियाएं विदेशी मुद्रा की मांग और पूर्ति पर गहरा प्रभाव डालती है।

(iv) **विदेशी विनिमय, ऋण तथा अन्य भुगतान–** जब किसी देश द्वारा दूसरे देश में पूंजी का विनियोग किया जाता है, अथवा ऋण दिए जाते हैं अथवा अन्य किसी प्रकार के भुगतान किए जाते हैं तो विदेशी मुद्रा की मांग बढ़ जाती है और विनिमय दर उस देश के पक्ष में हो जाती है।

3. चलन संबंधी दशाएं– देश में चलन संबंधी परिवर्तनों के कारण भी मुद्रा की क्रय शक्ति में परिवर्तन होता रहता है जो विनिमय दर को भी प्रभावित करता है। चलन संबंधी प्रभावों के अंतर्गत निम्नलिखित तत्वों का अध्ययन किया जाता है–

(i) **मुद्रा स्फीति तथा मुद्रा अवस्फीति–** मुद्रा स्फीति की दशा में सामान्य मूल्य स्तर बढ़ जाता है जिससे आयातों को प्रोत्साहन मिलता है किंतु देश के निर्यात घट जाते हैं। आयात अधिक होने व निर्यात कम होने के कारण देश में विनिमय बिलों की मांग इनकी पूर्ति की अपेक्षा अधिक हो जाती है जिससे विदेशी मुद्रा का मूल्य बढ़ने लगता है, और विनिमय दर देश के विपक्ष में हो जाती है।

इसके विपरीत मुद्रा अवस्फीति की दशा में देश में वस्तुओं के मूल्य गिर जाते हैं जिससे निर्यातों को प्रोत्साहन मिलता है और आयात हतोत्साहित होते हैं। निर्यात अधिक होने और आयात कम होने के कारण विदेशी मुद्रा की पूर्ति मांग की अपेक्षा अधिक रहती है जिसके फलस्वरूप विदेशी मुद्रा का मूल्य गिरने लगता है। परिणामस्वरूप विनिमय दर उस देश के पक्ष में हो जाती है।

(ii) **अवमूल्यन–** मुद्रा के अवमूल्यन से अभिप्राय अपने देश की मुद्रा के मूल्य को विदेशी मुद्रा में कम करना होता है। मुद्रा का अवमूल्यन विदेशी विनिमय दर को भी प्रभावित करता है। मुद्रा का अवमूल्यन कर देने से हमारे निर्यातों को प्रोत्साहन मिलता है तथा आयात कम हो जाते हैं। निर्यात बढ़ने के कारण विदेशी मुद्रा की पूर्ति अधिक और आयात कम हो जाने के कारण विदेशी मांग कम हो जाती है। परिणामस्वरूप विदेशी मुद्रा का मूल्य गिर जाता है और विनिमय दर हमारे पक्ष में हो जाती है।

4. राजनीतिक परिस्थितियां– देश की राजनीतिक परिस्थितियां भी विनिमय दर को प्रभावित करती हैं–

(i) **व्यापारिक नीतियां–** जब सरकार संरक्षण की नीति अपना कर निर्यात को प्रोत्साहित करती है तथा आयातों को हतोत्साहित करती है तो भुगतान शेष देश के अनुकूल होने लगता है। परिणामस्वरूप विदेशी मुद्रा की मांग कम हो जाती है और विनिमय दर देश के पक्ष में हो जाती है।

(ii) **देश में शांति व सुरक्षा–** जब देश में शांति का वातावरण होता है तब सरकार स्थायी व सुदृढ़ होती है। सरकार की आर्थिक नीति देश के आर्थिक विकास में सहायक होती है और सरकार में जनता का विश्वास होता है तो विदेशियों का विश्वास उस देश की मुद्रा में बढ़ जाता है। इसके फलस्वरूप विदेशी पूंजी का स्थानांतरण इस देश की ओर होने लगता है और विदेशी विनिमय दर बदल कर उस देश के पक्ष में हो जाती है। इसके विपरीत यदि देश में अशांति व

टिप्पणी

असुरक्षा का वातावरण है, सरकार अस्थायी है जनता का सरकार में विश्वास नहीं है तो विदेशी पूंजी देश से बाहर जाने लगती है और विनिमय दर हमारे विपक्ष में हो जाती है।

(iii) **विनिमय नियंत्रण–** जब सरकार विनिमय नियंत्रण की नीति अपनाती है तो इसका प्रभाव विनिमय दर पर अवश्य पड़ता है। इसका कारण यह है कि विनिमय नियंत्रण के परिणामस्वरूप देश के आयातों में कमी हो जाती है, विदेशी मुद्रा की मांग कम हो जाती है और विनिमय दर देश के पक्ष में हो जाती है।

5. सट्टे का प्रभाव– सटोरिया क्रियाओं की वृद्धि भी विनिमय दर को प्रभावित करती है सट्टा विनिमय दर में अल्पकालीन उतार-चढ़ाव ला देता है। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजार में अनिश्चितता विदेशी विनिमय संबंधी सट्टे को प्रोत्साहन देती है। यदि सटोरिये यह आशा करते हैं कि निकट भविष्य में करेंसी का मूल्य गिरेगा, तो वे अपनी करेंसी को बेचना शुरू कर देंगे, बाजार में उस करेंसी की पूर्ति बढ़ जाएगी और उसकी विनिमय दर गिर जाएगी। लोग दूसरी करेंसी खरीदने लगेंगे जिसका मूल्य बढ़ने की आशा है, परिणामस्वरूप इस दूसरी करेंसी की मांग बढ़ेगी और उसकी विनिमय दर बढ़ जाएगी।

6. संरचनात्मक प्रभाव– संरचनात्मक परिवर्तन भी देश की विनिमय दर को प्रभावित करते हैं। ये वे परिवर्तन होते हैं जो वस्तुओं की उपभोक्ता मांग में परिवर्तन लाते हैं। इनमें प्रौद्योगिकीय परिवर्तन, नवप्रवर्तन आदि शामिल होते हैं जो वस्तुओं की मांग के साथ-साथ लागत ढांचे को भी प्रभावित करते हैं। इस प्रकार के संरचनात्मक परिवर्तन घरेलू वस्तुओं की विदेशी मांग को बढ़ाते हैं जिससे निर्यात बढ़ते हैं। घरेलू करेंसी की मांग बढ़ती है, उसका मूल्य बढ़ता है और विनिमय दर भी बढ़ जाती है।

उपर्युक्त प्रभावों के फलस्वरूप विदेशी विनिमय दर में निरंतर परिवर्तन होते रहते हैं परंतु ये परिवर्तन अल्पकालीन होते हैं और दीर्घकाल में विनिमय दर की प्रवृत्ति विनिमय की दर के आस पास रहने की होती है।

अपनी प्रगति जांचिए

3. "चलन मुद्राओं की पारस्परिक कीमतों को विदेशी विनिमय दर कहते है" उपरोक्त कथन किस अर्थशास्त्री का है?
   (क) एशर का (ख) सेयर्स का
   (ग) क्राउथर का (घ) सैम्यूलसन का
4. विनिमय दर का निर्धारण किस बाजार में होता है?
   (क) आंतरिक मुद्रा बाजार (ख) बाह्य मुद्रा बाजार
   (ग) अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजार (घ) पूंजी बाजार

5.4 विनिमय दर के सिद्धांत

टिप्पणी

जिस दर पर एक देश की चलन मुद्रा दूसरे देश की चलन मुद्रा में बदल जाती है उसे विनिमय दर कहते हैं विनिमय दर का निर्धारण ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार आंतरिक बाजार में किसी वस्तु की कीमत का निर्धारण होता है। विनिमय दर का निर्धारण उस बिंदु पर होता है जिस पर मुद्रा की मांग व मुद्रा की पूर्ति एक दूसरे के बराबर होते हैं। विनिमय दर का निर्धारण अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजार में होता है। विभिन्न मौद्रिक व्यवस्थाओं के अंतर्गत विनिमय निर्धारण के अलग–अलग सिद्धांत होते हैं। मुद्राओं की विनिमय दर का निर्धारण इस बात पर निर्भर करता है कि इन देशों के बीच किस प्रकार की मौद्रिक मान प्रचलित है। स्वर्णमान, रजतमान अथवा पत्र मुद्रामान। मौद्रिक व्यवस्थाएं निम्न प्रकार की होती हैं।

1. दोनों देशों में स्वर्णमान।
2. दोनों देशों में रजतमान।
3. एक देश में स्वर्णमान हो और दूसरे देश में रजतमान।
4. दोनों देशों में पत्र मुद्रामान हो।

विभिन्न मौद्रिक व्यवस्थाओं के आधार पर विनिमय दर के निर्धारण सिद्धांतों को दो वर्गों में बांटा गया है–

1. स्वर्णमान विनिमय दर– टकसाल दर समता सिद्धांत
2. पत्र मुद्रामान में विनिमय दर
   (i) क्रय शक्ति समता सिद्धांत
   (ii) भुगतान शेष सिद्धांत।

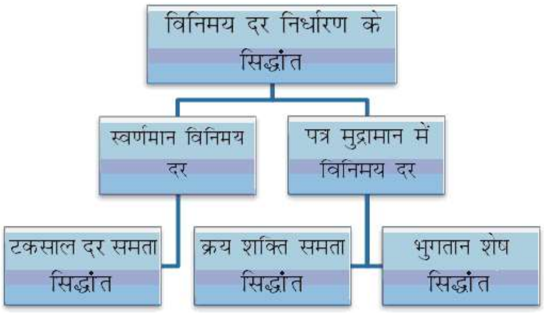

स्वर्णमान के अंतर्गत विनिमय दर का निर्धारण

5.4.1 टकसाल दर समता सिद्धांत

जब दोनों देशों में मौद्रिक मान स्वर्णमान अथवा रजतमान होता है अर्थात धातुमान प्रचलित होता है तो उनके बीच जो विनिमय दर निर्धारित होती है उसे विनिमय की टकसाल दर कहते हैं। (धातुमान) स्वर्णमान पर आधारित देशों में निम्न विशेषताएं पायी जाती है–

1. देश में स्वर्ण के सिक्के वास्तविक चलन में होते हैं अथवा उनकी प्रमाणिक मुद्राओं का मूल्य स्वर्ण में निश्चित कर दिया जाता है।

टिप्पणी

2. देश में स्वर्ण के सिक्के एक प्रमाणिक मुद्रा होती है।
3. स्वर्ण की बचत के लिए स्वर्ण मुद्रा के साथ–साथ सांकेतिक मुद्रा अथवा पत्रमुद्रा भी चलन में रहती है।
4. सरकार अथवा सरकार द्वारा अधिकृत मौद्रिक संस्था एक निश्चित दर पर स्वर्ण का क्रय–विक्रय करती हैं।
5. स्वर्ण के आयात व निर्यात पर कोई प्रतिबंध नहीं होता ।

ऐसी दशा में दो देशों के बीच विनिमय दर इन देशों में प्रचलित मुद्राओं की स्वर्ण खरीदने की शक्ति में समानता स्थापित करके निर्धारित की जाती है। दो देशों की मुद्राएं स्वर्ण के अनुपात पर आधारित होती है। दो देशों की मुद्राओं में निहित स्वर्ण की मात्रा के आधार पर जो विनिमय दर निर्धारित की जाती हैं। उसे टकसाल दर, टंकण समता दर अथवा स्वर्ण समता दर कहा जाता है

टॉमस के अनुसार ''टकसाल दर समता वह अनुपात है जो एक ही धातुमान पर आधारित देशों की प्रमाणित मौद्रिक इकाइयों के वैधानिक धातु साम्य में व्यक्त की जाती है।''

प्रो. हैबरलर के शब्दों में ''दो स्वर्णमान में समानता स्थापित करके निर्धारित की जाती है। यदि स्वर्णमान वाले देशों में स्वर्ण चलन मान के स्थान पर स्वर्ण धातु मान अथवा स्वर्ण विनिमयमान होता है तो भी विनिमय दर का निर्धारण इसी प्रकार होता है।''

माना एक औंस सोने में एक पाउण्ड या 20 मार्क ढ़लते है और ढ़लाई व्यय शून्य है तो 1 पाउण्ड में 20 मार्क या कहे कि 20 मार्क में एक पाउंड खरीदा जा सकता है।

इस निम्न उदाहरण द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है। माना x तथा y दो देश हैं। दोनों देशों में स्वर्ण चलनमान है x देश की मुद्रा की एक इकाई में 4 ग्रेन शुद्ध स्वर्ण है तथा y देश की मुद्रा की एक इकाई में 2 ग्रेन शुद्ध स्वर्ण है तो इन दोनों मुद्राओं की टकसाल दर समता निम्न प्रकार होगी–

4 ग्रेन स्वर्ण = x देश की मुद्रा की इकाई।

4 ग्रेन स्वण = y देश की मुद्रा की 2 इकाई।

अत: x देश की मुद्रा की एक इकाई = y देश की मुद्रा की दो इकाइयां होंगी।

टकसाली विनिमय दर सामान्य अथवा दीर्घकालीन विनिमय दर होती है। यह एक आदर्श विनिमय दर है और वास्तविक विनिमय दर इससे ऊपर अथवा नीचे हो सकती है अर्थात बाजार विनिमय दर इस दर के समीप विदेशी विनिमय की मांग अथवा पूर्ति के अनुसार घटती बढ़ती रहती है।

विदेशी विनिमय दरों में उच्चावन की सीमाएं

व्यावहारिक रूप में विनिमय टकसाली दर के बराबर केवल तभी रह सकती है जबकि विदेशी मुद्रा की मांग और पूर्ति बराबर हो। लेकिन मांग व पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों में परिवर्तन होते रहते हैं। इसी कारण इन परिवर्तनों के अनुरूप विनिमय दर में भी परिवर्तन होते रहते हैं। स्वर्णमान वाले देशों में विनिमय दर की दीर्घकालीन प्रवृत्ति टंकण समता के बराबर होने की होती है। टंकण समता दर कभी ऊपर तो कभी नीचे होती रहती

टिप्पणी

है। यह उतार–चढ़ाव असीमित नहीं होते हैं अर्थात एक निश्चित सीमा के भीतर ही होते हैं। विनिमय दर इन सीमाओं के बाहर नहीं जा सकती है। विदेशी विनिमय की यह दरें स्वर्ण बिंदु द्वारा निश्चित होती है जो उच्चतम स्वर्ण बिंदु और निम्नतम स्वर्ण बिंदु के बीच सीमित रहती है।

उच्चतम स्वर्ण बिंदु– यह विनिमय दर की उच्चतम सीमा है जिसके ऊपर वह कभी नहीं जा सकती। इस बिंदु को स्वर्ण बिंदु कहते है क्योंकि इस बिंदु के बाद स्वर्ण देश से बाहर जाने लगता है। उच्चतम स्वर्ण बिंदु को निम्न विधि द्वारा ज्ञात किया जा सकता है।

उच्चतम स्वर्ण बिंदु = विनिमय टकसाल दर + स्वर्ण निर्यात व्यय

निम्नतम स्वर्ण बिंदु– यह विनिमय दर की निम्नतम सीमा है। विनिमय दर इसके नीचे कभी नहीं जा सकती। इस बिंदु को स्वर्ण आयात बिंदु भी कहते हैं क्योंकि इस बिंदु के बाद स्वर्ण देश में आने लगता है। निम्नतम बिंदु को ज्ञात करने की विधि निम्न है–

निम्नतम स्वर्ण बिंदु = विनिमय टकसाल दर + स्वर्ण आयात व्यय

उदाहरण– विनिमय दर की उच्चतम सीमा माना ब्रिटेन व अमेरिका की टकसाली विनिमय दर 1 पौण्ड = 4.8665 डालर है और अमेरिका से एक पौण्ड के बराबर मूल्य के स्वर्ण को ब्रिटेन भेजने का व्यय 0.2 सेंट है। इस व्यय को टकसाल विनिमय दर में जोड़कर विनिमय दर की उच्चतम सीमा ज्ञात की जा सकती है। 1 पौण्ड = 4.8665 + .02 = 4.8866 अर्थात विनिमय की अधिकतम दर 1 पौण्ड = 4.8865 डालर होगी।

मान लीजिए ब्रिटेन से अमेरिका को अधिक माल निर्यात होता है और आयात उससे कम होता है तो अमेरिका में भुगतान करने के लिए पौण्ड की मांग में वृद्धि हो जाएगी। इससे डालर की तुलना में पौण्ड का मूल्य बढ़ जाएगा अर्थात अब 4.8865 डालर में एक पौण्ड की प्राप्ति नहीं होगी या कहे कि एक पौण्ड प्राप्त करने के लिए 4.8865 से अधिक डालर देना पडेगा। लेकिन अधिकतम मूल्य 4.8865 है। पौण्ड का मूल्य इससे अधिक हो जाने पर अमेरिका आयातकर्ता पौण्ड की बजाय स्वर्ण में भुगतान आरंभ कर देंगे। इस प्रकार अमेरिका से स्वर्ण का निर्यात आरंभ हो जाएगा इसलिए इसे स्वर्ण निर्यात बिंदु भी कहते है।

विनिमय दर की निम्नतम सीमा– माना ब्रिटेन से अमेरिका का निर्यात आयात की अपेक्षा कम हो जाता है तो ऐसी स्थिति में ब्रिटेन में अमेरिका के डॉलरों की मांग बढ़ जाएगी। इससे डालरों का विदेशी मूल्य बढ़ जाएगा और पौण्ड का मूल्य कम हो जाएगा। अर्थात अब 1 पौण्ड के बदले 4.8665 से कम डालर प्राप्त होंगे। यदि एक पौण्ड का मूल्य इस सीमा से नीचे गिरता है तो ब्रिटेन के आयातकर्ता पौण्ड की बजाय स्वर्ण में भुगतान करना प्रारंभ कर देंगे। इस प्रकार ब्रिटेन से स्वर्ण निर्यात आरंभ हो जाएगा। यह अमेरिका की दृष्टि से स्वर्ण आयात बिंदु तथा ब्रिटेन की दृष्टि से स्वर्ण निर्यात बिंदु होगा।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण– चित्र में SS डालर पूर्ति वक्र है तथा DD डालर मांग वक्र है। PM साम्य बिंदु है। ON उच्चतम स्वर्ण बिंदु है अब ब्रिटेन अमेरिका से आयात करता है आयात अधिक होने पर आयातों का भुगतान करने के लिए ब्रिटेन में डॉलर की मांग बढ़ जाएगी।

टिप्पणी

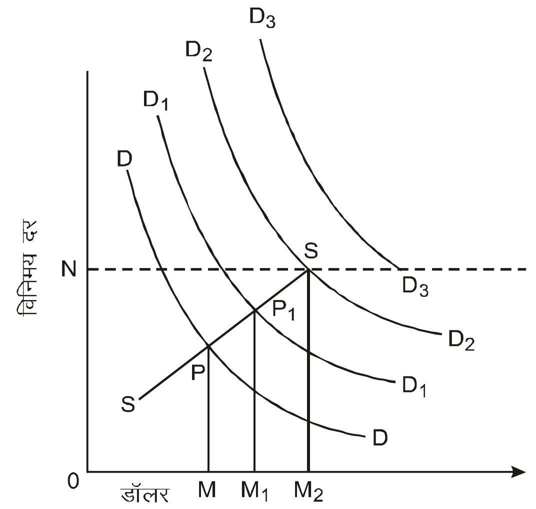

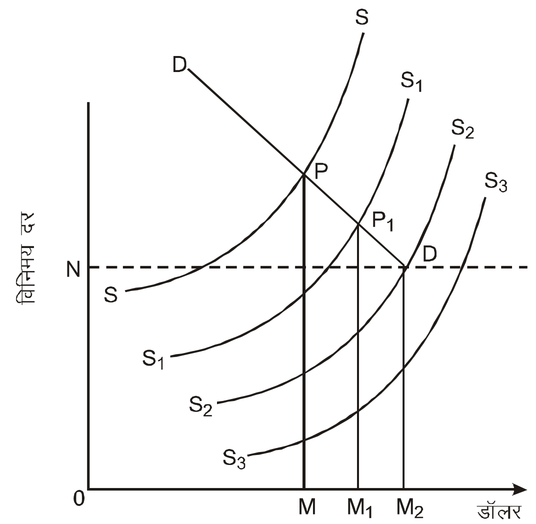

माना डालर की मांग बढ़कर D_1D_1 हो जाती है तो विनिमय दर PM से बढ़कर P_1M_1 हो जाएगी। यदि मांग और बढ़कर D_2D_2 हो जाती है तो विनिमय दर SM_2 हो जाएगी। डालर की मांग और अधिक बढ़ने पर पर विनिमय दर नहीं बढ़ेगी क्योंकि SS बिंदु उच्चतम स्वर्ण बिंदु है। अब ब्रिटेन डालर की मांग की पूर्ति स्वर्ण भेजकर करने लगेगा। ऐसा करने पर ब्रिटेन में स्वर्ण कम हो जाएगा।

दूसरी ओर अमेरिका में स्वर्ण के आयात के कारण मुद्रा विस्तार होगा व मूल्य स्तर बढ़ेगा। डॉलर की मांग कम जाएगी और विदेशी मूल्य भी गिर जाएगा। यदि डालर की पूर्ति में वृद्धि हो जाती है तो विनिमय दर गिरेगी। किंतु यह गिरावट निम्नतम स्वर्ण बिंदु तक ही होगी। विनिमय दर इससे कम नहीं हो सकती। इससे कम होने पर अमेरिका से स्वर्ण निर्यात प्रारंभ हो जाएगा।

इस प्रकार विनिमय दर उच्चतम स्वर्ण बिंदु तथा निम्नतम स्वर्ण बिंदुओं के मध्य घूमती रहेगी। इस तथ्य को निम्न चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

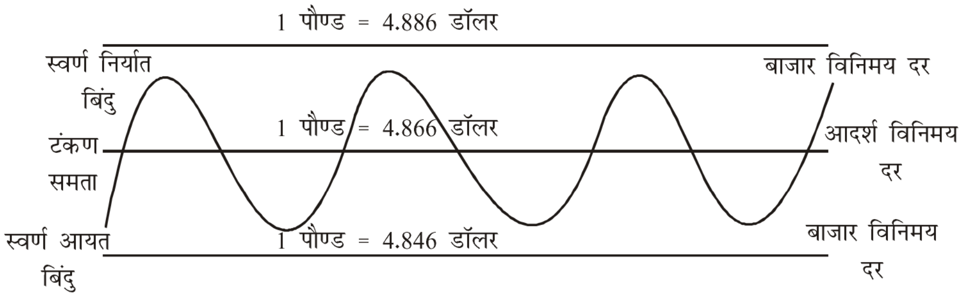

चूंकि स्वर्ण निर्यात बिंदु पर स्वर्ण के बदले विदेशी मुद्रायें सीमित मात्रा में प्राप्त की जा सकती है इसलिए इस बिंदु पर विनिमय की पूर्ति पूर्णत: लोचदार होती है। पूर्ति वक्र पूर्णत्या लोचदार होने के कारण मांग वक्र दाहिनी ओर विवर्तित हो जाने से विदेशी मुद्रा के मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

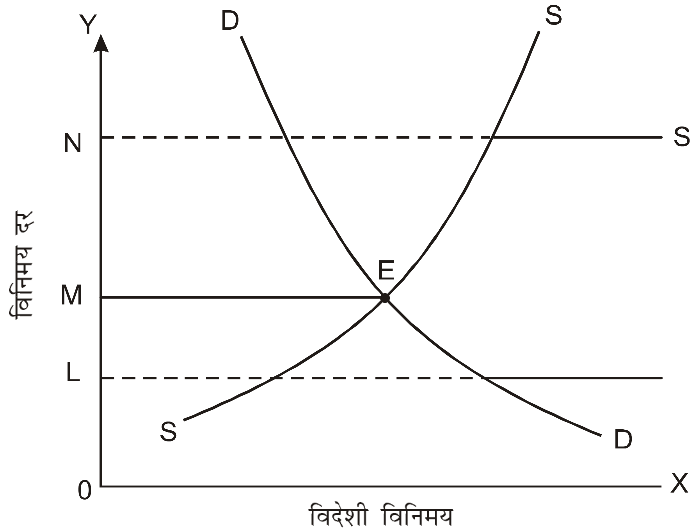

इस स्थिति को इस रेखाचित्र में विनिमय दर संतुलन बिंदु M या E है। जब एक देश में दूसरे देश की मुद्रा की मांग बढ़ जाती है तो विनिमय दर संतुलन बिंदु M से हटकर उच्चतम स्वर्ण निर्यात बिंदु N की ओर बढ़ने लगती है। मुद्रा के मूल्य की उच्चतम सीमा M से अधिक नहीं हो सकती क्योंकि इस बिंदु पर मांग व पूर्ति का जितना अंतर है वह स्वर्ण निर्यातों द्वारा पूरा कर लिया जाता है। इसी प्रकार विनिमय दर L बिंदु से नीचे नहीं जा सकती है। इस बिंदु पर भी मांग पूर्ति के अंतरों को स्वर्ण आयातों द्वारा पूरा कर लिया जाता है।

संक्षेप में यदि दो देशों में स्वर्णमान प्रचलित है और स्वर्ण का स्वतंत्रतापूर्वक आयात-निर्यात हो सकता है तो दोनों देशों की वास्तविक विनियम बिंदु के बाहर नहीं जा सकती।

5.4.2 क्रय शक्ति समता सिद्धांत

जब दो देशों में अपरिर्वतनशील पत्र मुद्रा चलन में होती है तो उनमें विनिमय दर का निर्धारण दोनों देशों की क्रय शक्ति के अनुपात द्वारा होता है। यह सिद्धांत क्रय शक्ति समता सिद्धांत कहलाता है। इस सिद्धांत का प्रतिपादन सर्वप्रथम जान ह्वीटले (John Wheatley) ने 1802 में अपनी पुस्तक "Remark on Currency and Commerce" में

किया था। बाद में इसे विलियम ब्लैक तथा डेविड रिकार्डो ने संशोधित किया। परंतु इस सिद्धांत की पूर्ण रूप से वैज्ञानिक ढंग से व्याख्या स्वीडन के अर्थशास्त्री प्रो. गास्टव कैसल ने की थी।

टिप्पणी

गास्टव कैसल के शब्दों में, "दो मुद्राओं की विनिमय दर आवश्यक रूप से इन मुद्राओं की आंतरिक क्रय शक्ति के भागफल पर निर्भर रहती है।"

एस.ई. टामस के अनुसार, "विनिमय दर की प्रवृत्ति उस बिंदु पर स्थिर रहने की होती है जहां दोनों देशों की मुद्राओं की क्रय शक्ति समान होती है।"

जी.डी.एच कोल के अनुसार, "उन राष्ट्रीय मुद्राओं का मूल्य जहां स्वर्णमान नहीं है, दीर्घकाल में उनकी वस्तुओं और सेवाओं की क्रय शक्ति द्वारा निश्चित होती है।"

सिद्धांत की व्याख्या– कसैल द्वारा प्रतिपादित क्रय शक्ति समता सिद्धांत के अनुसार जब देश में अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा मान चलन में होता है तो उनके बीच उचित विनिमय दर इन देशों की मुद्रा की क्रय शक्ति साम्य (PPT = Purchasing Power Par) के आधार पर निर्धारित होती है। गस्टव कसैल के अनुसार दो मुद्राओं के मध्य विनिमय दर आवश्यक रूप से मुद्राओं की आंतरिक क्रय शक्ति के भागफल पर निर्भर करती है। प्रो. टॉमस के शब्दों में– विनिमय दर उस बिंदु पर रहने की प्रवृत्ति रखती है जो मुद्राओं की सापेक्षिक क्रय शक्ति की समता को प्रकट करता है। इस बिंदु को क्रय शक्ति समता बिंदु कहते हैं।

उदाहरण के लिए– माना भारत में 20 रुपए में 1 किलोग्राम चीनी आती है और अमेरिका में एक अमेरिकन डालर में 1 किलोग्राम चीनी खरीदी जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि 1 डालर की क्रय शक्ति रुपए से 20 गुना अधिक है अत:

20 रु. की क्रय शक्ति = 1 किलोग्राम चीनी

1 डालर की क्रय शक्ति = 1 किलोग्राम चीनी

दोनों देशों की विनिमय दर = 1 डालर = 20 रुपए। इस प्रकार अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रामान पर आधारित दो देशों के बीच विनिमय दर उस बिंदु पर स्थिर होगी, जहां दोनों देशों की मुद्राओं की क्रय शक्तियों में समानता होगी।

चूंकि विनिमय दर की क्रय शक्ति अलग-अलग वस्तुओं के लिए अलग–अलग होती है तो किसी एक वस्तु के आधार पर दो देशों की मुद्राओं के क्रय शक्ति साम्य के आधार पर विनिमय दर का निर्धारण उचित नहीं है। वास्तव में पत्र मुद्रा के अंतर्गत कोई भी एक वस्तु ऐसी नहीं हो सकती जिसे विभिन्न देशों में मुद्रा की क्रय शक्ति के मापक के रूप में स्वीकार किया जा सके। अत: मुद्रा की क्रय शक्ति का अनुमान किसी एक वस्तु की कीमत के आधार पर न लगाकर वस्तुओं के समूह की कीमतों के आधार पर लगाया जाता है। इसके लिए सामान्य मूल्य निर्देशांकों का प्रयोग किया जाता है। सामान्यत: इसमें उन सभी वस्तुओं को शामिल किया जाता है जिनका अंतर्राष्ट्रीय बाजार में महत्वपूर्ण स्थान हो। क्राउथर ने कहा है कि विनिमय दर निर्धारित करते समय उन वस्तुओं को शामिल करना चाहिए जिनमें अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संभव होता है।

क्रय शक्ति समता बिंदु दो देशों की मुद्राओं के बीच विनिमय दर को बतलाता है। वास्तविक विनिमय दर/बाजार विनिमय दर क्रय शक्ति समता से कम अथवा अधिक होती

है। बाजार विनिमय दर की प्रवृत्ति क्रय शक्ति समता बिंदु से ऊपर नीचे घटती बढ़ती रहती है। यह समता बिंदु पर तब होती है जब देश का भुगतान संतुलन बिल्कुल संतुलित होता है और विनिमय बिलों की मांग ठीक उनकी पूर्ति के बराबर होती है परंतु भुगतान संतुलन के विपक्ष में हो जाने पर जब देश में विदेशी विनिमय की मांग उसकी पूर्ति से अधिक हो जाती है तो विनिमय दर भी देश के विपक्ष में चली जाती है। इसके विपरीत जब विदेशी विनिमय की पूर्ति मांग से अधिक हो जाती है तो विनिमय दर पक्ष में हो जाती है। परंतु दीर्घकाल में विनिमय दर की साम्य प्रवृत्ति, क्रय शक्ति समता बिंदु के समीप रहने की होती है इसे निम्न चित्र की सहायता से भी स्पष्ट किया जा सकता है।

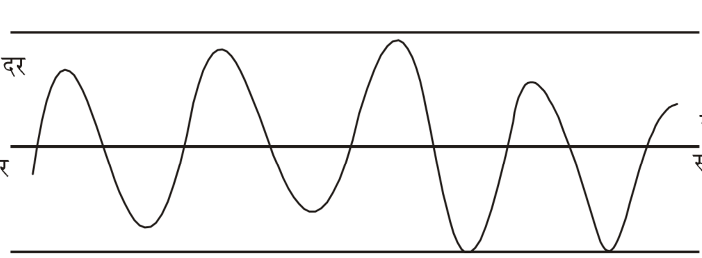

विनिमय दर में परिवर्तन– क्रय शक्ति समता सिद्धांत विनिमय दर में होने वाले परिवर्तनों के साथ–साथ परिवर्तन अनुपात को स्पष्ट करता है। प्रो. कसैल के शब्दों में "विनिमय दर ठीक उसी अनुपात में बढ़ती है जिस अनुपात में अन्य देशों की अपेक्षा कीमत स्तर में कमी होती है और ठीक उसी अनुपात में कम होती है जिस अनुपात में अन्य देशों की अपेक्षा कीमत स्तर में वृद्धि होती है।"

इस परिवर्तन का अनुपात निम्न रीति से ज्ञात किया जाता है, जब दो देशों का प्रसार हुआ है, तो उनके बीच सामान्य विनिमय दर, दोनों देशों में स्फीति की मात्रा के भागफल को पुरानी विनिमय दर से गुणा करके ज्ञात किया जा सकता है। सूत्र रूप में इसे इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं–

$$\text{विनिमय दर} = \frac{\text{आधार वर्ष में विनिमय दर} \times \text{आंतरिक कीमत निर्देशांक}}{\text{विदेशी कीमत निर्देशांक}}$$

माना अमेरिका व भारत के लिए 2001 आधार वर्ष है और इस वर्ष में विनिमय दर 1 डालर = 45 रु. है। 2010 में दोनों देशों में मुद्रा प्रसार होता है जिसके फलस्वरूप अमेरिका व भारत के सामान्य मूल्य सूचकांक 300 और 400 हो जाते हैं भारत में अमेरिका की तुलना में वृद्धि अधिक है अतः डालर की तुलना में रुपए का मूल्य गिर जाएगा और विनिमय दर में इस प्रकार परितर्वन होगा –

$$\text{विनिमय दर} = \frac{45 \times 400}{30_0} = \frac{1800_0}{30_0} = 6_0$$

क्रय शक्ति समता सिद्धांत के दो रूप है– 1. वास्तविक (निरपेक्ष) 2. तुलनात्मक (सापेक्ष) रूप।

वास्तविक रूप बताता है कि किसी समय विनिमय दर साम्यावस्था में उसी समय होगी जबकि प्रचलित दर पर देश की मुद्रा की बाह्य व आंतरिक क्रय शक्ति बराबर हो। जबकि दूसरा तुलनात्मक/सापेक्ष रूप से पहले से निर्धारित साम्य दर में परिवर्तन की दिशा या मात्रा का पता लगाता है। व्यावहारिक रूप से सिद्धांत का सापेक्षिक महत्व अधिक महत्वपूर्ण है।

उच्चावन की सीमाएं– पत्र मुद्रा के अंतर्गत बाजार विनिमय दर में उच्चावचन की सीमाएं वस्तुओं के परिवहन व्यय, आयात, कर, बीमा व बैंक सेवाओं का व्यय तथा विदेशों में विज्ञापन व्यय आदि द्वारा निर्धारित होती हैं। परंतु ये सीमायें प्राय: अस्थायी होती है तथा अल्पकाल में किसी कारण से ऊपर नीचे होती रहती हैं।

क्रय शक्ति समता सिद्धांत के अंतर्गत न तो सामान्य विनिमय दर स्थिर रहती है और न ही उतार–चढ़ाव की सीमाएं स्थिर रहती हैं जैसा निम्न चित्र से स्पष्ट है।

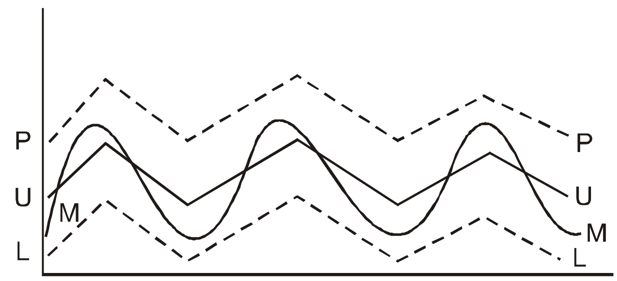

चित्र में PP क्रय शक्ति समता की अस्थिर दर को दर्शाती हैं UU रेखा उच्चतम सीमा का तथा LL रेखा निम्नतम सीमा को दर्शाती है। M रेखा बाजार विनिमय दर को बताती है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है –

1. दो देशों की मुद्रा का विनिमय अनुपात उन मुद्राओं की सामान्य क्रय शक्ति की समानता द्वारा निश्चित किया जाता है।
2. इन परिवर्तनों की दिशा तथा मात्रा सामान्यत: क्रय शक्ति के तुलनात्मक परिवर्तनों के अनुसार होता है।
3. क्रय शक्ति के परिवर्तित हो जाने पर विनिमय दर में भी परिवर्तन हो जाता है।
4. इस सिद्धांत के अनुसार न तो सामान्य विनिमय दर ही स्थायी होती है और न ही उसके उतार–चढ़ाव की सीमाएं स्थायी होती हैं।
5. बाजार विनिमय दर आदर्श विनिमय से भिन्न होती है किंतु उसकी दीर्घकालीन प्रवृत्ति समता बिंदु के समीप रहने की होती है।

क्रय शक्ति समता सिद्धांत की आलोचनाएं– अनेक अर्थशास्त्रियों ने कसैल द्वारा प्रतिपादित क्रय शक्ति समता सिद्धांत की कटु आलोचना की है प्रमुख आलोचनाएं निम्न है–

1. **एक पक्षीय सिद्धांत–** क्रय शक्ति समता सिद्धांत दो देशों में विनिमय दर निर्धारण के केवल पूर्तिपक्ष की ओर संकेत करता है मांग पक्ष पर कोई ध्यान नहीं देता है जबकि विनिमय दर का निर्धारण सामान्य मूल्य सिद्धांत की भांति विदेशी मुद्रा की मांग व पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा होता है।

टिप्पणी

2. **दो देशों की मुद्राओं की क्रय शक्ति को सही–सही मापना कठिन है–** इस सिद्धांत का सबसे बड़ा दोष यह है कि दो देशों की मुद्राओं की क्रय शक्ति समताएं ठीक प्रकार से नहीं मापी जा सकती है। इस संबंध में निम्न कठिनाइयां है–

   (i) मुद्रा की क्रय शक्ति को मापने के लिए निर्देशांक प्रायः विश्वसनीय साधन नहीं होते ये केवल भूतकालिक आंकड़े होते हैं जो भविष्य के बारे में पूर्णतः विश्वसनीय अनुमान प्रस्तुत नहीं करते।

   (ii) निर्देशांकों की रचना करते समय ऐसी वस्तुओं की कीमतों को शामिल किया जाता है जिनका अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से कुछ भी संबंध नहीं होता है जबकि विदेशी विनिमय दरों के उचित निर्धारण के लिए केवल उन्हीं वस्तुओं की कीमतों को निर्देशांकों में शामिल किया जाना चाहिए जिनका आयात–निर्यात होता है।

   (iii) दोनों देशों के कीमत निर्देशांकों में एक ही प्रकार की वस्तुओं का समावेश नहीं होता इससे दोनों देशों की मुद्राओं की क्रय शक्ति में समता स्थापित करना कठिन हो जाता है।

   (iv) कीमत स्तर एक ऐसी अस्पष्ट धारणा है जिसे ने केवल मापना कठिन होता है अपितु उसका विनिमय दर के निर्धारण के लिए उसके महत्व को निश्चित करना और भी कठिन होता है।

3. **विनिमय दर व मुद्राओं की क्रय शक्ति में सीधा संबंध नहीं–** यह सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि विनिमय दर और मुद्राओं की क्रय शक्ति में सीधा संबंध पाया जाता है जबकि वास्तविक जीवन में ऐसा नहीं होता। विनिमय दर पर मुद्राओं की क्रय शक्ति के अतिरिक्त अन्य तत्वों जैसे प्रशुल्क, तटकर सट्टा क्रियाओं का भी प्रभाव पड़ता है।

4. **मूल्य स्तर में परिवर्तन के कारण विनिमय दर में परिवर्तन होना आवश्यक नहीं–** यह संभव नहीं है कि किसी देश के मूल्य स्तर में तो परिवर्तन हो जाए किंतु विनिमय दर में परिवर्तन न हो क्योंकि विदेशी मुद्रा की मांग व पूर्ति पर अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुओं का प्रभाव पड़ता है और इसी कारण विनिमय दर में परिवर्तन होता है। इसके विपरीत उन वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि का विनिमय मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता जिनका बाजार आंतरिक होता है इसी कारण उनकी कीमतों में चाहे कितने भी उतार–चढ़ाव हो उनका देश की विनिमय दर पर प्रत्यक्ष व शीघ्र कोई प्रभाव नहीं होता है।

5. **परिवहन व्यय की उपेक्षा–** क्रय शक्ति समता सिद्धांत में वस्तुओं के परिवहन व्यय की उपेक्षा की गयी है।

6. **वस्तुओं के गुणों की उपेक्षा–** यह सिद्धांत दो देशों में उन वस्तुओं के गुणों की उपेक्षा करता है जिनकी कीमतों की तुलना की जाती है क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि दोनों वस्तुओं के गुण एक समान हों।

7. **दीर्घकालीन विश्लेषण–** इस सिद्धांत के अनुसार दीर्घकाल में दो देशों के बीच विनिमय दर का निर्धारण होता है किंतु यह सिद्धांत यह स्पष्ट नहीं करता है कि अल्पकाल में विनिमय दर किस प्रकार निर्धारित होती है।

टिप्पणी

8. **व्यवहारिक दृष्टि से कम महत्वपूर्ण–** व्यावहारिक दृष्टि से इस सिद्धांत का महत्व बहुत कम है क्योंकि आजकल सभी देशों ने नियंत्रित दरें स्थापित की हुई है।
9. **सिद्धांत का प्रयोग साम्य विनिमय दर निर्धारण हेतु नहीं–** क्रय शक्ति समता सिद्धांत का प्रयोग एक वास्तविक साम्य विनिमय दर निर्धारण हेतु नहीं किया जा सकता। यह सिद्धांत केवल दीर्घकालीन प्रवृत्ति की व्याख्या करता है जब आर्थिक शक्तियों का कार्यकरण स्वतंत्र हो। वास्तव में ऐसा नहीं होता है।
10. **पारस्परिक मांग की धारणा के महत्व पर ध्यान–** व्यापार करने वाले दो देशों में फैशन, रुचि व आदतों में परिवर्तन के कारण एक दूसरे की वस्तु के लिए पारस्परिक मांग में परिवर्तन आ सकता है जिसके फलस्वरूप विनिमय दर में भी परिवर्तन आता है।
11. **दो देशों के मध्य आर्थिक संबंधों में परिवर्तन पर ध्यान नहीं–** दो देशों के कीमत स्तर में परिवर्तन न हो लेकिन फिर भी उनके मध्य आर्थिक संबंधों में परिवर्तन के कारण विनिमय दर में परिवर्तन आते हैं।
12. **संबंधित देशों में एक रूप वस्तु समूह की अवास्तविक मान्यता पर आधारित–** यह सिद्धांत देशों में एक ही प्रकार के वस्तु समूहों को विचार में लेता है किंतु यह मान्यता अवास्तविक है क्योंकि दोनों ही देश वस्तु के उत्पादन में भौगोलिक विशिष्टीकरण अपनाते है अत: वस्तु उत्पादन में भिन्नताएं होती है।

क्रय शक्ति समता सिद्धांत का महत्व– उपरोक्त दोषों के बावजूद क्रय शक्ति समता सिद्धांत अत्यधिक महत्वपूर्ण है–

1. यह सिद्धांत स्पष्ट करता है कि अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा पर आधारित दो देशों के बीच विनिमय दर का निर्धारण किस प्रकार होता है। यह सिद्धांत इस बात को स्पष्ट करता है कि किसी देश के आंतरिक कीमत स्तर और इसकी विनिमय दर में गहरा संबंध होता है।
2. इस सिद्धांत से पता चलता है कि किसी समय विशेष पर व्यापार की दशा कैसी होगी और भुगतान संतुलन का स्वरूप क्या होगा।
3. इस सिद्धांत की सहायता से यह भी चलता है कि अवमूल्यन तथा अधिमूल्यन से देश की विनिमय दर तथा उसके विदेशी व्यापार पर क्या प्रभाव पड़ता है।
4. यह सिद्धांत सभी प्रकार के मुद्रामानों तथा मुद्राओं पर क्रियाशील होता है।

इस सिद्धांत के व्यावहारिक महत्व को स्पष्ट करते हुए प्रो. हॉम ने लिखा है कि ''क्रय शक्ति समता सिद्धांत का उपयोग उस समय लाभदायक होता है जब हम पूर्ण रूप से अंधकार में हो, जैसा कि लंबे समय तक विनिमय दर अपनाए जाने अथवा भीषण मुद्रा प्रसार के पश्चात हुआ करता है, ऐसे में क्रय शक्ति समता कम से कम विनिमय दर के उस आनुमानित क्षेत्र को जानने में सहायता दे सकती है जिसके अंदर संतुलित दर का पता लगाया जा सकता है।''

भुगतान शेष सिद्धांत

भुगतान शेष सिद्धांत के अनुसार विनिमय दर का निर्धारण मांग व पूर्ति के संबंध में भुगतान शेष द्वारा होता है। इस सिद्धांत को विनिमय दर का मांग–पूर्ति सिद्धांत भी कहते

है। यह सिद्धांत स्पष्ट करता है कि जब भुगतान शेष में घाटा होता है तो विनिमय दर में कमी आती है। इसके विपरीत जब भुगतान शेष में आधिक्य होता है तो विनिमय दर में वृद्धि हो जाती है।

विनिमय दर निर्धारण का भुगतान संतुलन सिद्धांत इस तथ्य पर आधारित है कि निर्यात ही आयातों का भुगतान करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि संतुलित विनिमय दर निर्धारण के लिए किसी देश के कुल आयातों एवं कुल निर्यातों का मूल्य समान होना चाहिए ताकि प्रत्येक देश में भुगतान एवं प्राप्तियां समान हों। यद्यपि अल्पकाल में किसी देश के आयातों का मूल्य उस देश के निर्यातों के मूल्य की तुलना में अधिक होता है परंतु दीर्घकाल में किसी देश के कुल आयातों का मूल्य तथा कुल निर्यातों का मूल्य समान होना चाहिए। इस सिद्धांत को विदेशी विनिमय का संतुलन सिद्धांत भी कहा जाता है।

सामान्यत: आयातों का भुगतान निर्यातों द्वारा किया जाता है परंतु यह आवश्यक नहीं कि किसी भी देश का व्यापार संतुलन सदैव संतुलित रहे क्योंकि भुगतान संतुलन में व्यापार संतुलन अनुकूल भी हो सकता है और प्रतिकूल भी। भुगतान संतुलन की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता विनिमय दर को प्रभावित करती है। यदि किसी देश का भुगतान संतुलन प्रतिकूल हो जाता है तो उस देश में विदेशी मुद्रा की मांग बढ़ जाती है जिससे विदेशी मुद्राओं के उस देश के अनुकूल हो जाती है। इस प्रकार किसी भी देश की मुद्रा का, विदेशी मुद्राओं में मूल्य विदेशी विनिमय बाजार में किसी भी मुद्रा विशेष की मांग व पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है।

भुगतान संतुलन सिद्धांत वास्तव में विदेशी विनिमय की सामान्य मांग व पूर्ति का सिद्धांत है। विदेशी विनिमय की मांग व पूर्ति समान हो जाने पर संतुलित विनिमय निर्धारित होती है। किसी भी देश की विदेशी मुद्रा की मांग उस देश के निर्यातों की मांग तथा मूल्य, पूंजी खाते की प्राप्तियां तथा विदेशों में विनियोजित पूंजी पर प्राप्त लाभांश व ब्याज आदि की राशि पर निर्भर करती है इसके विपरीत इस देश की मुद्रा की विदेश में पूर्ति इसके आयातों की मात्रा व मूल्य, लाभांश व ब्याज आदि पर देय भुगतानों पर निर्भर करती है।

विदेशों विनिमय की मांग व पूर्ति वक्र दिये होने पर विनिमय दर का निर्धारण उस बिंदु पर होगा जहां पर दोनों वक्र एक दूसरे को काटते हैं।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण–

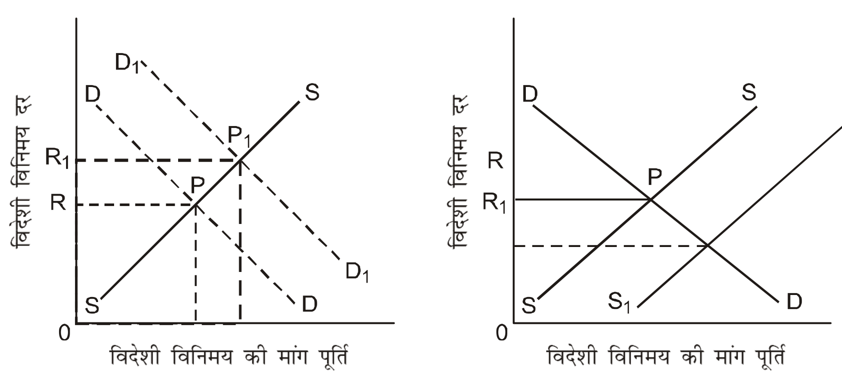

चित्र में विदेशों विनिमय का मांग वक्र DD है तथा पूर्ति वक्र SS हैं जो एक दूसरे को P बिंदु पर काटते हैं। जहां विनिमय दर OR है। माना A देश के आयातो में वृद्धि हो जाती है। आयातों में वृद्धि के कारण अतिरिक्त आयातों के भुगतान के लिए विदेशों में मुद्रा की मांग बढ़ जाएगी जिसके परिणामस्वरूप विदेशाी विनिमय मांग वक्र ऊपर सरककर DD_1 हो जाएगा। विदेशी विनिमय की मांग बढ़ जाने से विनिमय दर बढ़कर OR_1 हो जाएगी।

दूसरी ओर यदि B देश में निर्यातों में वृद्धि हो जाती है तो विदेशी मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाएगी और विदेशी विनिमय का पूर्ति वक्र दाहिनी ओर सरकार S_1S_1 हो जाएगा। जहां पर विदेशी विनिमय दर कम होकर OR_1 हो जाएगी। इस प्रकार स्पष्ट है कि मांग एवं पूर्ति में होने वाले परिवर्तन विनिमय की संतुलित दर को प्रभावित करते हैं।

भुगतान संतुलन सिद्धांत के गुण

विनिमय दर निर्धारण के इस सिद्धांत में निम्न गुण पाए जाते हैं–

1. यह सिद्धांत स्पष्ट करता है कि विनिमय दर आयात निर्यात की वस्तुओं के अतिरिक्त सेवाओं के आयात–निर्यात, पूंजी का हस्तांतरण युद्ध आदि में क्षतिपूर्ति आदि से प्रभावित होती है।
2. यह सिद्धांत स्पष्ट करता है कि अन्य वस्तुओं की भांति मुद्रा का मूल्य भी उसकी मांग एवं पूर्ति के द्वारा निर्धारित होता है। विनिमय दर का निर्धारण विदेशों विनिमय की कुल मांग एवं पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है। अतः यह सिद्धांत विनिमय दर निर्धारण को भी सामान्य मूल्य सिद्धांत के क्षेत्र में ले आता है।
3. यह सिद्धांत यह भी स्पष्ट करता है कि भुगतान में असंतुलन की स्थिति को विनिमय दर में मामूली परिवर्तन करके भी ठीक किया जा सकता है।
4. यह सिद्धांत साम्य दर का अधिक संतोषजनक विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

सिद्धांत के दोष/आलोचना

विनिमय दर निर्धारण का भुगतान संतुलन सिद्धांत दोषों से रहित नहीं है इस सिद्धांत में निम्न दोष है–

1. यह सिद्धांत मुद्रा के आंतरिक मूल्य के निर्धारण के बारे में कुछ नहीं बताता है।
2. विदेशों विनिमय निर्धारण में विदेशी मुद्राओं की मांग व पूर्ति के अतिरिक्त अन्य तत्वों का भी प्रभाव पड़ता है। जैसे चलन संबंधी दशाएं, राजनीति दशाएं बैंक की क्रियाएं, विदेशी आर्थिक सहायता, विनिमय की मात्रा आदि। यह सिद्धांत विनिमय दर के इन तत्वों के प्रभावों की उपेक्षा करता है।
3. यह सिद्धांत पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता को लेकर चलता है तथा एक देश से दूसरे देश की मुद्रा के प्रवाह में हस्तक्षेप को स्वीकार नहीं करता है किंतु ये दोनों बातें अवास्तविक है।

4. इस सिद्धांत के अनुसार विदेशों से आयात की जाने वाली वस्तुओं की मांग पूर्णतया बेलाचदार होती है। इस पर कीमत व विनिमय दर का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, किंतु सामान्य रूप से बेलोचदार वस्तुओं की मांग पर भी कीमत परिवर्तनों का प्रभाव पड़ता है।
5. विदेशी विनिमय दर का यह सिद्धांत कीमत स्तर की उपेक्षा करता है। मूल्य स्तर नीचा होने पर निर्यात प्रोत्साहन होते हैं और आयात हतोत्साहित और विलोमशः अतः विनिमय दर निर्धारण में कीमत स्तर की उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

अपनी प्रगति जांचिए

5. दो देशों की मुद्राओं में निहित स्वर्ण की मात्रा के आधार पर जो विनिमय दर निर्धारित की जाती है उसे कौन–सी दर कहते है?
   (क) टकसाल दर (ख) टंकण समता दर
   (ग) स्वर्ण समता दर (घ) उपरोक्त सभी
6. क्रय शक्ति समता सिद्धांत का प्रतिपादन सर्वप्रथम किसने किया था?
   (क) प्रो. जान ह्वीटले (ख) प्रो. गैस्टव कसैल
   (ग) प्रो. मार्शल (घ) प्रो. सैम्यूलसन

5.5 मुद्रा का अवमूल्यन एवं अधिमूल्यन एवं विदेशी व्यापार पर प्रभाव

अवमूल्यन का अर्थ अपने देश की मुद्राओं का मूल्य विदेशी मुद्राओं के मूल्य में कम कर देने से होता है अर्थात् विदेशी मुद्राओं के रूप में देश की मुद्रा का मूल्य जानबूझकर कम कर दिया जाता है। परिणामस्वरूप देश की मुद्रा की क्रय–शक्ति विदेशी मुद्राओं के रूप में कम हो जाती है। इससे देश के निर्यातों को प्रोत्साहन मिलता है, क्योंकि अवमूल्यन करने वाले देश की वस्तुएं उन सभी देशों में सस्ती हो जाती है जिनकी मुद्राओं का अवमूल्यन नहीं किया जाता है। इसके साथ ही अवमूल्यन करने वाले देश के आयातों में कमी हो जाती है, क्योंकि उस देश में विदेशी माल महंगा हो जाता है परिणामस्वरूप देश के आयातों की घरेलू कीमत बढ़ जाती है और निर्यातों की विदेशी कीमत गिर जाती है।

मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन के सिलसिले में प्रायः तीन शब्दों का प्रयोग किया जाता है। पहला मूल्य वृद्धि दूसरा मूल्य ह्रास और तीसरा अवमूल्यन। मूल्य वृद्धि और मूल्य ह्रास के आंतरिक मूल्य से संबंध रखते है जबकि अवमूल्यन मुद्रा के बाहरी मूल्य या अंतर्राष्ट्रीय मूल्य से संबंधित होता है।

अवमूल्यन (मूल्यह्रास) का अर्थ

जब किसी समय मुद्रा के आंतरिक मूल्य में कमी आ जाती है अर्थात जब मुद्रा की प्रत्येक इकाई पहले की अपेक्षा कम वस्तुओं एवं सेवाओं को खरीदती है तो इसको मुद्रा

का मूल्य ह्रास कहा जाता है। इस समय उसकी क्रय शक्ति कम हो जाती है एवं देश में वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य में वृद्धि हो जाती है। इस तरह मुद्रा के मूल्य में ह्रास, मुद्रा स्फीति या मुद्रा संस्फीति के समय होता है क्योंकि दोनों समय में वस्तुओं एवं सेवाओं के मूल्य में वृद्धि होती है।

स्थिर विनिमय दर प्रणाली के संदर्भ में अवमूल्यन तथा अधिमूल्यन दोनों पदों का उपयोग उस स्थिति में किया जाता है जब सरकारी आदेश द्वारा एक साथ बड़े अनुपात में बाह्य मूल्य को परिवर्तित किया जाता है। अवमूल्यन तथा अधिमूल्यन से संबंधित विचार–विमर्श को सरकार द्वारा गोपनीय रखा जाता है ताकि मुद्रा व सट्टेबाजी से संबंधित असह दबाव न बन पाएं।

जब विनिमय दरें स्थिर नहीं होती है अपितु बाजार मांग एवं पूर्ति द्वारा स्वतंत्र रूप से लचीली बनी रहती है तब विनिमय दर के परिवर्तन को अवमूल्यन व अधिमूल्यन न कहकर मूल्यह्रास तथा मूल्य वृद्धि कहते हैं। अंतर्राष्ट्रीय बाजार में यदि कीमतों को अपरिवर्तित मान ले तो किसी भी राष्ट्र की मुद्रा के अवमूल्यन के परिणामस्वरूप व्यापार में शामिल वस्तुओं के घरेलू मूल्य में स्थानीय मुद्रा के रूप में वृद्धि होती है। भारतीय रुपये के अवमूल्यन के परिणामस्वरूप जून 1966 में विनिमय 1$=Rs. 4.76 से परिवर्तित होकर 1$=Rs. 7.50 हो गई थी। विनिमय दर के इस परिवर्तन के कारण 1$ मूल्य के आयात व निर्यातों का मूल्य रुपये के रूप में 4.76 रु. से बढ़कर 7.50 रु. हो गया था। ऐसे परिवर्तन के कारण निर्यात कर्त्ता विदेशों में अधिक माल बेचेंगे क्योंकि उन्हें अब निर्यातों की ऊंची कीमत प्राप्त हो रही है अतः निर्यातों में वृद्धि होगी। दूसरी ओर घरेलू उत्पादक आयात प्रतिस्थापन वस्तुओं का उत्पादन करेंगे जिससे आयात में कमी होगी।

मूल्यह्रास से देश की मुद्रा के मूल्य पर प्रभाव पड़ता है। इससे अन्य मुद्राओं के सन्दर्भ में देश की मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है। मुद्रा का अवमूल्यन अर्थात मूल्यह्रास ऐसी घटना है जो लचीली विनिमय दर–प्रणाली वाले देशों से जुड़ी होती है। लचीली (फ्लोटिंग) विनिमय दर–प्रणालियों में देश की मुद्रा का मूल्य माँग व आपूर्ति के बाज़ार–शक्तियों द्वारा निर्धारित किया जाता है। मुद्रा का विनिमय दर विदेशी मुद्राओं के सन्दर्भ में उस मुद्रा की माँग व आपूर्ति के अनुरूप दैनिक रूप से बदलता रहता है। विदेशी मुद्रा के सन्दर्भ में, मुद्रा का अवमूल्यन तब होगा जब बाज़ार में मुद्रा की आपूर्ति बढ़ती है और इसकी माँग घटती है।

अवमूल्यन के कारण

अवमूल्यन देश की अर्थव्यवस्था में आधारभूत असंतुलन का द्योतक है। किसी भी देश में अवमूल्यन अचानक नहीं आता, बल्कि देश की अर्थव्यवस्था में पहले से हो रही समस्याओं का परिणाम होता है। साधारणतया अवमूल्यन के निम्न कारण होते हैं–

1. जब दो देशों के मध्य घनिष्ठ व्यापारिक संबंध होते है तो एक देश द्वारा अवमूल्यन करने पर दूसरा देश भी ऐसा करने के लिए बाध्य हो जाता है।
2. जब कोई दूसरा देश अपनी अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुओं का मूल्य गिरा देता है अथवा राशिपातन की नीति अपनाता है तो उसके हानिकारक प्रभाव से बचने के लिए अवमूल्यन करना आवश्यक हो जाता है।

3. मुद्रा संकुचन की स्थिति में जब देश में मांग की कमी के कारण कीमतें गिरने लगती है तो अवमूल्यन के द्वारा देश के माल की विदेशों में मांग बढ़ायी जा सकती है और देश में कीमत स्तर ऊंचा उठाया जा सकता है।

4. विदेशी ऋण प्राप्त करने के उद्देश्य से भी अवमूल्यन का सहारा लिया जा सकता है। भुगतान संतुलन की दीर्घकालिक प्रतिकूल असाम्यता में सुधार करना मुद्रा अवमूल्यन का मुख्य उद्देश्य होता है। अवमूल्यन करने वाले देश की वस्तुएं विदेशों में सस्ती हो जाती है जिससे निर्यातों को प्रोत्साहन मिलता है दूसरी ओर आयात महंगे हो जाते है और हतोत्साहित होते है।

अवमूल्यन को प्रभावित करने वाले कारक

अवमूल्यन को प्रभावित करने वाले कारक निम्नलिखित हैं–

- **निर्यात में कमी**– देश के समग्र निर्यात में कमी से निर्यात–राजस्व में गिरावट होती है। इससे देश की मुद्रा की माँग घटती है व इसका अवमूल्यन होता है।
- **आयात में वृद्धि**– आयातित उत्पादों व सेवाओं की माँग में अधिक वृद्धि से व्यापार में घाटा हो जाता है। चालू खाता घाटा में वृद्धि से मुद्रा का कुल अंतःप्रवाह हो जाता है जिससे विनिमय दर कमजोर पड़ जाता है इससे मुद्रात्मक अवमूल्यन हो जाता है।
- **केन्द्रीय बैंक की मौद्रिकनीति**– यदि केन्द्रीय बैंक अपनी ब्याज–दरें घटा देता है तो इससे उच्च मुद्रा का प्रवाह हो जाता है, जैसे विदेशी पोर्टफ़ोलियो निवेश का। इससे घरेलू मुद्रा का अवमूल्यन हो जाता है।
- **केन्द्रीय बैंक के खुले बाजार की प्रक्रिया**– यदि केन्द्रीय बैंक विदेशी मुद्रा व स्वर्ण इत्यादि क्रय करने के लिये खुले बाजार प्रक्रिया में उतरता है तो इससे घरेलू मुद्रा का अवमूल्यन हो जाता है। भारतीय रिज़र्व बैंक रुपये के अधिमूल्यन अथवा अवमूल्यन के प्रकरण में खुले बाजार प्रक्रिया में उतरता है एवं विदेशी विनिमय बाजार में अस्थिरता घटाने के भी लिये ऐसा करता है।

अवमूल्यन का विदेशी व्यापार पर प्रभाव

अवमूल्यन से देश के आयात व निर्यात प्रभावित होते है। अवमूल्यन करने वाले देश की वस्तुएं विदेशियों के लिए सस्ती हो जाती है जिससे निर्यात में वृद्धि होती है। साथ ही आयातित वस्तुओं के लिए अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है जिससे आयातों में कमी आ जाती है। अवमूल्यन के कारण ऋण देने वाले देश अपना ऋण वापस लेने की जल्दी करने लगते है। यद्यपि विनिमय नियंत्रण की नई व्यवस्था के कारण इस स्थिति में पर्याप्त सुधार हो गया है तथापि इस क्षेत्र में जो संदेह की भावना है वह सर्वथा समाप्त नहीं हुई है। सट्टा करने वाले मुद्रा बेचना आरंभ कर देते है और इससे मुद्रा के मूल्य में और कमी आ जाती है।

अवमूल्यन के विदेशी व्यापार प्रभाव को निम्न प्रकार से समझाया गया है–

- **सम्पत्ति पर प्रभावः** देश के नागरिकों की घरेलू सम्पत्ति का मूल्य अधिक प्रभावित नहीं होता। पुराने विदेशी निवेशकों को धन–हानि होता है क्योंकि उस देश में पुरानी सम्पत्ति का मूल्य विदेशी मुद्रा में अब कम रह गया है।

टिप्पणी

- **विदेशी निवेश पर प्रभावः** विदेशी निवेशक घरेलू परिसम्पत्तियों में निवेश करने की ओर आकर्षित होते है, जैसे आवास–निर्माण इत्यादि की ओर, क्योंकि स्थानीय भूसम्पदा क्रय करने की दृष्टि से मुद्रात्मक मूल्यह्रास से विदेशियों के लिये सस्ती हो जाती है। स्थिर विनिमय दर–प्रणाली में मुद्रा में बारम्बार अवमूल्यनों से विदेशी निवेश पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है क्योंकि घरेलू अर्थव्यवस्था की आर्थिक अस्थिरता के अनुमान हावी रहते हैं।
- **निर्यात–आयात पर प्रभाव** : अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में निर्यात सस्ता हो जाता है जिससे इसकी माँग बढ़ जाती है। आयात महँगा हो जाता है जिससे आयात में कमी आती है।
- **समेकित माँग** : मूल्यह्रास से एक ओर आयातित उत्पादों की मांग में कमी आ जाती है दूसरी ओर घरेलू उत्पादों का उपभोग बढ़ जाता है जिससे आर्थिक वृद्धि की दर बढ़ जाती है।
- **विनिमय–दर एवं एवं भुगतान शेष के चालू खातें पर प्रभाव** : अवमूल्यन से आयात के सन्दर्भ में निर्यात में आपेक्षिक वृद्धि के कारण भुगतान शेष के चालू खाते में वृद्धि होने लगती है।
- **दीर्घावधिक प्रभाव** : अवमूल्यन व मूल्यह्रास के दीर्घावधिक प्रभावों में भिन्नता है। लचीली विनिमय दर–प्रणाली में घरेलू मुद्रा के मूल्यह्रास से निर्यात में वृद्धि हो जाती है एवं अर्थव्यवस्था विदेशी निवेशकों के लिये बेहतर हो जाती है। इससे विदेशी निवेश का प्रवाह बढ़ जाता है और अवमूल्यन का प्रभाव कम हो जाता हैं।
- **मुद्रास्फीति पर मूल्यह्रास का प्रभाव** : अवमूल्यन से मुद्रास्फीति बढ़ेगी क्योंकि इससे आयात की लागत बढ़ती है, अतः लागत में वृद्धि के कारण मुद्रास्फीति में वृद्धि होगी।
- मूल्यह्रास से निर्यात में अधिक प्रतिस्पर्द्धा हो जाता है। दीर्घावधि में इससे लागत घटाने के लिये संस्थाओं हेतु प्रोत्साहन घट जाते हैं, इससे उत्पादकता घट जाती है व कीमतें बढ़ जाती हैं।

विनिमय दर में अवमूल्यन का प्रभाव अर्थव्यवस्था की स्थिति पर निर्भर है। यदि अर्थव्यवस्था तेजी से बढ़ रही है एवं पूर्ण क्षमता में बन्द हो रही है तो विनिमय दर में गिरावट से मुद्रास्फीतिगत दबाव बढ़ने की सम्भावना है। मंदी में विनिमय दर में कमी से कुछ अस्थायी लागतों में वृद्धि हो जाती है जिससे मुद्रास्फीति बढ़ जाती है।

विनिमय दर में गिरावट से भुगतानों के चालू खाता संतुलन पर प्रभाव मूल्यह्रास से भुगतान के चालू खाता संतुलन में सुधार होगा क्योंकि निर्यात आयात से आपेक्षिक रूप में बढ़ा है तथा आयात व निर्यात की माँग आपेक्षिकतया लचीली रहती है।

मार्शल–लॅर्नर शर्त के अनुसार अवमूल्यन से चालू खाता संतुलन सुधरेगा यदि मांग की लोच इकाई से अधिक होगी।

अल्पावधि में निर्यात की माँग ग़ैर–लचीली हो जाती है, अतः चालू खाता में सुधार नहीं होता। दीर्घावधि में माँग अधिक लचीली हो जाती है इसलिये चालू खाता में सुधार होता है।

टिप्पणी

अवमूल्यन का होना तभी सफल हो सकता है जबकि अवमूल्यन करने वाले देश से व्यापारिक संबंध रखने वाले अन्य देश न तो अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन करते है और न ही प्रतिकार की भावना से प्रतिरोधी उपाय अपनाते है। अवमूल्यन के उपरांत दूसरे देशों को इस देश के निर्यातों पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रतिबंध नहीं लगाने चाहिए। यदि विदेशी मुद्रा में आयात कीमतों की तुलना में, निर्यात कीमतों में अधिक गिरावट हो तो व्यापार संतुलन अवमूल्यन करने वाले देश के लिए प्रतिकूल होने की संभावना होगी। अवमूल्यन की सफलता के लिए देश के आयात एवं निर्यात की मांग की लोच इकाई से अधिक होनी चाहिए।

अधिमूल्यन (मूल्यवृद्धि) का अर्थ

जब किसी देश की मुद्रा की क्रय शक्ति बढ़ जाती है, तब उसे मुद्रा की मूल्य वृद्धि कहते हैं अर्थात इस समय मुद्रा की प्रत्येक इकाई पहले की अपेक्षा वस्तुओं और सेवाओं की अधिक मात्रा खरीदने में समर्थ हो जाती है। मुद्रा की मूल्य वृद्धि के समय जब मुद्रा संकुचन या अपस्फीति का समय रहता है तब मूल्य वृद्धि पाई जाती है।

अधिमूल्यन का तात्पर्य विदेशी मुद्राओं के सन्दर्भ में मुद्रा के मूल्य में वृद्धि है। मुद्रात्मक अधिमूल्यन किसी मुद्रा के मूल्य में अनाधिकारिक वृद्धि है। यह लचीली (फ्लोटिंग) अथवा प्रतिबंधित लचीली दर विनिमय दर–प्रणालियों से जुड़ा लक्षण है। जब मुद्रा की आपूर्ति विदेशी विनिमय बाज़ार में इसकी माँग से कम होती है तो मुद्रा का अधिमूल्यन होता है।

अधिमूल्यन के कारण

अधिमूल्यन के कारणों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

केन्द्रीय बैंक द्वारा पॉलिसी ब्याज–दर में वृद्धि : यदि केन्द्रीय बैंक द्वारा पॉलिसी ब्याज–दर को बढ़ाया जाता है तो इससे निवेशक सरकारी बॉण्ड्स व घरेलू प्रतिभूतियों में निवेश करने को आकर्षित होंगे जिससे उच्च मुद्रा के रूप में विदेशी निवेश का अन्तर्वाह (प्रवाह) हो जाता है। इससे घरेलू मुद्रा का अधिमूल्यन हो जाता है।

- **चालू खाता अधिशेष** : चालू खाता अधिशेष से अर्थव्यवस्था में विदेशी विनिमय का अन्तर्वाह हो जाता है जिससे घरेलू मुद्रा के विनिमय दर में मूल्यवृद्धि/अधिमूल्यन हो जाता है।
- **निर्यात में वृद्धि** : निर्यात में वृद्धि से घरेलू मुद्रा की माँग बढ़ जाती है जिससे विदेशी मुद्राओं के कारण इसका अधिमूल्यन हो जाता है।
- **खुले बाजार प्रक्रिया के माध्यम से केन्द्रीय बैंक द्वारा हस्तक्षेप** : केन्द्रीय बैंक द्वारा विदेशी विनिमय बाजार से घरेलू मुद्रा क्रय करने से घरेलू मुद्रा का अधिमूल्यन हो जाता है।

- **निवेश में वृद्धि** : अधिक आर्थिक बढ़त से अर्थव्यवस्था में विदेशी निवेश बढ़ जाता है जिससे विनिमय दर में मूल्यवृद्धि हो जाती है।

अधिमूल्यन का विदेशी व्यापार पर प्रभाव

कोई भी देश अपनी मुद्रा का अधिमूल्यन उस दशा में करता है जब विदेशी विनिमय बाजार को स्वतंत्र अथवा अनियंत्रित छोड़ देने पर मुद्रा की पूर्ति उसकी मांग की अपेक्षा अधिक होने की संभावना होती है। अधिमूल्यन के परिणामस्वरूप आयात बढ़ते है तथा निर्यात कम होते है जिससे बाजार में वस्तुओं की पूर्ति बढ़ने लगती है। आयात सस्ते होने के कारण वस्तुएं देश में कम कीमत पर बिकती है जो कि अन्य वस्तुओं की कीमत को गिरा देती है।

अधिमूल्यन के प्रभाव से विदेशों वे वस्तुएं खरीदना सस्ता हो जाता है जबकि विदेशी व्यापारियों द्वारा इस देश की वस्तुएं खरीदना महंगा हो जाता है। इस प्रकार मुद्रा का अधिमूल्यन आयातों को प्रोत्साहित तथा निर्यातों को हतोत्साहित करता है। स्वतंत्र विदेशी विनिमय बाजार में तो कोई भी मुद्रा अधिक समय तक अधिमूल्यन की स्थिति में नहीं रह सकता परंतु विनिमय नियंत्रण द्वारा लंबे समय तक अधिमूल्यन की स्थिति को बनाए रखा जा सकता है।

अधिमूल्यन के विदेशी व्यापार के प्रभाव को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

- निर्यात में कमीः मुद्रा के अधिमूल्यन से अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में निर्यात में कम स्पर्द्धा होती है और देश के निर्यात में कमी आती है।
- आयात में वृद्धिः अधिमूल्यन के कारण आयात सस्ता हो जाता है इस प्रकार समग्र आयात में वृद्धि होती है।
- विप्रेषण (रेमिटेन्सेज़): विदेशों से आ रहे विप्रेषणों का मूल्य घरेलू मुद्रा में घट जाता है।
- भुगतान शेष संतुलनः घरेलू मुद्रा के लगातार अधिमूल्यन से BOP प्रतिकूल हो सकता है।
- मुद्रास्फीतिः अधिमूल्यन के कारण समग्र मुद्रास्फीति घट जाती है जिसके कारण आयात कम हो जाता है।

अधिमूल्यन के प्रभावों का मूल्यांकन

अधिमूल्यन के प्रभावों के मूल्यांकन को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

- **लचीलापनः** अधिमूल्यन का प्रभाव निर्यात–आयात की माँग की कीमत के लचीलेपन पर निर्भर है। मार्शल–लॅर्नर शर्त के अनुसार यदि देश के निर्यातों के लिए विदेशी मांग की लोच तथा आयातों के लिए घरेलू मांग की लोच का जोड़ इकाई से अधिक हो तो अवमूल्यन का भुगतान शेष पर अनुकूल प्रभाव होता है। मार्शल लर्नर शर्त, के अनुसार लोच गुणांकों के महत्व को दर्शाती है जिसके अवमूल्यन का प्रभाव कीमतों और निर्यातों एवं आयातों के मूल्यों पर पड़ता है।

यह सिद्धांत भुगतान शेष के असंतुलन को विनिमय दर द्वारा समायोजन पर आधारित है। अवमूल्यन करने से जब देश की विनिमय दर गिरती है तो आयात कम होते है और निर्यात बढ़ते है।

- **समय के सापेक्ष में लचीलापन** : अल्पावधि में निर्यात व आयात की माँग में लचीलापन नहीं होता, इसलिये अधिमूल्यन से चालू खाता सुधरता है परन्तु समय बीतते–बीतते माँग अधिक लचीली हो जाती है क्योंकि लोग विकल्पों की ओर बढ़ने लगते हैं।
- **अर्थव्यवस्था की परिस्थिति पर निर्भर** : यदि अर्थव्यवस्था मंदी में हो तो अधिमूल्यन से समेकित माँग में पूर्णतः कमी आती है एवं अधिक बेरोज़गारी की संभावना बनती है। यदि अर्थव्यवस्था बढ़ रही हो तो अधिमूल्यन से मुद्रास्फीतिगत दबावों को घटाने में सहायता मिलेगी एवं यह अत्यधिक प्रतिकूल प्रभाव के बिना वृद्धि–दर को सीमित करने में।
- **विनिमय दर के मूल्य में वृद्धिः** यदि अर्थव्यवस्था के अधिक स्पर्द्धी होने के कारण अधिमूल्यन हो तो अधिमूल्यन से स्पर्द्धाशीलता में कमी नहीं आयेगी परन्तु यदि अन्य देशों में अनिश्चितता के अनुमानों अथवा दुर्बलता के कारण अधिमूल्यन हो तो अधिमूल्यन से स्पर्द्धाशीलता का बड़ा घाटा हो सकता है।
- अधिमूल्यन से जीवन–मापदण्ड सुधारने में सहायता हो सकती है– इससे उपभोक्ता सस्ता आयात क्रय कर पाते हैं।
- यदि अधिमूल्यन उन्नत स्पर्द्धाशीलता का परिणाम हो तो अधिमूल्यन टिकाऊ होता है एवं इससे वृद्धि में कमी नहीं आती।
- अधिमूल्यन एक समस्या हो सकता है यदि मुद्रा कठिन आर्थिक परिस्थिति के दौरान तेजी से बढ़ती हो तो।

अधिमूल्यन बनाम पुनर्मूल्यांकन

अधिमूल्यन व पुनर्मूल्यांकन दोनों के समान प्रभाव हैं किन्तु इनमें कुछ अन्तर हैं। मुद्रा का अधिमूल्यन फ्लोटिंग (लचीली) अथवा प्रतिबंधित लचीली विनिमय दर प्रणाली से जुड़ा होता है जबकि मुद्रा के पुनर्मूल्यांकन का सम्बन्ध स्थिर विनिमय दर प्रणाली से होता है।

भारतीय रुपया के सन्दर्भ में स्थिति

भारतीय रुपया का विनिमय दर स्वाधीनता से अब तक बहुत बदला है। सन् 1947 से कई ऐसे उदाहरण सामने आये हैं जब भारतीय रुपया का अवमूल्यन हुआ हो। सन् 1947 में 1 US$ का मूल्य एक भारतीय रुपया था किन्तु सन् 2018 में 1 US$ का मूल्य 71 भारतीय रुपये रहा। भारतीय रुपया के अवमूल्यन व मूल्यह्रास के कारण निम्नांकित रहे हैं–

- **निधियों (फ़ण्ड्स) की कमी** : स्वाधीनता के उपरान्त भारत में पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से आर्थिक नियोजन का महालनॉबिस मॉडल अपनाया

गया। भारतीय सरकार ने विदेशी स्रोतों से ऋण प्राप्त किये। 1950 एवं 1960 के दशकों में ऋणों के कारण भारत का विनिमय दर 1$= रु. 4.75 हो गया।

- **भारत–चीन युद्ध एवं भारत–पाकिस्तान युद्ध** : सन् 1962 में चीन से युद्ध एवं सन् 1965 में पाकिस्तान से युद्ध में भारतीय अर्थव्यवस्था की वित्तीय स्थिति पर नकारात्मक प्रभाव पड़े। शासन पहले से ही बजट–घाटे से जूझ रहा था एवं बचतों की ऋणात्मक दर के कारण बाह्य ऋण उपलब्ध नहीं हो पा रहे थे। सन् 1966 में भारी सूखे से भारतीय अर्थव्यवस्था क्षत–विक्षत हो गयी। सन् 1966 में सरकार ने रुपया का अवमूल्यन किया एवं भारत का विनिमय दर बदलकर 1$= 7रु. कर दिया गया।
- सन् 1973 के ऑइल शॉक एवं इंदिरा गाँधी के मरणोपरान्त राजकीय अस्थिरता से भारतीय अर्थव्यवस्था में विदेशी निवेशकों का भरोसा घट गया। भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि जैसे अन्तर्राष्ट्रीय स्रोतों से ऋण प्राप्त किये जिससे भारतीय मुद्रा का मूल्य घटा। भारतीय रुपया का मूल्य सन् 1985 में 1$= 12.34रु. व सन् 1990 में 1$= 17.5रु. हो गया।
- **सन् 1991 का भुगतान शेष क्राइसिस** : इससे भारतीय अर्थव्यवस्था पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा एवं राजकोषीय घाटा सकल घरेलू उत्पाद के 7.8 % पर पहुँच गया। आर्थिक संकट की समस्याओं से निपटने के लिये भारत का विनिमय दर बदलकर 1$= 24.58रु. हो गया।
- उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त अन्य कारक भी यूएस डॉलर के सन्दर्भ में भारतीय रुपया के मूल्यह्रास के लिये उत्तरदायी रहे हैं। उदाहरणार्थ पेट्रोलियम उत्पादों, स्वर्ण, विलासी उत्पादों इत्यादि के इम्पोर्ट–बिल में वृद्धि, सन् 1997 का एशियाई वित्तीय संकट, सन् 2008 की वैश्विक वित्तीय मंदी, सन् 2011 का यूरोपियन ऋण संकट इत्यादि।

भारतीय रुपया की वर्तमान स्थिति

- वर्तमान में भारतीय रुपया 1$= 71 पर ट्रेड किया जा रहा है। 30 अगस्त, 2018 को भारतीय रुपया का मूल्य 1$=71.02रु. पर पहुँच चुका था। यह पहली बार था जब भारतीय रुपया 70 के आँकड़े के भी पार निकल गया।
- इस वर्ष अप्रैल में जब रुपया अधिमूल्यित होकर 1$= 65रु. के आँकड़े के नीचे जा पहुँचा था तो भारतीय रुपया के अधिमूल्यन एवं भारतीय अर्थव्यवस्था में इसके प्रभाव के बारे में अर्थवेत्ता आशंकित हो उठे थे। अब इसका उलट हो रहा है।

भारतीय रुपया का मूल्य एवं इसका महत्व

- मुद्रा का मूल्य देश की आर्थिक सामर्थ्य का वास्तविक संसूचक नहीं होता। सन् 1947 में डॉलर के सन्दर्भ में भारतीय रुपया का मूल्य मजबूत था परन्तु फिर भी सन् 2018 में भारत की आर्थिक स्थिति सन् 1947 में भारतीय आर्थिक स्थिति की अपेक्षा बहुत बेहतर थी।

- भारतीय रुपया के मूल्य में स्थिरता इसके विनिमय दर की अपेक्षा अत्यधिक महत्वपूर्ण है। विनिमय दर में अधिक वोलेटिलिटी अर्थव्यवस्था के लिये अच्छी परिस्थिति नहीं होती क्योंकि इससे भारतीय रुपया में और कमी प्रेरित हो सकती है।

अपनी प्रगति जांचिए

7. अपने देश की मुद्रा के मूल्य को विदेशी मुद्रा के मूल्य में कम करना निम्न में से क्या कहलाता है?

   (क) अधिमूल्यन (ख) मौद्रिकरण

   (ग) अवमूल्यन (घ) विमुद्रीकरण

8. 30 अगस्त 2018 को भारतीय रु. का 1$ मूल्य कहां तक पहुंच गया था?

   (क) 1$=61.05 रु. (ख) 1$=71.02 रु.

   (ग) 1$=81.10 रु. (घ) 1$=81.15 रु.

5.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ग)
2. (ख)
3. (ख)
4. (ग)
5. (घ)
6. (क)
7. (ग)
8. (ख)

5.7 सारांश

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात जब बहुत से अल्पविकसित देश स्वतंत्र हुए तो वे विदेशी व्यापार व विदेशी निवेश को संदेह की नजरों से देखने लगे। ऐसी परिस्थितियों में भलाई इसी में थी कि विदेशी व्यापार पर कम ध्यान देकर घरेलू बाजारों को अधिक विकसित किया जाए।

किसी भी देश की अर्थव्यवस्था में विदेशी व्यापार का बहुत अधिक महत्व होता है। वास्तविक रूप में विदेशी व्यापार अर्थव्यवस्था में अधिक क्रियाओं के स्तर तथा स्वरूप का परिचायक होता है।

विनिमय दर वह दर है जिस पर किसी देश की मुद्रा की एक इकाई को दूसरे देश की मुद्रा की इकाइयों में परिवर्तित किया जाता है। आंतरिक व्यापार की तुलना में विदेशी व्यापार की प्रक्रिया अधिक जटिल होती है क्योंकि विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न मुद्राएं चलन में होती हैं और प्रत्येक देश के व्यापारी अपने देश की मुद्रा को स्वीकार करते हैं।

विदेशी विनिमय बाजार में विनिमय दर का निर्धारण ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार आंतरिक बाजार में किसी वस्तु की कीमत का निर्धारण होता है। अन्य वस्तुओं की भांति मांग व पूर्ति के नियम के आधार पर विनिमय दर का निर्धारण उस बिंदु पर होता है जिस पर मुद्रा की मांग व मुद्रा की पूर्ति एक दूसरे के बराबर होते हैं। वहां विनिमय दर का निर्धारण हो जाता है।

सरकार की आर्थिक नीति देश के आर्थिक विकास में सहायक होती है और सरकार में जनता का विश्वास होता है तो विदेशियों का विश्वास उस देश की मुद्रा में बढ़ जाता है।

जब दोनों देशों में मौद्रिक मान स्वर्णमान अथवा रजतमान होता है अर्थात धातुमान प्रचलित होता है तो उनके बीच जो विनिमय दर निर्धारित होती है उसे विनिमय की टकसाल दर कहते हैं।

विनिमय दर की क्रय शक्ति अलग-अलग वस्तुओं के लिए अलग–अलग होती है तो किसी एक वस्तु के आधार पर दो देशों की मुद्राओं के क्रय शक्ति साम्य के आधार पर विनिमय दर का निर्धारण उचित नहीं है।

मुद्रा की क्रय शक्ति को मापने के लिए निर्देशांक प्रायः विश्वसनीय साधन नहीं होते ये केवल भूतकालिक आंकड़े होते हैं जो भविष्य के बारे में पूर्णतः विश्वसनीय अनुमान प्रस्तुत नहीं करते।

भुगतान शेष सिद्धांत के अनुसार विनिमय दर का निर्धारण मांग व पूर्ति के संबंध में भुगतान शेष द्वारा होता है। इस सिद्धांत को विनिमय दर का मांग–पूर्ति सिद्धांत भी कहते है।

5.8 मुख्य शब्दावली

- **विदेशी व्यापार** – भारतीय विदेशी व्यापार उस व्यापार को कहते है जिसके अंतर्गत दो या दो से अधिक देशों के बीच वस्तुओं को सेवाओं का विनिमय किया जाता है।
- **विनिमय** – किसी वस्तु के बदले में किसी दूसरी वस्तु का आदान–प्रदान करना।
- **विनिमय दर** – वह दर जिस पर एक देश की मुद्रा का दूसरे देश की मुद्रा के साथ विनिमय किया जाता है।
- **टकसाल** – टकसाल उस कारखाने को कहते हैं जहां देश की सरकार द्वारा या उसके दिए गए अधिकारों से मुद्राओं का निर्माण होता है।

- **क्रय शक्ति समता सिद्धांत** – यह अंतर्राष्ट्रीय विनिमय का एक सिद्धांत है जिसके अनुसार विभिन्न देशों में एक समान वस्तुओं की कीमत समान रहती है।
- **अवमूल्यन** – अवमूल्यन का अर्थ देश की मुद्रा के बाह्य मूल्य को कम करना है।
- **स्वर्णमान** – किसी देश की मुद्रा जब स्वर्ण में परिवर्तनशील होती है अथवा मुद्रा के मूल्य को स्वर्ण में मापा जाता है तो इस मौद्रिक अवस्था को स्वर्णमान कहते हैं।

5.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. भारत किन–किन वस्तुओं का आयात व निर्यात करता है?
2. अंबारी आयात और गैर अंबारी आयात से आप क्या समझते हैं?
3. विदेशी विनिमय दर को स्पष्ट कीजिए।
4. विदेशी मुद्रा की मांग किन व्यक्तियों या संस्थाओं द्वारा की जाती है?
5. स्वर्ण आयात बिंदु से क्या तात्पर्य है?
6. विनिमय दर में परिवर्तन को किस प्रकार ज्ञात किया जाता है?
7. उच्चत स्वर्ण बिंदु किसे कहते हैं?
8. क्रय शक्ति समता सिद्धांत के आधार पर विनिमय दर की उच्चावन की सीमाएं स्पष्ट कीजिए।
9. अवमूल्यन एवं अधिमूल्यन से आप क्या समझते हैं?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. विदेशी व्यापार नीति की विशेषताओं का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. भारत में विदेशी व्यापार की दिशा का वर्णन कीजिए।
3. विदेशी विनिमय दर से क्या तातपर्य है? विदेशी विनिमय दर का निर्धारण किस प्रकार होता है?
4. विनिमय दर को प्रभावित करने वाले कारकों का वर्णन कीजिए।
5. स्वर्णमान में विनिमय दर का निर्धारण किस प्रकार होता है? विनिमय दरों में उच्चावन की क्या सीमाएं हैं?
6. विनिमय की टकसाल समता दर से आप क्या समझते हैं? इसमें स्वर्ण बिंदुओं का क्या महत्व है?
7. क्रय शक्ति समता सिद्धांत की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
8. अवमूल्यन तथा अधिमूल्यन का विदेशी व्यापार पर पड़ने वाले प्रभाव को समझाइए।

टिप्पणी

5.10 सहायक पाठ्य सामग्री

Tyagi, B. P. 1975. *Public Finance*. Meerut: Jai Prakash Nath and Co.

Sundaram and Sundaram. 1995. *Public Finance*. New Delhi: Sultan Chand & Sons.

Huge Dalton. 2013. *Principles of Public Finance*. New Delhi: Routledge.

Houghton, E. W. 1998. *Public Finance*. Baltimore: Penguin.

Gupta, S. B. 1994. *Monetary Economics*. New Delhi: S.Chand & Company.